ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रवचन सुधा

भाग – 7

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित प्रवचनसार परमागम
पर हुए परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती
प्रवचनों का शब्दशः हिन्दी अनुवाद
(गाथा 172 से 183 तक)

अनुवादक
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ - भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति : 1000 प्रति

न्यौछावर राशि : 25 रुपये

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर-364001
  फोन : (0278) 423207 / 2151005
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुम्बई) :** (022) 26161591
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (033) 24752697
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद):(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़
vivekapal78@gmail.com

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15-सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीज इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं – प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि – तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है – वह यहाँ कहते हैं। अत: यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी ? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों के उद्धार के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार 'पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती

गुरुदेवश्री की वाणी भगवान का विरह भुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निष्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। इस सप्तम भाग में कुल 20 प्रवचन हैं। जिसमें गाथा-172 से 183 तक का समावेश होता है। ये गाथाएँ ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार शीर्षक के अन्तर्गत ली गयी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय में सरलता रहे, तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1-4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरशः सलामत रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तद्र्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अतः इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरशः लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते-सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ

में प्रवचन नम्बर 183-A, 183-B, 183-C में आवाज अस्पष्ट होने से अमुक वाक्य स्पष्ट समझ में न आने से वहाँ .... करके खाली स्थान छोड़ दिया गया है। इसका पाठक विशेष ध्यान रखें। पूर्णरूप से प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग-7 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुनः सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्ततः इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें - ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

दानदाताओं की लिस्ट हेतु

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
१	१७२	१७२, १७३, १७४, १७५,	१
		१७६, १७७, १७८, १७९	
		१८०, १८१, १८२, १८३,	
२	१७३	१८३ A	१७४
३	१७४	१८३ A, १८३ B	१८१
४	१७५	१८३ B, १८३ C	२१५
५	१७६	१८३ C, १८३ D	२३३
६	१७७	१८३ D	२४६
७	१७८	१८३ E	२५८
८	१७९	१८३ E	२६५
९	१८०	१८३ F	२७९
१०	१८१	१८३ F, १८३ G	२८६
११	१८२	१८३ G	३०८
१२	१८३	१८३ H	३२१

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

प्रवचन सुधा

(प्रवचनसार प्रवचन)

भाग - ७

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन

ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार

गाथा - १७२

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्या-वेदयति-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२।।

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।१७२।।

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभाव-

स्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनम-रसत्वरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्ग-ग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गला-जीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति। अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्ग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथा हि - न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। न लिंगादिन्द्रिय-गम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रिय-प्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य। न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बन-ज्ञानाभावस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य। न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य। न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य। न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य। न लिंगात् मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधान-मात्रत्वाभावस्य। न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्ध-साधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। न लिंगाना धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य। न लिंगं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य।।१७२।।

एवं पुद्गलस्कन्धानां बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयास्थले गाथापञ्चकं गतम्। इति `अपदेसो परमाणू' इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कंधभेदभिन्नपुद्गलानां पिण्डनिष्पत्तिव्याख्यान मुख्यतया द्वितीयविशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अथैकोनविंशतिगाथापर्यन्तं जीवस्य पुद्गलेन सह बन्ध-मुख्यतया व्याख्यानं करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति। तेष्वादौ `अरसमरूवं' इत्यादि शुद्धजीव-व्याख्यानेन गाथैका, `मुत्तो रूवादि' इत्यादि पूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनंतरं भावबंधमुख्यत्वेन `उवओगमओ' इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ परस्परं द्वयोः पुद्गलयोः बन्धो, जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो, जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविध बन्धमुख्यत्वेन `फासेहि पोग्गलाणं' इत्यादि सूत्रद्वयम्। ततः परं निश्चयेन द्रव्यबंधकारणत्वाद्रागादि-परिणाम एव बंध इति कथनमुख्यतया `रत्तो बंधदि' इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन

`भणिदा पुढवी' इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनंतरं जीवो रागादिपरिणामानामेव कर्ता, न च द्रव्य कर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन `कुव्वं सहावमादा' इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासंभवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवमेकोनविंशतिगाथा-भिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा - अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिपर-द्रव्येभ्यो भिन्तमन्यद्रव्यासाधारणं स्वस्वरूपमिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति - **अरसमरूवमगंधं** रसरूप-गंधरहितत्वात्तथा चाध्याहार्यमाणास्पर्शरूपत्वाच्च **अव्वत्तं** अव्यक्तत्वात् **असद्दं** अशब्दत्वात् **अलिंगग्गहणं** अलिङ्गग्रहणत्वात् **अणिद्दिट्ठसंठाणं** अनिर्दिष्टसंस्थानत्वाच्च **जाण जीवं** जानिही जीवम्। अरसमरूपमगंधस्पर्शम-व्यक्तमशब्दमलिङ्गग्रहणमनिर्दिष्टसंस्थानलक्षणं च हे शिष्य, जीवं जीवद्रव्यं जानीहि। पुनरपि कथंभूतम्। **चेदणागुणं** समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्नः समस्तान्यद्रव्यासाधारणः स्वकीयानंतजीवजातिसाधारणश्च चेतनागुणो यस्य तं चेतनागुणं च। अलिङ्गग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तत्किमर्थमिति वेत्, बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम्। तथा हि - लिङ्गमिन्द्रियं तेनार्थानां ग्रहणं परिच्छेदनं न करोति तेनालिङ्गग्रहणो भवति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवातीन्द्रिया-खण्डनज्ञानसहितत्वात्। तेनैव लिङ्गशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवानां यस्य ग्रहणं परिच्छेदन कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते। तदपि कस्मात्। निर्विकारातीन्द्रिय स्वसंवेदन-प्रत्यक्षज्ञानगम्यत्वात्। लिङ्गं धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थनां ग्रहणं न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वयमेवालिङ्गोद्भावतीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तैनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणां यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कर्तुं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्यत्वात्। अथवा लिङ्गं चिह्नं लाञ्छनं शिखाडटाधारणादि तेनार्थानां ग्रहण परिच्छेदन न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वाभाविका-चिह्नोद्भावतीन्द्रियज्ञानसहितत्वात्। तेनैव चिह्नोद्भवज्ञानेन परपुरुषाणं यस्यात्मनो ग्रहणं परिज्ञानं कृर्तं नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति। तदपि कस्मात्। स्वाभाविकचिह्नोद्भवातीन्द्रिय-ज्ञानसहितत्वात्। तदपि कस्मात्। निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानगम्यत्वादिति एवमनलिङ्गग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूपं ज्ञातव्यमित्यभ्रियायः।।१७२।।

तब फिर जीव का, शरीरादि सर्व परद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं —

जीव चेतनागुण, शब्द रस रूप गन्ध व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिङ्ग से॥

अन्वयार्थ : [जीवम्] जीव को **[अरसम्]** अरस, **[अरूपम्]** अरूप **[अगंधम्]** अगंध, **[अव्यक्तम्]** अव्यक्त, **[चेतनागुणम्]** चेतनागुणयुक्त, **[अशब्दम्]** अशब्द,

[अलिंगग्रहणम्] अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और **[अनिर्दिष्ट -संस्थानम्]** जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है, ऐसा **[जानीहि]** जानो।

टीका : आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (२) रूप-गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (३) गन्धगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से, तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस, रूप, गन्ध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और (७) सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से, आत्मा को पुद्गलद्रव्य से विभाग का साधनभूत (१) अरसपना, (२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना, (५) अशब्दपना, (६) अलिंगग्राह्यपना, और (७) असंस्थानपना है। पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीवद्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है; और वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ, आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिए है। वह इस प्रकार है – (१) ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (४) दूसरों के द्वारा – मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण

नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (६) जिसके लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (७) जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (८) जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, जो कहीं से नहीं लाया जाता - ऐसे ज्ञानवाला है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (९) जिसके लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंग-ग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१०) जिसे लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, विषयों का उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१४) लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१५) लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला - लोकव्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

(१६) जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है (१७) लिंगों का अर्थात् धर्म चिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थ ज्ञान) जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्याय, ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा, द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है ॥१७२॥

प्रवचन नं. १७२ — आषाढ़ शुक्ल १०, शुक्रवार, १८ जुलाई १९७५

तब फिर जीव का, शरीरादि सर्व परद्रव्यों से विभाग का साधनभूत,... पर से भिन्न (करने का) भेदज्ञान का कारणभूत **असाधारण स्वलक्षण क्या है,...** आहा...हा...! 'भेदज्ञान वह ज्ञान है, बाकी बुरो अज्ञान, धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तू मान।' आहा...हा...! पर से भेद करने का आत्मा में साधन क्या है? कहते हैं। आहा...हा...! शरीर मैं नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं; उनका कर्ता नहीं, प्रयोजक नहीं, अनुमोदक नहीं, कारण नहीं; तब अब पर से भेद करने का साधन क्या? आहा...हा...! समझ में आया? चैतन्य का लक्षण क्या? आहा...हा...!

जीव का, शरीरादि... सब लिया न? शरीर, वाणी, मन, कर्म (आदि) **परद्रव्यों से विभाग का...** भिन्न करने का **असाधारण स्वलक्षण क्या है,...** यह पूछते हैं। उसे (उत्तर) कहते हैं। **किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति** है न? उसे उत्तर दिया जाता है। (प्रवचनसार की) गाथा १७२

अपने प्रकाशित हो गयी है। अलिंगग्रहण (प्रवचन) की पुस्तक प्रकाशित हुई है, नहीं? भाई ने प्रकाशित की थी। 'बाँकानेर!' इन्होंने पुस्तक प्रकाशित की थी। 'सद्‌गुरु प्रवचन प्रसाद' प्रकाशित करते थे न? इन्हें बहुत रस था।

अरसमरूवमगधं यह गाथा तो समयसार में है, पंचास्तिकाय में है, नियमसार में है, प्रवचनसार चलता है, इसमें भी है। इन चार में है (तथा) अष्टपाहुड़ में है। जितने कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पाँच शास्त्र हैं, उनमें यह है। (परमागम मन्दिर में) पाँचों उत्कीर्ण हो गये हैं, पाँचों में पाँच बार गाथा आयी होगी।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२।।

वजन यहाँ है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, जान भाई! आहा...हा...!

जीव चेतनागुण, शब्द रस रूप गन्ध व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिङ्ग से॥

अन्त में यह लेंगे। **पुद्‌गल तथा अपुद्‌गल...** अर्थात् धर्मास्ति इत्यादि। **समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है...** आहा...हा...! अन्तिम लाईन है। विभाग का साधन तो कहा था न? ज्ञान साधन है। आहा...हा...! पर से भेदज्ञान (करना), इसमें ज्ञान साधन है और यह ज्ञान, वह ज्ञान है। 'भेदज्ञान वह ज्ञान है, बाकी बुरो अज्ञान' .... आहा...हा...! 'धर्मदास क्षुल्लक कहे, हेमराज तू मान।' (यह) सम्यग्ज्ञान दीपिका में है। सम्यग्ज्ञान दीपिका! ओहो...हो...! दिगम्बर सन्त, दिगम्बर श्रावक भी परम सत्य को परिणमित हुए! एक धारावाही बात है। वहाँ (समयसार में भी) कहा है न? **भेदविज्ञानतः सिद्धा** – अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसा कहा न? यहाँ कहा – भेदविज्ञान, वह ज्ञान है। राग और शरीर से भगवान आत्मा को भिन्न अनुभव करना। आहा...हा...! तथा परमागम का सार भी यह है। शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति, यह इसका (सार है।) ऐसे वीतरागता तात्पर्य कहा, परन्तु उसका अर्थ यह हुआ न? पर की अपेक्षा छोड़कर अपने आत्मा को जानना, अनुभव करना – यह समस्त परमागम का सार है; चारों अनुयोगों के कथन में यह सार कहना है। यह यहाँ सार कहते हैं।

आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से। **रूप-गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** समस्त अन्य द्रव्यों से विभाग का साधन चेतनागुण है। आहा...हा...! 'रस नहीं है ज्ञान...' सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में ग्यारह बोल आते हैं न? 'शास्त्र नहीं है ज्ञान क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।' आहा...हा...! लो! पहला कहे - शास्त्र से ज्ञान नहीं होता? शास्त्र कुछ जानता नहीं, वह तो जड़ वाणी है। आहा...हा...! जाननेवाला तो भगवान आत्मा है। यह जाननेवाला कैसे कहना? कि स्वसन्मुख होकर अपना भेदज्ञान किया, उसे जाननेवाला कहा जाता है। समझ में आया?

गन्धगुण के अभावरूप स्वभाववाला... गन्धगुण के अभावरूप स्वभाववाला **होने से...** चेतनगुणमयपना है। **स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** अव्यक्त लेना है न? **स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** चेतनागुणमयपना है। आहा...हा...! **शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** शब्द की पर्याय के स्वभाव का जीव में अभाव है।

इन सबके कारण (अर्थात् रस, रूप, गन्ध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण)... अभावरूप, ऐसा। **लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से...** ऐसा। पहले संक्षिप्त करेंगे। **सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** इस शरीर के आकार-संस्थान है न? उनके अभावस्वभाववाला होने से **आत्मा को पुद्गलद्रव्य से विभाग का साधनभूत...** (अर्थात्) पुद्गलद्रव्य से भिन्न करने का साधनभूत।

(१) **अरसपना,...** रस गुण के अभावस्वरूप होने से अरसपना है - ऐसा (कहना है।) ऊपर यह कहा न? **रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अरसपना...** (है) - ऐसा यहाँ लेना। आ...हा...! **(२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना, (५) अशब्दपना, (६) अलिंगग्राह्यपना,...** आहा...हा...! पहले इन सब में मिलाया **और (७) असंस्थानपना है।**

मुमुक्षु - आप पढ़ गये, इसका अर्थ कुछ नहीं किया।

पूज्य गुरुदेवश्री - किया न यह? किया न अर्थ! **रसगुण के अभावरूप**

स्वभाववाला होने से,... अरसपना... है – ऐसा कहा न? **रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अरसपना...** है। **रूप-गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अरूपपना...** है। **गन्धगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अगंधपना,...** है। **स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अव्यक्तपना,...** है और **शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... अशब्दपना...** है। अन्त में लिया – अलिंगग्राह्य है – ऐसा कहा न? **लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से... अलिंगग्राह्यपना,...** है। ऐसे इसके साथ यह सब मेल है।

पर के लिंग द्वारा-चिह्न द्वारा किसी प्रकार यह पकड़ में आये – ऐसा है ही नहीं; इस कारण अलिंगग्राह्यपना है; और संस्थान इसमें नहीं है, इससे असंस्थापना है। लो! इसके साथ रखा न? पूर्व के साथ में इन शब्दों में रखा। रसगुण के अभावस्वभाववाला होने से आत्मा में अरसपना है, ऐसा। समझ में आया? यह सब तो बहुत बार पढ़ा जा चुका है। नया आता है न अभी? कल कहा था न?

पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से... लो! पुद्गल की व्याख्या की; ऐसे धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। **समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो...** आहा...हा...! **चेतनागुणमयपना है;...** पहला तो ऐसा कहा। रसगुण क्यों उठाया? कि आत्मा के आनन्दरस से यह रसगुण भिन्न है। वहाँ से शुरु किया है। आहा...हा...! वरना तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श लेते हैं। भगवान आनन्द का रस है, प्रभु! इस रसगुण से रहित उसमें अरसपना है। यह रसगुणवाला जो है, उससे आत्मा में अरसपना है और आत्मा के चेतनगुण के आनन्द का रसपना है। आहा...हा...! समझ में आया? यह खट्टा, मीठा, चरपरा स्वाद है न? रस! इस रसगुण के अभाव स्वभावस्वरूप अरसपना है। यह रस है, इससे भिन्न अरसपना है।

मुमुक्षु – पुद्गल के रस से चेतन का रस अलग।

पूज्य गुरुदेवश्री – आहा...हा...! अरसपना है – ऐसा कहा।

इसी तरह अरूपपना है, अगन्धपना है, अव्यक्तपना है। अव्यक्त के अभी भिन्न बोल लेंगे। यहाँ साधारण व्याख्या (की है)। स्पर्श के साथ अव्यक्त को मिलाया है। अव्यक्तपना

है, अलिंगग्राह्यपना है, असंस्थानपना है। वह पुद्गल – रस, गन्ध, वर्ण, शब्द इत्यादि तथा अपुद्गल धर्मास्तिकाय इत्यादि। **ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से...** समस्त अजीव पदार्थों से **विभाग का साधन...** (अर्थात्) भिन्न पड़ने का साधन... आहा...हा...! **चेतनागुणमयपना है;...** चेतनागुणमयपना है। चेतनागुणवाला है – ऐसा भी नहीं कहा। चेतनागुणवाला है – (ऐसा कहे) तो भेद पड़ जाता है। चेतनागुणमयपना है। आहा...हा...!

यह तो स्व और पर को जानने का चेतनागुणमयपना आत्मा है। आहा...हा...! भेदज्ञान और पर से विभाग करने का साधन चेतनागुण है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – चेतनामयपना.........

पूज्य गुरुदेवश्री – अभेद कहा, कहा न? चेतनागुणवाला नहीं, चेतनागुणमय अभेद है। यह लक्षण हुआ न? लक्षणमय वस्तु है। पूरी चीज उसमय है न? यह वस्तु ही पूरी उसरूप है। चेतनागुणमयपना है। आहा...हा...! पूरी चीज ही चेतना-जानने गुणमयपने (स्वरूप) आत्मा है। पर के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संस्थान और अलिंगग्रहण (स्वरूप है।) दूसरे से ग्राह्य न हो – ऐसा यह अरसपना, अवर्ण, अगन्ध आदि है, परन्तु पर से भेद करने का साधन चेतनागुणमयपना है। जानने के स्वभाववाला तत्त्व है, उसे पर्याय में भले चेतनागुणमयपना त्रिकाल है, परन्तु पर से भिन्न करने की पर्याय जो है, उस चेतनागुणमय आत्मा है – ऐसी जो पर्याय है, वह भिन्न करने का साधन है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – लक्षण और लक्ष्य का भेद नहीं रहना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह सब वही है। लक्षण तो लक्ष्य को बतलाता है न? वह सब अभेद है। यह लक्षण और लक्ष्य, इतना भेद भी कहाँ है? आहा...हा...!

चेतनामय भगवान है। ऐसा तो कहा (कि) रसगुण के स्वभाव से अभावस्वरूप है। **रसगुण के...** ऐसा कहा न? **अभावरूप स्वभाववाला...** वह है। रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला है, ऐसा। तब उसका स्वभाव क्या? इसके (अजीव के) गुण के अभावरूप स्वभाववाला है – ऐसा कहा। आहा...हा...! इन **अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है;...** आहा...हा...!

अब उस लक्षण को कहते हैं, देखो! **और वही, मात्र स्व जीवद्रव्याश्रित होने**

से... देखा ? अपना स्वद्रव्य-जीव-आश्रित स्वद्रव्य। कौन ? चेतनागुणमयपना। **मात्र स्वजीव-द्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ....** देखो ! आहा...हा... ! स्वलक्षणपना धारण करता हुआ, **आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (-भेद) सिद्ध करता है।** बहुत बात (ऊँची आयी।) अलिंगग्रहण के बोल तो अब बाद में आयेंगे, परन्तु उसके पहले भी यह बात (रखी है।) **'अरसमरूवमगंधं'** पाँच पहले से लिये है न ? **'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं'** वहाँ 'जान' आया न ? यह चेतनमय है, इसे जान। यह पर पुद्गल से भिन्न है। पर पुद्गल के अभाव स्वभाववाला। रूप, रस, गन्ध आदि के अभावस्वभाववाला यह तत्त्व है और चेतनागुण के सद्भाव स्वभाववाला यह तत्त्व है - ऐसा कहा। समझ में आया ?

वह चेतनागुणमयपना **वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित...** अब द्रव्य रखा, परन्तु यह जानता कौन है ? पर्याय। चेतनागुणमयपना पर के अभाव-स्वभाववाला, अपने गुणस्वभाववाला - ऐसा जो स्वद्रव्य। उसका आश्रय स्वद्रव्य है। उसका धारक। ऐसा निर्णय करती है, पर्याय। आहा...हा... ! समझ में आया ? **वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ,...** कौन ? चेतनागुणमयपना। **आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।...** आहा...हा... ! चेतनागुणमयपना स्वद्रव्याश्रित होने से, उस स्वलक्षण को धारण करता हुआ, आत्मा को शेष अन्य द्रव्यों से भेदपने, भेदज्ञानपने, भिन्नपने साधता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह धीरे-धीरे तो सब चलता है। यहाँ लोहे के व्यापार (जैसा) व्यापार नहीं है कहीं। यहाँ तो पार (होने की) ही बात है। आहा...हा... !

कहा न ? भाषा कैसी ली है ? कि रसगुण.... सीधे रस से शुरु किया है। आत्मा का जो चैतन्यरस है, चैतन्यमय जो आत्मरस है, उस भाववाला वह तत्त्व है और इस रसगुण के अभाव स्वभाववाला है। अभाव स्वभाववाला है और आनन्द के रस के सद्भाव स्वभाववाला तत्त्व है। 'जीवद्रव्य जानीहि' - ऐसा है न अन्दर ? 'जान' शब्द पड़ा है न ? ऐसे जीव को तू जीवद्रव्य जान - ऐसा आचार्य महाराज का आदेश है।

जो जड़ के गुणों के अभाव (स्वभावपने है।) यहाँ तो पहले गुण (लिये) हैं न ?

जड़ के गुणों के अभाव स्वभाववाला चेतनागुणमयवाला है। जड़ के गुण के अभाव स्वभाववाला, यह चेतना के गुण के भाव स्वभाववाला जीवद्रव्य है। आहा...हा...! भाषा समझ में आती है? जड़ से भिन्न – ऐसा नहीं लिया। जड़ के जो गुण हैं, उन गुणों के अभाव स्वभाववाला, यह (जीवद्रव्य है।) आहा...हा...! तब (कहते हैं कि) चेतनागुणवाला जो कि स्वद्रव्य के आश्रित है, उसे तू जान। आहा...हा...! समझ में आया?

जड़ से अभावस्वभावरूप पहले न उठाकर, जड़ के गुणों के अभावस्वभाववाला है – ऐसा उठाया है, क्योंकि उसका अपना गुण लेना है न? समझ में आया? रसगुण के अभावस्वभाववाला है। वह चेतनागुण के सद्भाववाला है, कि जो चेतनागुण, स्वद्रव्य के आश्रित है। आहा...हा...! समझ में आया है? जड़ के जो गुण हैं, उनके अभावस्वभाववाला है। कौन? आत्मा। जीव लेना है न? 'जीवम्' – ऐसा शब्द है न? जीव कैसा है? कि जड़ के गुणों से शुरु किया है, जड़ से नहीं; उसके गुणों के अभावस्वभाववाला, वह जीव, चेतनागुण के स्वभाववाला है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! उसे तू जीव जान!

विशेष आयेगा।

प्रवचन नं. १७३ श्रावण कृष्ण १५, बुधवार, २२ अगस्त १९७९

प्रवचनसार, १७२ गाथा। अन्तिम १७१ गाथा यह है न? कि आत्मा, शरीर नहीं है। आत्मा शरीर नहीं है। है? शरीर, आत्मा नहीं है तो आत्मा है क्या? ऐसा प्रश्न है।

मुमुक्षु – गुजराती में।

पूज्य गुरुदेवश्री – १७१ गाथा में ऐसा कहा कि पाँच शरीरों से आत्मा भिन्न है। पाँच शरीर हैं न? औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस (और) कार्माण से यह भगवान आत्मा भिन्न है। तब शिष्य का प्रश्न है कि **तब फिर जीव का, शरीरादि सर्व परद्रव्यों से विभाग का साधनभूत,...** भिन्न करने का कारणभूत **असाधारण स्वलक्षण क्या है,...** आहा...हा...! भगवान आत्मा को परद्रव्य और रागादि से भिन्न बतलाने का स्वलक्षण साधन क्या है? किस साधन से आत्मा जानने में आवे? आहा...हा...! सर्व परद्रव्यों से, हाँ! शरीर, रागादि सर्व परद्रव्य। आहा...हा...! विभाग अर्थात् भेद करना; विभाग अर्थात्

भिन्न करना, उसका साधनभूत असाधारण (अर्थात्) जो लक्षण उसमें ही होवे और दूसरे में नहीं, वह लक्षण क्या है ? – ऐसा जो प्रश्न किया, उसका उत्तर कहते हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२।।

जीव चेतनागुण, शब्द रस रूप गन्ध व्यक्तिविहीन है।
निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिङ्ग से॥

टीका – आत्मा (१) रसगुण...... देखो! पहला रस लिया है, क्योंकि आत्मरस, इस (पुद्गल के) रसगुण से भिन्न है, वरना वैसे तो वर्ण, गन्ध, रस (ऐसा) लेना चाहिए। क्रम में यह है परन्तु यहाँ पहले यह उठाया है। क्या कहा ? **आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** जड़ का जो रस है, उस रसगुण के अभाव स्वभाववाला जीव है। आहा...हा... ! जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का रस भरा है! वहाँ से बात शुरु की है। वर्ण, गन्ध से (बात) नहीं ली है। आहा...हा... ! **रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** एक बात! अलिंगग्रहण है। इस रस से पकड़ा नहीं जा सकता। जड़ के रस से आत्मा जाना नहीं जा सकता। आहा...हा... ! **रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** एक बात (हुई।)

(२) रूप-गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... फिर रूप लिया। समझ में आता है ? रूपगुण के अभाव स्वभाववाला होने से.... आहा...हा... ! शरीर के जो जड़ के रूप हैं.... आहा...हा... ! उस रूपगुण के स्वभाव का भगवान में अभाव है। आहा...हा... ! सुन्दर शरीर लगे, वाणी सुन्दर और यह सब सुन्दर (लगे)। धूल भी सुन्दर नहीं है। यह हीरा चमकता है (होता है।) (एक मुमुक्षु भाई) लाये थे। (कहते थे) – यह दस हजार का है। बारीक-बारीक होता है। मैंने कहा – इसकी कीमत क्या ? बहुत प्रकाश करे, इसलिए लोग इसकी कीमत गिनते हैं.... परन्तु कहते हैं कि इस रूपगुण का स्वभाव जीव में नहीं है। आहा...हा... ! इस कारण यह पर से भिन्न है। आहा...हा... ! जगत के जितने रूप बाहर से दिखते हैं... आहा...हा... ! उस **रूप-गुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** अलिंगग्रहण है – ऐसा कहना है। इस कारण पर से ग्राह्य हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

(३) गन्धगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... आहा...हा... ! गन्धगुण (अर्थात्) जो नाक द्वारा ज्ञात होता है – ऐसे गन्धगुण के अभाव स्वभाववाला है। आहा...हा... ! पाँच इन्द्रियों के विषय रूप, गन्ध आदि हैं, उनसे भगवान भिन्न हैं। आहा...हा... !

(४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... आहा...हा... ! देखा ? स्पर्शगुण की प्रगटता के अभावस्वरूप। आहा...हा... ! ऐसा लिया है। दूसरों के अभावस्वरूप कहा, यहाँ व्यक्तता के अभावरूप (कहा।) इतना शब्द बदला। (स्पर्श) जो प्रगट है, उससे भगवान भिन्न है। आहा...हा... ! जिसे आत्मा जानना हो, उसे स्पर्श की जितनी व्यक्तता – प्रगट दिखती है, उससे प्रभु भिन्न है। आहा...हा... ! मक्खन जैसा शरीर लगे, हाथ मक्खन जैसे लगते हैं न ? स्पर्श करे तो (मक्खन जैसे लगते हैं।) यह तो सब स्पर्शगुण जड़ है, मिट्टी है। हाथ की रेखा ऐसी सुन्दर लगती है न ? वह स्पर्श जड़ है, मिट्टी है, धूल है। इस स्पर्शगुण का भगवान में अभाव है। आहा...हा... !

आत्मा, परद्रव्य का तो स्पर्श करता नहीं, परन्तु इस शरीर में जो जड़ का स्पर्शगुण है, उसे भी स्पर्श नहीं करता। आहा...हा... ! यह **स्पर्शगुणरूप व्यक्तता...** स्पर्श का प्रगटपना दिखे, सुहावना, भारीपन (आदि) स्पर्शगुण आठ प्रकार से है न ? आ...हा... ! ठण्डा, गर्म – यह स्पर्श है। आहा...हा... !

(५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... रस, रूप, गन्ध और स्पर्श (– ये) सभी गुण थे। अब शब्द (है, वह) गुण नहीं। शब्द, वह पर्याय है। यह अधिकार अपने आनेवाला है। शब्द, पर्याय है; वह गुण नहीं। बहुत शब्दों की अन्दर ध्वनि उठी, वह पर्याय है। आहा...हा... ! **शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से,...** शब्द की पर्याय के अभाव स्वभाववाला होने से वह पुद्गल से भिन्न है। आहा...हा... !

यह ज्ञान से जानता है, इन्द्रिय से नहीं। बात कठिन है। ये इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। ये जानने में निमित्त हैं अर्थात् ? यह जाननेवाला तो ज्ञान है। (इन्द्रियाँ) निमित्त हैं अर्थात् इससे नहीं। निमित्त का अर्थ, इससे नहीं। आहा...हा... ! भगवान ज्ञानमूर्ति पाँच इन्द्रिय के विषयों को जानता है, वह इन्द्रियों से नहीं। आहा...हा... ! यह विषय आयेगा।

(५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से, तथा (६) इन

सबके कारण (अर्थात् रस, रूप, गन्ध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से... इस बाह्य के लिंग द्वारा भगवान अग्राह्य है। आहा...हा...! यह (शरीर) तो मिट्टी-धूल है। इन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्द से वह ज्ञात हो – ऐसा नहीं है, क्योंकि इसमें वे हैं नहीं। आहा...हा...! ऐसा कठिन काम!

चैतन्य भगवान अन्दर (विराजता है।) यहाँ कहा न? **इन सबके कारण से...** रस, रूप, गन्ध इत्यादि के अभावस्वरूप (होने के कारण) **लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से...** इन बाह्य के लिंग अर्थात् चिह्न द्वारा अग्राह्य है (अर्थात्) पकड़ नहीं सकते। आहा...हा...!

सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से,... संस्थान (अर्थात्) आकार। जड़ के आकार छह प्रकार के हैं न? उन **सर्व संस्थानों के अभावरूप...** आहा...हा...! **स्वभाववाला होने से, आत्मा को पुद्‍गलद्रव्य से...** आत्मा को पुद्‍गलद्रव्य से **विभाग का साधनभूत...** अब कहते हैं। (पहले यह) नहीं, नहीं कहा न? आत्मा को पुद्‍गलद्रव्य से भिन्नपने के साधनभूत (१) **अरसपना....** यह अरसपना है। रसपना नहीं, अरसपना। आहा...हा...! भगवान (में) अरसपना है। चैतन्य आत्मा (में) अरसपना है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

सम्यग्दर्शन में आत्मा इन पाँच प्रकार के रस से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है; पाँच प्रकार के वर्ण के रंग से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आठ प्रकार के स्पर्श हैं, उनसे ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। यह कहकर क्या कहते हैं? कितनों को अन्दर ऐसा हो जाता है कि आँखें मूँदे न, तो ऐसे प्रकाश दिखता है! वह प्रकाश तो जड़ है। उस प्रकाश से आत्मा ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आँखें मूँदे न, इसलिए उसमें जरा जोर होता है न? (इसलिए) प्रकाश दिखता है। वह प्रकाश चैतन्य का है – ऐसा अज्ञानी मानता है। आहा...हा...! वह तो रूपी है, जड़ है, भाई! आहा...हा...! आँखें मूँदे और जोर पड़े न तो प्रकाश.... प्रकाश लगे, परन्तु वह प्रकाश है, (जो) ज्ञात होता है, वह प्रकाश तो जड़ है। आहा...हा....! उस प्रकाश से भी (आत्मा) पकड़ में आये – ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आत्मा को पुद्‍गलद्रव्य से विभाग का साधनभूत (१) अरसपना,... वहाँ

रस का अभाव स्वभाव कहा था न? अब अस्ति से लिया। **(१) अरसपना, (२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना,...** स्पर्श में व्यक्त लिया था न? (इसलिए यहाँ अव्यक्त लिया है।) अव्यक्त के छह बोल में ऐसा लिया है। अव्यक्त के छह बोल नहीं? उसमें जयसेनाचार्यदेव ने अव्यक्त लिया है। आहा...हा...! **(५) अशब्दपना, (६) अलिंगग्राह्यपना,...** आ...हा...! ऐसे लिंग से नहीं ग्रह्या ऐसा **(७) असंस्थानपना...** आहा...हा...!

पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीवद्रव्यों से... देखो! यह तो पुद्गल कहा तथा अपुद्गल ऐसे धर्मास्ति आदि से **समस्त अजीवद्रव्यों से...** आहा...हा...! पहले पुद्गल की बात की। पुद्गल के किसी साधन से आत्मा ज्ञात हो – ऐसा प्रभु नहीं है। आहा...हा...! **तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीवद्रव्यों से विभाग का साधन...** (अर्थात्) भेद का साधन। आहा...हा...! **तो चेतनागुणमयपना है;...** चेतनागुणमयपना है। जानन... जानन... जानन... चेतनागुणमयपना है। पर से ज्ञात न हो, संस्थान से ज्ञात न हो तथा पुद्गल के अतिरिक्त दूसरी अपुद्गल चीज से भी ज्ञात न हो। आहा...हा...! भिन्नपने का साधन तो चेतनागुणमयपना है। आहा...हा...!

ऐसा कहकर क्या कहते हैं? कि कोई ऐसा कहे कि अन्दर दया, दान, व्रत के राग से वह (आत्मा) ज्ञात होता है – तो कहते हैं कि वह दया, दान के राग से भी भिन्न चेतनपने से ज्ञात हो वैसा है। आहा...हा...! समझ में आया? राग की मन्दता (रूप) शुभ उपयोग करें... परन्तु शुभ उपयोग तो राग है। राग उसका स्वरूप नहीं है। राग से तो (आत्मा) भिन्न है। वह चेतना द्वारा, जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... जानन... ऐसी चेतना द्वारा (ज्ञात हो ऐसा है।) यह अपने आ गया है। चेतना और चेतना का परिणमन उपयोग – यह आ गया है। आहा...हा...!

चेतन की शाश्वत चेतना और चेतना का परिणमन वर्तमान उपयोग, यह इसका लक्षण है। आहा...हा...! और यह आत्मा जाने बिना सब व्यर्थ है। इसका क्रियाकाण्ड कर-करके मर जाये (तो भी धर्म नहीं होता)। व्रत पाले, उपवास करे, भगवान की पूजा भक्ति दो चार घण्टे करे... कहते हैं कि वह जड़ की क्रिया है, प्रभु! वह राग की क्रिया से

भी जानने में नहीं आता। आहा...हा...! ऐसी बात है और यह जानने के ज्ञान बिना - आत्मज्ञान के बिना (सब व्यर्थ है)। आत्मज्ञान हुआ न? पर्याय का भी ज्ञान नहीं, गुण का भी ज्ञान नहीं। आहा...हा...!

चेतना गुणमय-चेतना गुणमयपना है, आहा...हा...! चेतनामयपना भगवान! इस लक्षण द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। यह उसका लक्षण है। आहा...हा...! राग की क्रिया से — दया, दान, व्रत, भक्ति और प्रत्याख्यान से ज्ञात हो, ऐसा वह स्वभाव नहीं है।

दूसरी (एक) अपेक्षा यह है कि राग उसकी उत्पाद (पर्याय में) है। उसका लक्ष्य द्रव्य है, ऐसा जानने के लिये बात है। यह पंचास्तिकाय में आता है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् - उत्पाद में रागादि भी उसका लक्षण है। वह किस अपेक्षा से है? राग इसकी पर्याय में है, वह द्रव्य से भिन्न है - ऐसा जानने के लिये; प्रभु तो राग की पर्याय से भिन्न है। आहा...हा...!

चेतनागुण की बात निकाली थी, तब (यह) बात कही थी। राग से बिल्कुल ज्ञात नहीं होता। राग-विकल्प, अचेतन-जड़ है-अजीव है। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है। वह तो भगवान चेतनगुण द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। उस गुण का लक्ष्य द्रव्य है। आहा...हा...! ऐसी बात है। मूल प्रयोजन तो यह है। लाख बात की (यह एक मूल) बात है। किसी भी प्रकार से जीव का ज्ञान करे... ज्ञान करके फिर जानना तो आत्मा है या नहीं? उसका जाननेवाला आत्मा है न? आहा...हा...!

पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीवद्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है;... आहा...हा...! यह करना है। कोई भी बात सुने (परन्तु) अन्तर में चैतन्यपरिणाम से द्रव्य को पकड़ना। आहा...हा...! ज्ञान में परिणति द्वारा उस द्रव्य को (पकड़ना)। परिणति का वहाँ झुकान करना, क्योंकि वह उसका लक्षण है। आहा...हा...! अभी तो सब गड़बड़-गड़बड़ चलती है। व्रत करो और उपवास करो... भाई! तेरा नाथ अन्दर भिन्न है। चैतन्यमूर्ति प्रकाश का पुंज। आहा...हा...! इस (बाहर के) प्रकाश से चैतन्य का प्रकाश भिन्न है। इस चैतन्यप्रकाश की परिणति द्वारा चेतन पकड़ में आये, ऐसा है। आहा...हा...! ऐसा है बापू!

यह अलिंगग्रहण है। आहा...हा...! **और वही,...** वही (कहा) अर्थात्

चेतनागुणमयपना वही साधन है। **वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से...** वह चेतनागुणमयपना स्वद्रव्यजीव के आश्रित होने से। गुण है न? गुण है, वह द्रव्य के आश्रय से है; गुण को गुण का आश्रय नहीं है। आहा...हा...! **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** यह उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र का सिद्धान्त है। **द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः** चेतनागुण जीव द्रव्य के आश्रय से है; चेतनागुण राग और पर के आश्रय से नहीं। आहा...हा...! चेतनागुणमयपना, वह विभाग करने का (साधन है)। पुद्गल और अजीव से विभाग करने का साधन तो यह है। विभाग करने का साधन शुभराग, व्यवहाररत्नत्रय का राग (आवे), वह साधन नहीं है, कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय का कथन है, वह राग है (और) राग है, वह विकार है। वह चेतना का लक्षण नहीं है, वह तो विकार है। आहा...हा...! उसमें चेतना का अभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम जो राग है, उनमें चेतना का अभाव है। आहा...हा...! राग के अभावस्वभावस्वरूप चेतनागुण है। आहा...हा...! ऐसी बात है, बापू! सभी बातें जानकर करना तो यह है। आहा...हा...!

वही, मात्र स्वजीवद्रव्य... देखा? स्वजीवद्रव्य (कहा है)। उसके आश्रित होने से **स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ,...** यह चेतनागुण, स्वलक्षणपना धारण करता हुआ **आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।** आत्मा को शेष अन्य द्रव्यों से पृथकता सिद्ध करता है। आहा...हा...!

श्रीमद् में आता है न? ***'एकाकी विचरूँगा जब शमशान में, गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब। अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो, '...*** शरीर तो भले स्थिर रहे, वह अडोल आसन है परन्तु अन्दर मन में क्षोभ नहीं, आहा...हा...! ***'अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो, जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।'*** बाघ और सिंह के संयोग के काल में यह देह मेरा नहीं और देह लेने आया है, वह मानो हमारा मित्र है! आहा...हा...!

यह चेतनागुण द्वारा ज्ञात हो – ऐसा है। शरीर तो मेरा नहीं और... इसे, सिंह आया, वह ले जाये तो भले ले जाये। वह तो मेरा मित्र है। मेरा नहीं, वह ले जाता है। श्रीमद् में भावना भायी है, देखो! चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर! आहा...हा...! बाघ और सिंह के झुण्ड आकर (नोंचता है)। आहा...हा...!

निःशंक गुण आता है न? वह निःशंक कहो या निर्भय कहो, दोनों एक ही है।

उसका अर्थ ऐसा है निर्भय! बाह्य का परीषह और उपसर्ग मुझे स्पर्श नहीं करता, नहीं छूता; मैं तो चैतन्यमूर्ति हूँ! देह छूटने के काल में आँतड़ियाँ... आहा...हा...!

(संवत् १९७६) की बात है धांग्रधा! १९७६ की साल में धांग्रधा गये थे.......... * ऐसी बात है, भाई! १९७६ की बात है, कितने वर्ष हुए? ५९! इतने लोग! तीन-तीन हजार लोग।

यहाँ कहते हैं, वह चेतनागुण तो जीवद्रव्य के आश्रय से है। आहा...हा...! **मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित...** वापिस भाषा (ऐसी ली है)। अकेला जीवद्रव्य नहीं लिया। मात्र जीवद्रव्याश्रित! आहा...हा...! चेतना किसी मन के आश्रित है, मन के आधार से जानती है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! चेतना से आत्मा को जानने के लिये चेतना को बाह्य मन का आधार है या राग है (– ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! यह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहा...हा...! ऐसी बात है। लोगस्स तो किया होगा न? भाई! लोगस्स किया था? नहीं किया। सीधे इसमें आ गये हैं।

मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित... ओ...हो...! **होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ,...** आत्मा का स्वलक्षणपना चेतना धारण करता हुआ। **आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।** आहा...हा...! भगवान आत्मा का शरीर, वाणी, मन, कर्म, और राग से भिन्नपना, चेतना साधती है। आहा...हा...! अरे...! यह बात हाथ न आवे, सुनने को न मिले, सुनने को मिले तो यह करो... मर गया कर-करके! भक्ति करो और पूजा करो और दया, दान, व्रत, तथा यात्रा करो... यह तो राग है।

यहाँ तो कहते हैं कि पर से विभाग करने का साधन, चेतना द्वारा विभाग करे, वह इसका स्वलक्षण है। आहा...हा...! भाई! कहाँ इसमें कुछ है? व्यर्थ ही झपट्टे मारकर मर जानेवाला है। आहा...हा...!.......

यह भगवान आत्मा चेतना द्वारा (ज्ञात हो ऐसा है), चेतना स्वजीवद्रव्याश्रित होने से दूसरों से विभाग करने का वह एक ही (साधन है)। **स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ,...** आहा...हा...! भाई! चेतना स्वलक्षणपना धारण करता हुआ, चेतना द्वारा द्रव्य

* आवाज अस्पष्ट होने से कुछ अंश छोड़ा गया है।

लक्ष्य में आता है। आहा...हा...! चेतना द्वारा भगवान दृष्टि में आता है। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो मुद्दे की रकम है। **आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।** चेतनापना स्वलक्षणपना जीव द्रव्याश्रित होने से आत्मा को शेष अन्य द्रव्यों से भिन्न करता है। आहा...हा...!

अब आचार्य महाराज कहते हैं, **जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है....** अलिंगग्रहण क्यों कहा? समझ में आया? **जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है, वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिए है।** कहा गया है। क्या कहा? कि मूल तो अलिंगग्रहण अर्थात् अलिंगग्राह्य। पर से ग्राह्य नहीं, राग नहीं, मन से (ग्राह्य) नहीं, ऐसा कहना है। अत: अलिंगग्राह्य शब्द न रखकर अलिंग-ग्रहण क्यों कहा? कि भाई! इसमें बहुत अर्थ हैं। अलिंगग्रहण में तो बहुत अर्थ हैं। भले अलिंगग्रहण ऐसे छह अक्षर हैं परन्तु उसमें से अर्थ तो बहुत उठते हैं, बीस तो उठते ही हैं, कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? मूल बात है, यह मुद्दे की बात है। आहा...हा...!

प्रभु अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि यह कहने का आशय तो इसमें ऐसा चाहिए कि अलिंगग्राह्य अर्थात् लिंग द्वारा-राग द्वारा, पर द्वारा, ग्राह्य नहीं हो सकता। कहना तो यह है, तथापि यह शब्द न रखकर अलिंगग्रहण क्यों कहा? तो कहते हैं कि अलिंगग्रहण में से बहुत अर्थ उठते हैं, इसलिए अलिंगग्रहण कहा है। एक ही पर से ग्राह्य नहीं, इतना एक ही अर्थ नहीं परन्तु अलिंगग्रहण अर्थात् इसमें से बहुत अर्थों की प्राप्ति होती है। आहा...हा...! आचार्यों की शैली!

अलिंगग्राह्य ऐसा कहना है। शरीर से, रूप से, रस से, गन्ध से राग से ज्ञात हो - ऐसा नहीं, यह कहना है। तथापि अलिंगग्राह्य न कहकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अलिंगग्रहण (कहा है)। ग्राह्य न कहकर, अलिंगग्रहण - ऐसा क्यों कहा? तो कहते हैं कि (इसमें से) बहुत अर्थ प्रतिपत्ति (होते हैं)। बहुत भावों की प्राप्ति-प्रतिपादन करने के लिए है। आहा...हा...! एक ही अलिंगग्रहण (शब्द में) तो बहुत अर्थ प्राप्त हों ऐसा है। आहा...हा...! गजब बातें भाई! समझ में आया?

आचार्य महाराज कहते हैं कि कहने का तो यह आशय है कि यह भगवान आत्मा

रूप, रस, गन्ध, शब्द, विकल्प से पकड़ में आये, ऐसा नहीं है–ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, यह कहना है। अत: यह शब्द प्रयोग न करके अलिंगग्रहण क्यों कहा ? कि अलिंगग्रहण में तो बहुत अर्थ निकलते हैं। एक ही पर से (मिलाना) नहीं, इसके प्रकार कितने ? आहा...हा... ! यह बहुत अर्थों की प्राप्ति होने के लिए कुन्दकुन्दाचार्य महाराज, अलिंगग्राह्य न कहकर अलिंगग्रहण (शब्द प्रयोग करते हैं) । भाषा तो देखो ! आहा...हा... ! एक शब्द में कितना अन्तर डाला !! समझ में आया ?

अलिंगग्रहण कहना है। भगवान दूसरे किसी चिह्न से ज्ञात हो, वैसा नहीं है; वह तो चेतना द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। ऐसा एक ही भाव कहना है तो भी अलिंगग्रहण शब्द क्यों प्रयोग किया ? आहा...हा... ! देखो ! यह टीकाकार तो देखो ! अलिंगग्रहण में से अनेक अर्थ निकलते हैं, बहुत भाव निकलते हैं; इसलिए अलिंगग्रहण शब्द प्रयोग किया है। (शब्द) हैं छह — अ–लिं–ग–ग्र–ह–ण ! यह अलिंग क्यों कहा ? अलिंगग्रहण क्यों कहा ? अलिंगग्राह्य कहना है। पर से पकड़ में आये ऐसा नहीं है, प्रभु ! ऐसा कहना है। फिर भी प्रभु ने–कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अलिंगग्रहण शब्द क्यों प्रयोग किया ? आहा...हा... ! (क्योंकि) अलिंगग्रहण कहने से उसमें से बहुत अर्थ निकलते हैं। आहा...हा... ! है ?

'अलिंगग्राह्य' कहना है.... कहना तो यह है कि पर से पकड़ा नहीं जा सकता, तथापि अलिंगग्रहण शब्द ऐसा कहा, वह अलिंगग्रहण में से बहुत अर्थ, भाव निकलते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए, उसका कथन करने के लिए यह अलिंगग्रहण शब्द प्रयोग किया है। आहा...हा... ! गाय और भैंस के थन में दूध होता है न ? दूध ! वह दूध निकालनेवाला, दूध है, उसे दबाकर ऐसे निकालता है, ऐसे नहीं निकालता। गड्ढा पड़ जाये, ऐसे नहीं निकालता, ऐसे निकालता है। देखा है ? यह तो हमारी बहिन थी न ? गारियाधार ! सत्तर वर्ष पहले की बात है। घर में भैंस दूहते थे, यह अंगूठा इस काँख में ऐसे भरे; इसी प्रकार इन शब्दों में तर्क भरकर यह भाव निकाले हैं !! समझ में आया ? यह भाव अन्दर भरे हैं। गाय के, भैंस के थन में दूध भरा है इसी प्रकार इस अलिंगग्रहण में अनेक भाव भरे हैं, उन्हें तर्क द्वारा (बाहर निकालते हैं) । समझ में आया ? बापू ! यह तो अध्यात्म शास्त्र है, यह कोई वार्ता–कथा नहीं। थोड़े शब्दों में महान गम्भीरता भरी है !! **वह इस प्रकार है....** आहा...हा... !

बीस अर्थ निकाले हैं ! अलिंगग्रहण – छह अक्षर में से बीस (अर्थ निकाले हैं) ।

(१) ग्राहक (ज्ञायक).... ग्राहक अर्थात् जाननेवाला ज्ञायक। **जिसके....** भगवान ज्ञायक प्रभु है... आहा...हा... ! **जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता,....** आहा...हा... ! इन इन्द्रियों द्वारा जिसके जानना नहीं होता। यह अलिंगग्रहण का एक अर्थ निकाला है। ऐसे बीस अर्थ हैं !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को जानता है, वह पर को नहीं जानता; पर सम्बन्धी अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है। आहा...हा... ! इन्द्रियाँ तो निमित्त हैं। सिद्धान्त में तो ऐसा कहा है कि छह काय के जीव, वे छह काय के जीव नहीं; जीव तो ज्ञानस्वरूप है, वह जीव है - ऐसा कहा है। पंचास्तिकाय (गाथा १२१) ! छह काय जीव, छह के शरीर के जीव - ऐसा नहीं। वह तो भगवान ज्ञानस्वरूपी चीज है। आहा...हा... !

असंख्य प्रदेशी.... श्रीमद् में आता है न ? ***'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम; बीजु कहिये केटलूं ?*** कर विचार तो पाम' वहाँ तो ऐसा कहा है। हमारी भक्ति करो और दूसरे की भक्ति करो तो पावे, ऐसा वहाँ नहीं कहा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भक्ति परन्तु किसकी भक्ति ? (निज की) भक्ति, भक्ति है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में कहा है न ? स्वभक्ति, वह भक्ति। अन्दर स्व की एकाग्रता (होना), वह भक्ति है। आहा...हा... ! अन्य राग तो पर की भक्ति है। सूक्ष्म बातें हैं। भाई !

इन्द्रियों के द्वारा.... आहा...हा... ! सुनने से आत्मा का ज्ञान होता है - ऐसा नहीं। आँख से देखने का (ज्ञान होता है) भगवान को ऐसे देखे, इससे आत्मा का ज्ञान होता है - ऐसा नहीं। आहा...हा... ! ऐसे भगवान की वाणी - ध्वनि सुने, उस शब्द से आत्मा का ज्ञान होता है - ऐसा नहीं। आहा...हा... ! शब्द को सुनने के समय जो ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, वह शब्द से नहीं; अपनी शक्ति (से उत्पन्न होती है), फिर भी वह ज्ञान, आत्मा का नहीं। क्या कहा ?

भगवान की वाणी सुनते हैं, उस काल में जो ज्ञान की पर्याय होती है, वह वाणी से नहीं, इन्द्रियों से नहीं; इसकी ज्ञान की पर्याय अन्दर में होती है, फिर भी उस ज्ञान की पर्याय

द्वारा आत्मा ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? भाई! ऐसा सूक्ष्म है। वहाँ रुपये–वुपये में फँस गये!

.....उन भाई ने बात नहीं की ? ढाई अरब का नुकसान है! ढाई सौ करोड़! ढाई सौ करोड़ का नुकसान है! लोग मर गये हैं वे तो अलग। आहा...हा...! ढाई सौ करोड़ अर्थात् ढाई अरब! (एक भाई) कहते थे। उस समय वहाँ थे, उनके घर में बाईस फीट पानी आ गया, सामने दरवाजा है तोड़ डाला, इतना पानी! वह पानी तो निमित्त है, वह गिरने का योग था तो गिरा।

यहाँ कहते हैं प्रभु! एक बार सुन! पाँच इन्द्रियों द्वारा आत्मा का जानना नहीं होता। आहा...हा...! यह सुनने से आत्मा का ज्ञान नहीं होता – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! क्योंकि श्रवण है, वह तो जड़ भाषा है और ज्ञान होता है, वह तो स्वयं की पर्याय की उस प्रकार के क्षयोपशम की योग्यता (है, इसलिए होता है) परन्तु वह योग्यता, परलक्ष्यी ज्ञान है। आहा...हा...! परलक्ष्यी ज्ञान में एकाकार रहे, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहा...हा...! गजब बात है! इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान, उससे भी ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! बहुत अच्छा अधिकार है।....

आहा...हा...! पहला अर्थ कहा – **ग्राहक...** अर्थात् जाननेवाला। जाननेवाला भगवान अर्थात् ज्ञायक। ग्राहक शब्द प्रयोग किया है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अलिंगग्रहण (शब्द में से) यह एक अर्थ निकाला। **ग्राहक**–जाननेवाला भगवान चैतन्यचन्द्र! चैतन्यचन्द्र! ज्ञान की शीतलता के स्वभाव से भरपूर भगवान! आहा...हा...! वह, इन्द्रियों से और इन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें ? इन्द्रियों से इसका अर्थ यह है (कि) इन्द्रियों से जो ज्ञात होता है, उससे ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

तुझे चैतन्य के तल का पता लेना हो, प्रभु भगवान अन्दर (विराजमान है)। भँवरे में जैसे भगवान विराजते हैं, वैसे पर्याय में अन्दर भगवान विराजते हैं। आहा...हा...! उस तल का तल (थाह) लेना हो तो ज्ञान की पर्याय से ज्ञात होगा। इस स्वद्रव्य के आश्रय से हुए ज्ञान से ज्ञात होता है; परद्रव्य के आश्रय से हुए ज्ञान से ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...!

एक भाव आया, 'भवि भागन जोग' भव्य के भाग्य के योग से भगवान आपकी

वाणी निकलती है। भव्य के भाग्य का योग है, तब वाणी निकलती है। तुझे वाणी निकालनी कहाँ है ? उन्हें तो वाणी निकलती है। आहा...हा... ! तथापि उस वाणी से जो सुनने में आवे, वह तो इन्द्रियज्ञान है। समझ में आया ? (समयसार की) ३१ गाथा में कहा है न ? **जे इंदिये जिणित्ता** अर्थात् ? इन्द्रिय अर्थात् भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय और इन्द्रियों का विषय - वाणी और भगवान, वह इन्द्रिय का विषय है। इन सबको इन्द्रिय कहा है। आहा...हा... !

अतीन्द्रिय जो भगवान आत्मा, उससे क्षयोपशम की भावेन्द्रिय का भाव, जड़ इन्द्रिय और उनका विषय भगवान की वाणी, देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, इज्जत इन सबको इन्द्रिय कहा है। आहा...हा... ! अरे ! साक्षात् तीन लोक के नाथ को, भगवान अनीन्द्रिय की अपेक्षा से उन्हें इन्द्रिय कहा है - ऐसा भगवान ने कहा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इसलिए वहाँ ऐसा पाठ है - **णाणसहावाधियं मुणदि आदं।** यह तो ज्ञानस्वभाव से अधिक अर्थात् पृथक् और पूरा है। आहा...हा... !

ज्ञानस्वभाव से पर से अधिक अर्थात् पृथक् और पूरा, यह **णाणसहावाधियं** ऐसा शब्द है। ३१ वीं गाथा ! मूल पाठ यह है। आहा...हा... ! ज्ञानस्वभाव होने से पर से पृथक् और पूरा है, उसे ज्ञानस्वभाव से अधिक कहा गया है। आहा...हा... ! पर से तो पृथक्, पर इन्द्रिय कहा (परन्तु यह तो) भावेन्द्रिय से भी पृथक् है। आहा...हा... ! भावेन्द्रिय में जो ज्ञात हुआ है, उससे भी पृथक् ! ....व्याख्या है। यह सत्य की पुकार है !

भगवान ! तू इन्द्रियों से सुनने से तुझे तेरा ज्ञान हो - ऐसा तू नहीं है, ऐसा तू नहीं है। आहा...हा... ! और सुनने से ज्ञान हुआ, वह भी स्वयं से हुआ; वाणी तो निमित्त है। यह स्वयं से ज्ञान हुआ, उससे भी तू ज्ञात हो — ऐसा नहीं है (क्योंकि) वह तो इन्द्रियज्ञान है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं !

ग्राहक (ज्ञायक) जिसके.... अर्थात् आत्मा, **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता,....** आहा...हा... ! भगवान आत्मा को इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। इन्द्रियों द्वारा जो जानना होता है, वह आत्मा नहीं। अरे... ! ऐसी बातें हैं। समझ में आया ? **वह अलिंगग्रहण है;....** इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के निमित्त और इन्द्रियों से हुआ ज्ञान, इन सबसे भगवान ज्ञात हो — ऐसा नहीं है। इसलिए **वह**

अलिंगग्रहण है;.... इसलिए वह लिंग से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। लिंग अर्थात् इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और भावेन्द्रिय, इन तीनों से ज्ञात नहीं होता – ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया?

इस प्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है'.... आहा...हा...! भगवान तो अतीन्द्रिय ज्ञान पर्यायमय है, वह अतीन्द्रियज्ञान की जो पर्याय (होती है) उससे ज्ञात हो ऐसा है। **इस अर्थ की....** अलिंगग्रहण में ऐसा अर्थ निकलता है। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं (कि) कुन्दकुन्दाचार्यदेव के अलिंगग्रहण (शब्द में) पहला बोल ऐसा निकलता है।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १७४ **श्रावण शुक्ल १, गुरुवार, २३ अगस्त १९७९**

(प्रवचनसार गाथा १७२) (पहले बोल में) **जिसके....** (शब्द है) दूसरे बोल में **जिसका....** – ऐसा आयेगा। दोनों में अन्तर है। **जिसके....** अर्थात् ज्ञायकभाव भगवान आत्मा को **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता,....** उसे इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता, वह तो अतीन्द्रिय से जाननेवाला है। आहा...हा...! समझ में आया?

जिसके.... अर्थात् आत्मा को–ज्ञायकभाव को, **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता,....** जिसके–भगवान ज्ञायक के इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता; वह तो अतीन्द्रिय (ज्ञान) से जाननेवाला है। आहा...हा...! ऐसा उसका स्वरूप है। अरे...! एक बोल (भी) कैसा है! 'जिसके' था, अब 'जिसका' कहते हैं। जिसका अर्थात् आत्मा का जानपना कैसे हो? आहा...हा...! जिसके अर्थात् आत्मा के इन्द्रियों से जानना नहीं होता। एक बात!

अब जिसका **(ज्ञात होने योग्य)** ऐसे जिसका **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता....** आत्मा इन्द्रियों द्वारा पकड़ में नहीं आता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसके इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता, जिसका इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता – दोनों में अन्तर पड़ा? आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञायकभाव के

इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। आहा...हा... ! वह तो अतीन्द्रिय (ज्ञान) से जाननेवाला है। पर को भी अतीन्द्रिय से जाननेवाला है। आहा...हा... ! समझ में आया ? बहुत ऊँची चीज है। यह तो सादी गुजराती (भाषा) है। समझ में आये ऐसा है। आहा...हा... !

(ज्ञात होने योग्य) जिसका... (जिसका) अर्थात् ज्ञात होने योग्य आत्मा, उसका – ऐसा। पहले तो जानने योग्य का (ऐसा था), जानना इन्द्रियों से नहीं होता। आहा...हा... ! अरे... ! लोगों को कहाँ पड़ी है ? इस चीज को समझे बिना, सम्यग्दर्शन हुए बिना इसके सब क्रियाकाण्ड संसार खाते भटकने के हैं। आहा...हा... ! **(ज्ञात होने योग्य) जिसका...** जाननेवाला इन्द्रियों से नहीं जानता। अब जाननेवाला–जिसे जानना है, वह इन्द्रियों से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

(ज्ञात होने योग्य) जिसका... ज्ञात होने योग्य ऐसे भगवान आत्मा का **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता....** आहा...हा... ! ज्ञात होने योग्य ऐसा आत्मा, इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता। आहा...हा... ! पहले में (ऐसा आया कि) इन्द्रियों द्वारा जानता नहीं। अब कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा स्वयं ज्ञात नहीं होता। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू ! अलौकिक बात है !

प्रवचनसार ! तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि ! परमात्मा महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी यह वाणी है। आहा...हा... ! कुन्दकुन्दाचार्यदेव सन्देश लाये (कि) प्रभु ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! यह तो सादी भाषा है। आहा... !

ग्राह्य... (पहले बोल में) **ग्राहक...** था। ग्राहक (अर्थात्) जाननेवाले को इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता, इतना (लेना)। अब जिसका – ज्ञात होने योग्य ऐसा भगवान आत्मा, वह इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता। आहा...हा... ! वह तो अतीन्द्रिय (ज्ञान) द्वारा ज्ञात हो ऐसा है, स्वयं, हाँ ! अतीन्द्रिय से पर को जाननेवाला है; अतीन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा स्वयं है। आहा...हा... ! यह (शरीर) तो मिट्टी है; बाकी बाहर के साथ सम्बन्ध क्या है ? पाँच इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध क्या ? वे तो जड़ हैं। श्वेताम्बर में ऐसा बहुत आता है कि निमित्त से होता है, निमित्त से (होता है)। प्रभु ! निमित्त से क्या होता है ? निमित्त हो; (किन्तु) कार्य होता है, वह निमित्त से नहीं होता।

स्वयं को जिसे जानना है, जिसका जानना हुआ (होता) है, उसे इन्द्रियों द्वारा

जानना नहीं होता। ज्ञात होने योग्य ऐसा भगवान आत्मा... आहा...हा...! इन्द्रियों द्वारा ज्ञात होने योग्य नहीं है। आहा...हा...! वह तो अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो ऐसा है। आहा...! सूक्ष्म बात भाई! प्रभु! तू कौन है?

कहते हैं जिसके – ग्राहक–जाननेवाले के इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता, यह पहला बोल (हुआ)। अब **(ज्ञात होने योग्य जिसका)....** आहा...हा...! ज्ञात होने योग्य भगवान आत्मा का, (वह) इन्द्रियों से ज्ञात हो ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इसका अर्थ यह है कि सुनकर ज्ञात हो, ऐसा वह नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! भगवान की वाणी सुने, इसलिए ज्ञात हो (–ऐसा वह नहीं है)। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है। यह मूल मुद्दे की बात है! लोग कहते हैं न? बीस वर्ष से ब्याज दिया, तुमने पाँच लाख दिये थे और आठ आने के रूप में ब्याज से दिये थे, अब मूल रकम तो लाओ!

यह हमारे दामनगर में हुआ था। एक सेठ गाँव का जागीरदार था तो बीस वर्ष से जागीरी खाते थे, सरकार की ओर से (हुक्म) आया कि जिसकी जागीर बीस वर्ष से खाता हो वह जागीरी दे दो, बनिये को उसकी मूल रकम दे दो। जागीर का ब्याज खाते थे। फिर तो 'गायकवाड़' सरकार के पास गये थे (जाकर कहा) साहिब! ऐसे तो बहुत अन्याय होता है (तो सरकार ने कहा) तुम्हारे अकेले के लिये किया है? 'गायकवाड़' सरकार थे 'गायकवाड़' सरकार के पास गये। बड़ा जागीरदार! अपना दशाश्रीमाली बनिया, हाँ! बड़ी जागीर घर में! दस हजार का तो एक गाँव घर में (था)! चालीस हजार की आमदनी तो उस समय चालीस वर्ष पहले (थी) (सरकार ने कहा) ब्याज खाया वह दे दो। मूल रकम है, उसे दे दो। आहा...हा...!

इसी प्रकार यह मूल रकम भगवान है। वह इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इन्द्रियों से जानने का तूने बहुत बार – अनन्त बार किया। आहा...हा...! उसे जानने के लिये इन्द्रिय से जानने का तूने बहुत बार किया परन्तु भगवान, इन्द्रिय से ज्ञात हो ऐसा नहीं है। आहा...हा...! कठिन काम भाई! सम्यग्दृष्टि को अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय से वह ज्ञात हो ऐसा है। आहा...हा...! दया, दान और व्रत–भक्ति के राग के परिणाम से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि वे उसमें हैं नहीं; उसमें नहीं, उनसे ज्ञात हो ऐसा नहीं है। उसमें जो अतीन्द्रियपना

है, उस अतीन्द्रिय से ज्ञात हो ऐसा है। आहा...हा...! अरे...रे! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कब अन्दर प्रयोग करे। आहा...! बाहर की प्रवृत्ति और क्रियाकाण्ड में सारा जीवन व्यतीत किया, भाई! आहा...हा...!

ग्राहक (अर्थात्) जाननेवाला, पर को इन्द्रियों द्वारा जानता नहीं। अब ज्ञात होने योग्य ऐसा भगवान, इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं। आहा...हा...! अकेला अमृत भरा है! अकेले सिद्धान्त-परमार्थभूत तत्त्व भरे हैं! आहा...हा...! यह सिद्धान्त कहलाता है। सिद्ध हुई वस्तु को सिद्धान्त कहते हैं। आहा...हा...! भगवान, इन्द्रियों से ज्ञात हो - ऐसा वह नहीं है। आहा...हा...! है?

ज्ञात होने योग्य अर्थात् **ग्राह्य....** है न? (पहले बोल में) ग्राहक (शब्द) था। (अर्थात्) ज्ञायक कि जिसे लिंगों द्वारा ज्ञान नहीं होता। यह तो ज्ञात होने योग्य जिसका (-ऐसा कहा) आहा...हा...! ज्ञात होने योग्य (जो) इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं, आहा...हा...! है? **इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता....** आहा...हा...! भगवान की वाणी कान में सुनी तो यह कान में सुना, उससे ज्ञात हो - ऐसा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु : आप समझाते हो तो हमारी समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी देर है। समझ में आया इसमें? आहा...हा...! सूक्ष्म चीज है भाई! सुनने से जानने में आता है, यह बात झूठ है - ऐसा कहते हैं। सुनने में आता है — ऐसा जो ज्ञान, वह कोई सुनता है उससे ज्ञान हुआ नहीं है, वह ज्ञान की पर्याय तो स्वयं से हुई है, तथापि उस पर्याय से जीव का जानना नहीं होता, आहा...हा...! समझ में आया? सुनता है और जो ज्ञान की पर्याय होती है, वह सुनने से नहीं हुई - एक बात। परन्तु सुनने के काल में जो ज्ञान स्वयं से हुआ है, उस ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! कहो, ऐसी मीठी बातें हैं।

ग्राह्य... आहा...हा...! गजब टीका है! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने गजब काम किया है! आहा...हा...! (एक) हजार वर्ष पहले प्रभु (विचरते) थे, दिगम्बर सन्त (अर्थात्) पृथ्वी पर चलते सिद्ध! आहा...हा...! अनन्त गुण का पिण्ड ऐसा प्रभु, इन्द्रियों द्वारा ज्ञात

होने योग्य नहीं है। सुनकर ज्ञात होने योग्य नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! शास्त्र का वाँचन करे उससे ज्ञात होने योग्य नहीं है।

प्रश्न : मन के द्वारा विचार करे उससे ज्ञात होता है ?

समाधान : मन के द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। मन है, वह इन्द्रिय का एक भाग है। आहा...हा...!

(ज्ञात होने योग्य) जिसका.... (अर्थात्) भगवान आत्मा का **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता....** आहा...हा...! गजब काम करते हैं न! वस्तु की स्थिति यह है, वस्तु की मर्यादा यह है। आहा...! भगवान की वाणी सुने, शास्त्र पढ़े... यह तो कहा था न? कि सूत्र का अध्ययन करे, वह भी एक उपकरण है। जैसे लिंग-शरीर का नग्नपना एक उपकरण है न? वैसे ही गुरु-वचन और सूत्र-अध्ययन भी पर लिंग – पर उपकरण है; वह स्व नहीं। प्रवचनसार में आया है न? आहा...हा...! नग्नदशा (रूप) लिंग जैसे पररूप उपकरण है, वैसे वीतराग की वाणी का वाँचन करना — सूत्र-अध्ययन (करना)... आहा...हा...! वह भी पर उपकरण है – ऐसी बात! और गुरु का वचन भी पर उपकरण है। आहा...हा...! क्या शैली प्रभु की!! आहा...हा...! और देव-गुरु तथा शास्त्र की विनय, सच्चे गुरु, सच्चे सन्त, सच्चे अरिहन्त, सच्चे शास्त्र की विनय भी बाह्य उपकरण है। आहा...हा...! यह अन्तर का उपकरण नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई! लोगों को तो थोड़ा पढ़कर कुछ जानना हुआ (तो मान लेते हैं) कि मानो ज्ञान हो गया! आहा...हा...!

इन्द्रिय के सम्बन्ध से ग्यारह अंग का ज्ञान किया परन्तु वह ज्ञान नहीं। वह आत्मा का ज्ञान नहीं। इस भगवान आत्मा का ज्ञान तो अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय से ज्ञात हो, ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! आँखें बन्द करके बैठे, इसलिए ज्ञात हो जाये, ऐसा नहीं है –ऐसा कहते हैं। आँखें खुली रखकर देखे या बन्द करके देखे, वह उससे ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है भाई! यह तो प्रभु के घर की धारा है! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव-जिनेश्वरदेव की यह वाणी है। आहा...हा...!

यह बात कही न? श्वेताम्बर में यह बात निकली कि जगत के सर्व प्रदेश से,

लोक-अलोक के प्रदेश से प्रत्येक जीव के अनन्त गुण हैं। यह श्वेताम्बर के दूसरे अध्ययन में निकला है। दिगम्बर तो सनातन है तो इसमें तो कहीं होना चाहिए। हाथ नहीं आता परन्तु इसमें कहीं है। आहा...हा... ! आत्मा में कितने गुण हैं ? यह आकाश जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... (है उसका) कहीं अन्त है ? दसों दिशाओं (का कहीं अन्त है) ? लोक का अन्त फिर लक्ष्य कर कि फिर.... फिर.... फिर.... फिर.... फिर.... दसों दिशाओं में फिर कहीं उसका अन्त नहीं है। आहा...हा... ! उसके जो प्रदेश अनन्त... अनन्त... हैं, उनसे भी एक-एक द्रव्य में अनन्तगुने गुण हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? दो दिन से हाथ नहीं आता था (परन्तु) आज आ गया। कहते हुए यह कहते हैं, कितनी बार कहा है, वह कहीं अद्धर से नहीं कहा। दिगम्बर सच्चे (परन्तु यह) श्वेताम्बर शास्त्र में (निकला) श्वेताम्बर तो नये निकले हैं। यह तो दिगमबर शास्त्र में तो यह बात होगी ही परन्तु अपने को हाथ नहीं आती तो क्या हो ? आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि अनन्त गुण... आकाश के प्रदेश से भी भगवान आत्मा के अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु, इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ये सभी गुण अतीन्द्रिय है; इसलिए उस अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय को अन्तर में झुकाने से उस अतीन्द्रिय पर्याय द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। आहा...हा... ! कठिन काम है, भाई ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोई अलौकिक चीज है ! लोग साधारणरूप से मान बैठे (ऐसी) वह वस्तु नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ ने जो कहा है, वह सन्तों ने स्वयं जाना है, वह जाना हुआ जगत को बतलाते हैं।

प्रभु ! तू कितना है ? कि तू इतना है कि तू इन्द्रिय से जाननेवाला नहीं, इतना है। प्रभु ! तू कितना ज्ञात हो ऐसा है ? कि इन्द्रिय से ज्ञात न हो, इतना बड़ा है। आहा...हा... ! तू कितना है ? कि इन्द्रिय से जानना हो, इतना तू नहीं। तू कितना है ? कि इन्द्रिय से तू ज्ञात हो, इतना नहीं। आहा...हा... ! गजब किया है न ! यह सिद्धान्त कहलाता है ! आहा...हा... ! जो सत्य को प्रसिद्ध करे। प्रभु सत्यस्वरूप ! अनन्त-अनन्त गुण ! आकाश के प्रदेश कितने ? कि अन्त नहीं, प्रभु ! क्या है यह ? इससे अनन्त गुण का पिण्ड ! अनन्त गुण का पुंज भगवान ! आहा...हा... ! वह इन्द्रिय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में

आया ? ऐसी बातें हैं ! अरे ! यह बात कान में कहाँ पड़े ? बापू ! भाग्यशाली को तो कान में पड़े, ऐसी यह वस्तु है। समझे तो फिर... आहा...हा... !

यह पर का ज्ञान भी अतीन्द्रिय से करता है और स्व का ज्ञान भी अतीन्द्रिय से होता है। क्या बात... ! **ग्राहक (ज्ञायक)....** यह ज्ञान का सागर चैतन्य रत्नाकर प्रभु, यह पर को जानने में इन्द्रिय से जानता नहीं। आहा...हा... ! ऐसी वह पराधीन चीज नहीं है। आहा...हा... ! वह गुण का सागर चैतन्य रत्नाकर, इन्द्रिय से ज्ञात होने योग्य नहीं है। आहा...हा... ! तू लाख पुस्तक पढ़ और लाख बार सुन (परन्तु उससे) ज्ञात होने योग्य नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी वस्तु है। अरे... ! उसके एक-एक बोल में अमृत भरा है ! बापा ! आहा...हा... !...

(ज्ञात होने योग्य) ज्ञात होने के योग्य, आहा...हा... ! भगवान ज्ञात होने योग्य है – परन्तु किस प्रकार ? अनीन्द्रिय से ज्ञात होने योग्य है। ज्ञात होने योग्य है, वह अनीन्द्रिय से ज्ञात होने योग्य है; इन्द्रियाँ और इन्द्रिय सम्बन्धी के ज्ञान... आहा...हा... ! उससे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। धारणा की है कि भगवान ऐसा कहते हैं, ऐसा लक्ष्य में लिया परन्तु लक्ष्य में लिया, वह तो परलक्षी ज्ञान है। उससे स्वलक्षी ज्ञान अनीन्द्रिय के अतिरिक्त ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी वस्तु है और उसे जाने बिना सम्यग्दर्शन तथा ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना जितना क्रियाकाण्ड का राग (करे, वह) सब संसार है। आहा...हा... !

यह तो संसार-समुद्र में से छूटने की बातें हैं, प्रभु ! आहा... ! समुद्र यह (संसार) है, यह समुद्र में से छूटने की बात है। आहा...हा... ! चौरासी लाख की योनियों में अवतार-अवतार करके अनन्त अवतार किये... महा समुद्र भरा है। आहा...हा... ! अरे ! द्रव्यलिंग इतनी बार धारण किया कि जिसका बाल का एक टुकड़ा लो तो पूरा मेरु (पर्वत) भर जाये, इतनी बार द्रव्यलिंग धारण किया ! मुनिपने में द्रव्यलिंग ! अट्ठाईस मूलगुण, पाँच महाव्रत (इतनी बार पालन किये)। उसका (एक-एक) बाल (एकत्रित करो तो) अनन्त मेरु भर जायें, इतनी बार तूने द्रव्यलिंग धारण किया परन्तु तूने अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा को जानने का प्रयत्न नहीं किया। आहा...हा... ! शास्त्र से सुना और जाना, इसलिए अपने को जानना और ज्ञान हो गया – ऐसा मान लेता है। समझ में आया ? आहा...हा... !

इस प्रकार 'आत्मा...' अलिंगग्रहण है अर्थात् **'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है'....** इन्द्रियप्रत्यक्ष में भगवान की मूर्ति ज्ञात हो, इन्द्रियप्रत्यक्ष में कान में शब्द सुनायी दें परन्तु इस इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय भगवान (आत्मा) नहीं है। आहा...हा...! अभी जिसके ज्ञान में भी ठिकाना नहीं... आहा...हा...! धारणा ज्ञान में (ठिकाना नहीं)। पर से होता है और इससे होता है और राग से होता है (ऐसा मानता है)। जिसके ज्ञान में – लक्ष्य में अभी यह बात बैठी नहीं... आहा...हा...! वह पर से कैसे हटेगा? पर के राग से और पर की ओर के ज्ञान से वह कैसे हटेगा? आहा...हा...! हटना समझे? पर से हटना। आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा... दिगम्बर सन्त, वे परमात्मा ही हैं! नियमसार में तो कहा है कि अरे...रे! वीतरागी मुनियों और केवलियों में कोई अन्तर माने वह जड़ है – ऐसा कहते हैं। नियमसार में (आता है)। मुनि अर्थात् किसे कहना, बापू! अकेले नग्न होकर घूमे और क्रिया करे, वह कहीं मुनि नहीं। जिसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द उछला है, जिसने अतीन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव किया है, तदुपरान्त जिसे स्वरूप में रमणता जम गयी है – ऐसे वीतरागी सन्त और केवलज्ञान में (जो अन्तर मानता है, वह जड़ है) पहले एक कलश लिया है कि सहज अन्तर है। पहले में ऐसा कहा। फिर कहा कि अन्तर नहीं, हाँ! नियमसार (कलश २५४) कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा कही हुई बात को पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, महा भगवत्स्वरूप हैं, उन्होंने टीका की है और वह टीका करते हुए ऐसा कहा है कि यह टीका करनेवाले हम कौन? गणधरों से इसकी टीका का भाव चला आ रहा है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! परन्तु हमें विकल्प आया करता है कि इसका विशेष स्पष्टीकरण हो, ऐसा (विकल्प) आया करता है, इससे यह टीका बनती है। आहा...हा...! इसमें वे स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव सन्त दिगम्बर मुनि अर्थात्... आहा...हा...! वे तो परमेश्वर हैं! अकेले नग्न और क्रियाकाण्डी नहीं। जिनके अन्तर में वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, जो अतीन्द्रिय आनन्द का झूला झूलते हैं! वह मोरबी में नहीं था? झूलता पुल, वह पुल टूट गया – ऐसा कहते हैं। ऐसे अद्धर झूलता था।

इसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में सातवीं भूमिका (गुणस्थान) आवे, तब अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन विशेष होता है। फिर विकल्प उठे, तब छठवाँ आता है। कोई ऐसा कहता है कि भाई! यह तो अप्रमत्तदशा हो, तब सम्यक्त्व होता है।

यदि अप्रमत्त हो तो उसे अन्तर्मूहूर्त में छठवाँ प्रमत्तपना आना चाहिए। अप्रमत्तपना जिसे आता है, उसे फिर तुरन्त प्रमत्तपना भी आता ही है और प्रमत्तपना आवे, उसे तुरन्त ही अप्रमत्तपना आता है। इसलिए यदि कोई ऐसा कहे कि अभी अप्रमत्तपना नहीं है अर्थात् समकित नहीं है तो वह मुनि ही नहीं है। समझ में आया? वह सम्यग्दृष्टि नहीं। आहा...हा...! कठिन काम बहुत...!

यहाँ तो, इस प्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का (अर्थात्) पाँचों इन्द्रियों से वह प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। वह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है; वह तो अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय का विषय है। आहा...हा...! पामर प्राणी, साधारण माने कि मैं ऐसा... एक राग में लवलीन हो जाये, विषय में, भोग में, इज्जत में (लवलीन हो जाता है)। अर र! प्रभु तुझे क्या हुआ है? उसे यह बात करना! आहा...हा...! जिसे पर का रस चढ़ गया है, उसे स्व का रस कैसे आवे? आहा...हा...! और स्व का रस तो अतीन्द्रिय पर्याय से आवे ऐसा है, वरना आवे, ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की.... अलिंगग्रहण में से **प्राप्ति होती है।** ऐसा अर्थ अतीन्द्रिय ग्रहण में से निकलता है - ऐसा कहते हैं। यह तो पहले कहा था न? शब्द तो कहना है - अलिंगग्राह्य (अर्थात् कि) लिंग द्वारा ग्राह्य नहीं, इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं, इन्द्रिय द्वारा जाने नहीं, कहना यह है, तथापि अलिंगग्रहण क्यों कहा? (क्योंकि) भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को अलिंगग्रहण के बहुत अर्थ कहने हैं; अकेला अलिंगग्रहण एक ही शब्द (कहना है) ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसे तो बीस बोल हैं! अ-लिं-ग-ग्र-ह-ण छह अक्षर हैं। सिद्धान्त हैं भाई! यह सिद्धान्त है।

भगवन्त अन्दर सिद्धस्वरूप है। आहा...हा...! उस सिद्धस्वरूप का ज्ञान, इन्द्रिय से और इन्द्रिय से सुने हुए ज्ञान से नहीं होता। आहा...हा...! आया है न? **इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है'....** आहा...हा...! वह तो अनीन्द्रियदशा का प्रत्यक्ष विषय है। आहा...हा...! समझ में आये उतना समझना, भाई! यह तो चैतन्यरत्न का समुद्र है! दिगम्बर धर्म अर्थात् आत्मधर्म। आहा...हा...! दो बोल हुए। इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं — ऐसे अलिंगग्रहण में से यह अर्थ निकलता है। ऐसा अर्थ अर्थात् भाव! यह भाव उसमें से निकलता है।

शब्दों में कहीं भाव नहीं परन्तु शब्दों में कहने का जो भाव है, वह यह है। आहा...हा...! समझ में आया?

तीसरा बोल — **जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है,....** यह धुँआ है तो वहाँ अग्नि है – ऐसा जानना होता है। अनुमान करते हैं न? भले ही अग्नि दिखायी न दे; परन्तु घर में से धुंआँ निकलता है, इसलिए वहाँ अग्नि है। पहले छप्पर के मकान थे न? तो अन्दर छप्पर में से धुंआँ निकलता था, तब जाननेवाले को जानने में आता है कि यहाँ कुछ पकता है और वहाँ अग्नि है। यह धुंएँ के द्वारा... धुंआँ समझते हो? धुंआँ... धुंआँ द्वारा अग्नि का जानना होता है। ग्रहण अर्थात् अग्नि का जानना होता है। आहा...हा...! ग्रहण अर्थात् अग्नि को पकड़ता है – ऐसा नहीं है। धुंआँ द्वारा अग्नि पकड़ में आती है – ऐसा नहीं है; अग्नि का जानना होता है। आहा...हा...! अरे... अरे...!

तीसरा शब्द आया न? पहले ग्राहक (आया फिर) ग्राह्य (आया) और यहाँ ग्रहण (आया है) तीन शब्द प्रयोग किये हैं। पहले ग्राहक (अर्थात्) ज्ञायक; ग्राह्य (अर्थात्) ज्ञात होने योग्य... आहा...हा...! फिर ग्रहण। यह तो परमात्मा की वाणी, बापू! लोगों को अभी बाहर का ठिकाना नहीं लगता और यह बात (समझना कठिन पड़ती है)। ऐसे के ऐसे जिन्दगी पूरी करके चले जायेंगे। आहा...हा...!

बाहर की किंचित क्रिया करे तो उसे ऐसा माने कि... आहा...हा...! अभी देखो न यह मोरबी का (हुआ उसके लिये) चारों ओर चन्दा होता है। वहाँ वह सामने हो (और) भाषण करे, उसे ऐसा लगता है कि अपन तो... आहा...हा...! कैसा काम करते हैं! आहा...हा...! आत्मा, पर को राहत नहीं दे सकता... पर की पर्याय हो, वहाँ दूसरा उसे मदद करे – ऐसा है कहाँ? आहा...हा...! कठिन काम, जगत से बहुत उल्टा, बापू! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं **धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है,....** ग्रहण अर्थात् जानना होता है। **उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा....** आहा...हा...! इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसे चिह्न द्वारा-निशान द्वारा... आहा...हा...! **जिसका ग्रहण (जानना) नहीं होता....** अनुमान से, इन्द्रिय से ज्ञात हो – ऐसा यह आत्मा नहीं है। आहा...हा...! जैसे धुंआँ है, वहाँ अग्नि है; वैसे यह राग है, वहाँ आत्मा है – ऐसा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहा...हा...! राग करनेवाला है और राग इसकी

पर्याय में है; इसलिए राग से ज्ञात होता है – ऐसा यह नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात! यह तो मूल आत्मा की पहली बात चलती है।

(जैसे) धुंएँ के द्वारा अग्नि का जानना होता है; वैसे लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य चिह्न... (अर्थात् कि) यह कुछ ऐसा किया है और यह ऐसा है और ध्यान में है और... इस बाहर के चिह्न द्वारा वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आँख बन्द करके बैठा है; इसलिए जानने के ध्यान में बैठा है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इन्द्रियगम्य चिह्न द्वारा वह ज्ञात होने योग्य नहीं है। आहा...हा...!

वैसे तो एक शास्त्र पाठ है कि यह जीव अभव्य है या भव्य? ऐसा पाठ है तो उसका एक साधारण (अर्थ) किया है कि यह दक्षिणी है या काठियावाडी है? ऐसा...। परन्तु एक में तो ऐसा कहा है कि यह भव्य है या अभव्य? आहा...हा...! परन्तु उसे जाननेवाला जीव, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वैसा ज्ञात होता है। आहा...हा...! और उसके द्वारा वह निर्णय करता है कि यह तो भव्य मोक्षमार्गी है। आहा...हा...! समझ में आया? उसके ज्ञान में परवस्तु में सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान है, चारित्र है, ऐसा यहाँ ज्ञान होता है। (ऐसा) कहते हैं। ऐसी अतीन्द्रियज्ञान की सामर्थ्य है... आहा...हा...! कि यह भव्य है – ऐसा निर्णय कर सकता है।

भव्य है, यह तो एक ओर रखो परन्तु यह मोक्षमार्ग में है; इसलिए भव्य है – ऐसा निर्णय कर सकता है। आहा...हा...! इसकी ताकत की बातें क्या करना? आहा...हा...! पर का ज्ञान भी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा (करता है)। आहा...हा...! थोड़ा भी बापू! परम सत्य तो यह है, बाकी सब बड़ी-बड़ी बातें! ऐसा किया और यह किया... साधु को आहार देने से ऐसा होता है.... अरे! परन्तु अभी साधु है कौन? उसका तो पता नहीं।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका शास्त्र में तो ऐसा आता है कि जिसने साधु को आहार दिया, उसने मोक्ष दिया – ऐसा आता है। आहा...हा...! उसके मोक्ष के साधन में इसका आहारपना निमित्त है। निमित्त है, हाँ! निमित्त का अर्थ, वह कोई मोक्षमार्ग को करता नहीं; (यदि करे) तो निमित्त कहलाये कैसे? आहा...हा...! परन्तु देनेवाले का लक्ष्य सम्यग्दृष्टिसहित है... आहा...हा...! उसे आहार देने के समय ख्याल में है कि यह पूर्णानन्द के नाथ को साधते हैं, उसके ज्ञान में अतीन्द्रियज्ञान से इनकी वीतरागता का ख्याल आ गया है। इसलिए कहते हैं कि इन्हें आहार दिया, उसने मोक्ष दिया – ऐसा कहते हैं। आहार

देने का तो विकल्प है। आहा...हा...! परन्तु ज्ञान में उनकी जो वीतरागता है, वह तैरती है; इस कारण वीतरागता को पोषण करने के लिये निमित्त आहार है – ऐसा कहकर, उसने मोक्ष दिया कहा। (मोक्ष) किसी से दिया जाता होगा? आहा...हा...! इस नय का कथन है? – यह अपेक्षा न समझे और एक ही पकड़े – यह लिखा! सब लिखा है, सुन न!

यहाँ तो कहते हैं कि इन्द्रिय से, उसके चिह्न जो जाने कि यह मुनि है और यह वीतरागी है, यह इन्द्रिय के अनुमान से जान सकता है – ऐसा वह जाननेवाला है ही नहीं। आहा...हा...! ऐसी बात है भाई! अरे! मन्दिर बनाया, लो न! दस लाख, बीस लाख खर्च करके (मन्दिर बनाया), उसका चिह्न ज्ञात हुआ कि इसका भाव है, परन्तु इस इन्द्रिय से पकड़ा, इसलिए उसे जानने में आवे कि यह वीतरागी सन्त है (ऐसा नहीं) आहा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान से स्वयं ज्ञात हुआ तो पर का (ज्ञान) भी इसे अतीन्द्रियज्ञान में स्व-पर प्रकाशकपना (होने से) योग्य (प्रमाण) आ जाता है – ऐसा कहते हैं। क्या कहा समझ में आया? आहा...हा...! जिसका ज्ञान स्वयं अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात हुआ, ऐसी जो पर्याय में स्व-पर प्रकाशकपना-यथार्थपना है, इस कारण पर कौन है? – ऐसा उसके ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। आहा...हा...! अद्भुत बात!

यह तो अभी तो ऐसा कहते हैं कि निश्चय समकित है, यह किसे पता पड़े? यह भगवान जाने! अर...र! और वह आर्यिका है, वह तो यहाँ तक लिखती है... बड़े पैसे खर्च कराती है न? पच्चीस-पच्चीस लाख! दिल्ली में! हस्तिनापुर में बड़ा मेरुपर्वत बनाया, मेरु क्या मानस्तम्भ (बनाया)। वह तो ऐसा कहती है कि हम-तुम भव्य हैं या अभव्य हैं? काललब्धि पकी है या नहीं पकी? – यह सर्वज्ञ जानते हैं, अपने को पता नहीं पड़ता! अर...र...! अभी लेख आया है। अज्ञान का बहुत क्षयोपशम है, और बाहर में प्रसिद्धि (हो गयी) दुनिया को भान कहाँ है? बाड़ा में पड़े, वे वेष देखकर बातें करें कि आहा...हा...!

एक ओर ऐसा कहते हैं कि मैं ज्ञायक हूँ, सबका जाननेवाला हूँ; एक ओर कहते हैं कि मैं भव्य हूँ या अभव्य? – यह मुझे पता नहीं पड़ता, भगवान को पता पड़ता है!! आहा...हा...! अरे प्रभु! तू कहाँ है? (यह) क्या है? वहाँ पकड़ा गया। अभी, मैं भव्य हूँ या अभव्य – इसकी शंका! अर...र! यह सर्वज्ञ जाने (ऐसा) आया है, समाचार-पत्र आया है। बाहर में बहुत महिमा (आती है कि) हस्तिनापुर में हजारों लोग एकत्रित हुए, आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, इन्द्रिय के चिह्न से – अनुमान से, आत्मा है – ऐसा नहीं जाना जा सकता। समझ में आया ? पर को और स्वयं को इन्द्रिय के चिह्नों से इन्द्रिय में चिह्न ज्ञात हो कि आहा...हा... ! ध्यान में बैठा है और यह आँखें बन्द हैं, इसलिए इन इन्द्रियों के चिह्नों से वह ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। वैसे उसका आत्मा भी इन्द्रिय से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। इन्द्रिय के चिह्न से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

भाई ! यह तो भव के अन्त की बातें हैं, यह कहीं साधारण बात नहीं है। आहा...हा... ! भगवान होने की बात है, भाई ! और भगवानस्वरूप ही तू है ! यह भगवानस्वरूप इन्द्रिय से तो ज्ञात नहीं हो परन्तु इन्द्रिय के चिह्न से उसका अनुमान करके ज्ञात हो – ऐसा भी नहीं है। इन्द्रिय के निशान से अनुमान करके ज्ञात हो (–ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! अरे ! ऐसा तीन लोक का नाथ, अतीन्द्रिय पर्याय से ज्ञात हो; इन्द्रिय से ज्ञात न हो और इन्द्रिय के चिह्न से भी ज्ञात न हो। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो मक्खन की बातें हैं ! वीतराग के पेट की बातें हैं, बापू ! अरे... अभी तो सुनने को नहीं मिलती, पूरे दिन बस, यह किया और यह किया और यह किया.... आहा...हा... ! शुभभाव करो (–ऐसा कहते हैं)।

एक जगह साधु थे, (उन्होंने ऐसा) कहा – शुभभाव की जय हो, विजय हो ! शुभभाव की विजय हो ! लोग ऐसा कहते हैं, उसने क्या खोटा किया ? शुभभाव की विजय हो, (अर्थात्) राग की विजय हो... आहा...हा... ! ऐसी बात सुनी है, आयी है। शुभभाव की क्रिया में जोड़नेवाले हजारों लोग दिखते हैं। दस-दस हजार लोग एकत्रित होते हैं और उसमें यह सब दिखता है कि ओ...हो...हो... ! कितने लोग सुनते हैं ! कितनी बातें करते हैं कि सबको अच्छी लगती है ! जनरंजन ! ऐसे चिह्न – इन्द्रिय के अनुमान से तू देखने जा, इन्द्रिय के चिह्न से (तू देखने जा तो) उसको भी सच्चा ज्ञान नहीं होगा और तुझे भी सच्चा (ज्ञान) नहीं होगा। आहा...हा... ! है ?

धुंएँ से अग्नि का.... जानना होता है। **उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य द्वारा....** इन्द्रियगम्य द्वारा अर्थात् ? **(इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा....** ऐसा। इन्द्रियगम्य का अर्थ यह (कि) इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न। इन्द्रिय से ज्ञात हो कि यह ऐसा बैठा है और ऐसा है और वैसा है... समझ में आया ? आहा...हा... ! जिसका इन्द्रिय के चिह्न द्वारा जिसका। अर्थात् आत्मा का जानना नहीं होता। इन्द्रिय से तो नहीं होता

परन्तु इन्द्रिय के चिह्न इन्द्रिय जाने, निशान से भी उसका ज्ञान नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया? ओहो...हो...! क्या अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अमृत बहाया है! आहा....हा...! गजब बात है! परम सत्य है!!

क्या कहा? इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य चिह्न – निशान, उससे जिसे जानना नहीं होता। आहा...हा...! जिसे अर्थात् भगवान को – आत्मा को। आहा...हा...! वह **अलिंगग्रहण है...** यह तीसरा अर्थ निकला। अलिंगग्रहण का अभी तीसरा (अर्थ) निकला। **इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है'....** आहा...हा...! **'इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है'....** (अर्थात्) इन्द्रियप्रत्यक्ष से अनुमान करे कि यह ऐसा है और वैसा है (-ऐसा) उसका विषय नहीं है, बापू! आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक'.... इन्द्रिय के प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का वह विषय नहीं है। आहा...हा...! अगम्य गम्य की बातें हैं सब! गम्य है परन्तु अगम्य गम्य है!

प्रश्न : गम्य हो सकता है न?

समाधान : हो सकता है! आहा...हा...! यह तो अभी प्रथम सम्यग्दर्शन और ज्ञान की बात है, चारित्र तो बापू, अभी कहीं (दूर है)।

यह कहा न? (एक साधु के) दस पत्र आये हैं, १८-१९ वर्ष की दिगम्बर दीक्षा झालना में (ली है) बहुत वर्ष पहले पत्र आया था, अन्तिम आया (उसमें ऐसा लिखा था कि) महाराज! स्वामीजी! यह तुमने ऐसा कहाँ से निकाला? (अन्तिम) दो सौ वर्ष में नहीं था – ऐसा (लिखा है) और हम साधु नहीं हैं, हम साधु नहीं हैं, हम मुनि नहीं हैं, यति नहीं हैं, हम सम्यग्दर्शन बिना यह (साधुपना) लेकर बैठे हैं। इतना लिखो स्वामी कि (यहाँ) आओ। (हमने) कहा – हम तो किसी को आओ-जाओ कुछ (कहते नहीं)। आवे तो भी उसके कारण और न आवे (तो भी उसके कारण)। हमें कुछ (नहीं)। फिर निकले थे (परन्तु) चाहे जहाँ रुक गये (हों ऐसा लगता है) गिरनार (आने के) नाम पर लिखा था परन्तु यहाँ आये नहीं। चातुर्मास करके अन्यत्र (गये लगते हैं)। गिरनार के नाम से निकले, (यहाँ के-सोनगढ़ के) नाम से निकले तो विरोध करें, तो भी उनका माने नहीं मैं तो वहाँ जानेवाला हूँ परन्तु स्वामीजी इतना लिखें कि आओ, तो भी (मैं चला जाऊँ)।

कहा, हम किसी को कहते नहीं। यहाँ आवे तो रखना कहाँ ? उन्हें आहार कौन दे ? और यह भी लिखा था कि आहार भले न दे, हम कर लेंगे – ऐसा पहले लिखा था। यहाँ किसी को आने-जाने की (कहने की) बात नहीं है। जिसकी भावना हो वह आवे, न हो वह न आवे; हमें कुछ नहीं है।

दूसरा एक साधु (था) महाराष्ट्र का है, चातुर्मास इन्दौर में था, पाँच-सात वर्ष हो गये। ८५ वर्ष की उम्र है, वृद्ध है, वैसे तो सात-आठ दिनों विहार करता है – ऐसे कहते हैं। पालीताना से आये थे और यहाँ का समकित (सम्यग्दर्शन) पुस्तक है, वह पढ़ी। वहाँ इन्दौर में एक (भाई) है। (उन्होंने) पढ़ाया, पढ़कर यहाँ कहते थे, स्वामीजी! हम साधु नहीं हैं, हाँ! हम तो नहीं परन्तु हिन्दुस्तान में अभी भावलिंगी साधु कोई नहीं है – ऐसा एक बार कहते थे। अरे... प्रभु! परन्तु क्या है ? अरे... यह पाप के उदय से द्रव्यलिंग-नग्नपना आ चढ़ा। आहा...हा... ! ऐसा बेचारे कहते थे, क्योंकि नग्नपने की क्रिया तो व्यवहार है; (इसलिए) इतनी न करे तो लोग निन्दा करे। भावसमकित तो है नहीं। आहा...हा... ! इसलिए बेचारे कहते थे, वृद्ध थे, दो दिन रहे, फिर भावनगर आये थे। हमारे पाप का उदय, हम नग्न मुनि हो गये, द्रव्यलिंग खोटा धारण करके बैठे। अब यह बात सबको कठिन लगती है, बापू! साधुपना वह क्या है ! अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, बापू!

यहाँ तो यह कहते हैं कि **इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** (विशेष लेंगे)

प्रवचन नं. १७५ **श्रावण शुक्ल २, शुक्रवार, २४ अगस्त १९७९**

प्रवचनसार, १७२ गाथा। तीन बोल चले हैं न ? चौथा (बोल) **दूसरों के द्वारा – मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता....** आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? दूसरों के द्वारा अनुमान से आत्मा जाना जा सके — ऐसा आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! **दूसरों के द्वारा – मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है'....** आहा...हा... ! यह ज्ञान, वह आत्मा — ऐसा जो अनुमान, उससे ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। यह कहते हैं। आहा...हा... !

४९ गाथा में आया है न? वहाँ अलिंगग्रहण शब्द है। समयसार ४९ (गाथा)। वहाँ तो ऐसा कहा है कि पर से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। द्रव्य इन्द्रिय से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है, भावेन्द्रिय से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। रस, रूप आदि (से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है।) ऐसा होने पर भी, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के बल से ज्ञात हो, ऐसा है। इसलिए वह अनुमानमात्र नहीं है। अनुमानमात्र वह नहीं, ऐसा ४९ (गाथा में) है। कठिन बात है। निमित्त तो नहीं, निमित्त से तो हो, ऐसा नहीं परन्तु अनुमानमात्र से भी वह आत्मा ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

तब कहते हैं कि ज्ञात हो, ऐसा पहले कहकर, फिर वहाँ ४९ (गाथा में) ऐसा कहा, स्वसंवेदन के बल से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा है; वह मात्र अनुमानमात्र से ज्ञात हो — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह क्या कहा? आहा...हा...! अकेले अनुमान से ज्ञात हो — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! है?

इस प्रकार 'आत्मा अनुमेयमात्र.... अनुमेयमात्र! अनुमेय — अनुमानमात्र से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। राग से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है; निमित्त से तो ज्ञात हो – ऐसा नहीं है... आहा...हा...! परन्तु वह अनुमेय से भी ज्ञात हो – ऐसा नहीं है।

प्रश्न : स्व और पर दोनों का आत्मा या अपना एक का आत्मा नहीं ज्ञात हो?

समाधान : एक को। स्वयं को अनुमेयमात्र से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। एक न्याय से तो पर को भी ऐसा है। स्वयं को जब प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्षपूर्वक फिर अनुमान करे तो होता है। सूक्ष्म बात है। क्या कहा यह?

स्वयं को स्वसंवेदन बल से प्रत्यक्ष हो, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षपूर्वक पर का अनुमान करे तो ज्ञात हो, वह अलग वस्तु है परन्तु जिसे स्व प्रत्यक्ष हुआ है, वह दूसरे का अनुमान कर सकता है परन्तु स्व प्रत्यक्ष नहीं, वह अनुमान से दूसरे को नहीं जान सकता। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! इसने अन्तर में ढलने के लिए निवृत्ति कहाँ है? कि झगड़े सब खड़े करना। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! आहा...हा...!

स्वसंवेदनप्रत्यक्षबल से – स्वसंवेदन के बल से प्रत्यक्ष ज्ञात हो – ऐसा है; इसलिए वह अनुमानमात्र से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। यह लोग तो

निमित्त से (ज्ञात हो, ऐसा कहते हैं)। हे भगवान! आपसे मुझे ज्ञात होता है, आपसे मुझे ज्ञात होता है – ऐसा नहीं। ऐसा लेख (आया है) (लिखनेवाले ने) पढ़ा है, वह भी रखा है अपनी शैली से परन्तु वह कहाँ तुम्हारे में है ? कहीं है उसमें ? कि तीन-चार साधु अभी हों, ऐसा श्वेताम्बर में कहाँ है ? वह तो दिगम्बर में ज्ञानार्णव में है।

मुमुक्षु : दो-तीन हों।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दो-तीन (हों), टोडरमलजी ने तो उसका अर्थ किया है न ? दो-तीन कहा है अर्थात् बहुत थोड़े हैं – ऐसा लेना। मात्र दो या तीन ही है, ऐसा नहीं लेना। मोक्षमार्गप्रकाशक में ऐसा लिया है। आहा...हा...! अब इसमें पर के साथ झगड़ा किये (करने जैसा है) ?

मुमुक्षु : पर के बिना चलता कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के बिना ही चलता है — ऐसा यहाँ कहते हैं। अरे...! यहाँ तो कहते हैं कि अनुमान से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं – ऐसा प्रभु है। आहा...हा...! अन्तर के स्वसंवेदन-अपने-स्व के स्वयं से, सं-प्रत्यक्ष वेदन हो। सं का अर्थ प्रत्यक्ष होता है। स्वसंवेदन... स्वसंवेदन – स्व अर्थात् स्वयं को प्रत्यक्ष वेदन हो, ज्ञात हो — ऐसा यह भगवान है। आहा...हा...! राग से ज्ञात नहीं होता, व्यवहाररत्नत्रय से ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...!

उन लोगों का यह लेखन है, भाई! कि तीन क्षयोपशम के जो रत्न हैं, वे शुभराग से प्रगट होते हैं। देवचन्दजी ने कथन है, कहीं पुराने में है वह है, पहले सुना था, पता है। वे लोग दर्शन-ज्ञान-चारित्र को शुभराग से क्षयोपशमभाव है — ऐसा मानते हैं, वह भी लेख मिला है, आज फिर पड़ा, सुना है, बहुत वर्षों से उन लोगों की सब बात सुनी है। ऐसा कहते हैं निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह क्षयोपशमभाव से है। उसमें शुभराग के कारण से वह क्षयोपशमभाव है। उसे ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि शुभराग से तो ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...! परन्तु अनुमान से भी ज्ञात नहीं होता – ऐसा प्रभु है। अरे... भाई! तू उसे हल्का करके अनुमान से और राग से ज्ञात होता है — ऐसा हल्का बना दे – ऐसी (वह) चीज नहीं है। आहा...हा...!

समझ में आया? उसे हल्का बना दे कि शुभराग से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसी नित्यता आत्मा को नहीं है। आहा...हा...! वह राग से भिन्न, राग से तो ज्ञात नहीं होता परन्तु अनुमान से भी ज्ञात हो - ऐसा नहीं है — ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

अनुमान को प्रमाण कहा है और श्रुतज्ञान का एक अंश कहा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में! अनुमान एक नय है, ऐसा वहाँ लिया है। अनुमान भी है प्रमाण परन्तु एक नय है — ऐसा वहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिया है। आहा...हा...!

यह भगवान अन्दर (विराजमान है) भाई! पहले निर्णय तो कर! वह स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा है, वरना ज्ञात हो — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अत: उसे अन्तर की ओर का झुकाव बारम्बार रहा करेगा परन्तु दूसरे प्रकार से मानेगा तो अन्तर का झुकाव नहीं रहेगा, प्रभु! आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! आहा...हा...! दूसरे प्रकार से ज्ञात हो, तब तो दूसरी विधि से वह वापस नहीं हटेगा। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई!

अन्तर स्वसंवेदन! स्वयं को स्वयं का ज्ञान का प्रत्यक्षपना है, उससे ज्ञात हो, ऐसा है। यह तो सादी भाषा है, भाई! आहा...हा...! भगवान! आहा...हा...! तू अनुमान से ज्ञात हो — ऐसा नहीं, प्रभु! आहा...हा...! यह अनुमान भी एक व्यवहार प्रमाण है। आहा...हा...! तेरी चीज ऐसी नहीं है। आहा...हा...! वह यहाँ कहते हैं। आहा...हा...!

दूसरों के द्वारा - मात्र लिंग द्वारा... देखा? अनुमान द्वारा। दूसरों के द्वारा भी मात्र लिंग द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। पहले में तो स्वयं कहा था कि इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है। यह तो तीसरे में गया। अपने लिए (वह कहा था) **इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है....** सूक्ष्म बात है भगवान! आहा...हा...!

यहाँ चौथे बोल में तो ऐसा लिया। तीसरे में तो स्वयं अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है — ऐसा कहा और यहाँ अब दूसरों के द्वारा अनुमान से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! समझ में आया?

प्रश्न : दूसरों के द्वारा अर्थात् गुरुओं के द्वारा अनुमान से ज्ञात नहीं होता?

समाधान : दूसरे आत्मा ऐसा अनुमान करे कि यह आत्मा है — ऐसे ज्ञात हो, ऐसा

नहीं है। उसे प्रत्यक्ष हो, फिर अनुमान करे तो ज्ञात हो, ऐसा है। आहा...हा...! समझ में आया ? यह तो अलौकिक है बापू! आहा...हा...!

भगवान अन्तर अनन्त आनन्द का (सागर है), उसमें ऐसा भी आया है, हाँ, भाई! जैसे अपने चिद्‌विलास में आता है कि प्रत्येक गुण का आनन्द है, ऐसे उसमें भी आता है, लिया — अस्तित्व का आनन्द, वस्तुत्व का आनन्द ऐसे अनन्त गुण का आनन्द — ऐसा लिया है। यह बात तो जँचती नहीं, अन्दर है यह बात सत्य परन्तु अस्तित्व है, उसका आनन्द वह ले... आनन्दगुण का रूप अनन्त (गुण में) है। आहा...हा...! अलौकिक बातें हैं भाई!

जितने गुण हैं, उन सब गुणों का आनन्द आवे, गुणों का आनन्द आवे! आनन्द का आनन्द तो आवे... आहा...हा...! परन्तु अस्तित्वगुण का भी आनन्द आवे, वस्तुत्व का आनन्द आवे, प्रमेयत्व का आनन्द आवे, दर्शन का आनन्द आवे, ज्ञान का आनन्द आवे। प्रत्यक्ष वेदन में अनन्त आनन्द का वेदन होता है। आहा...हा...! अरे...रे! ऐसी बात लोगों ने कहाँ कर डाली ? आहा...हा...!

यहाँ तो (कहते हैं) स्वयं अनुमान से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। स्वयं स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा है — ऐसा स्वरूप ही इस प्रकार का है, जिस किसी पर की अपेक्षा ही नहीं है। आहा...हा...! अपने प्रत्यक्ष वेदन से, उसके बल से; अनुमान के बल से नहीं, निमित्त के बल से नहीं... भगवान का निमित्त है, इसलिए उनके बल से ज्ञात हो (– ऐसा वह है नहीं) श्वेताम्बर में तो यही बात लिखी है कि हे प्रभु! आपके कारण मुझे ऐसा हुआ, आपके निमित्त बिना मुझमें कुछ होगा नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि अनुमान से भी तुझमें कुछ नहीं होता, ले! वैसे ही दूसरों के द्वारा भी अनुमान मात्र से तू ज्ञात हो, ऐसा तू नहीं है। आहा...हा...!

कलश में वह आया है न ? ऐसा कि यह पानी ठण्डा है और अग्नि गर्म है, उसका ज्ञान भी स्वरूपग्राही ज्ञानी को होता है। कलश टीका में (समयसार कलश ६० में) दो बार आया है। आहा...हा...! वस्तु की शैली तो देखो! जिसे आत्मा स्वसंवेदन से ज्ञात हुआ है... आहा...हा...! उससे... आहा...हा...! वह (स्वसंवेदनज्ञान) होवे तो दूसरे को अनुमान से ज्ञात हो ऐसा है। दूसरे को, हाँ! उसी प्रकार इस आत्मा को भी दूसरे का (सामनेवाले जीव का) स्वसंवेदन हो तो अनुमान से दूसरे का सच्चा ज्ञान होता है। आहा...हा...! समझ में आया ? आहा...हा...! ऐसी बातें, बापू!

आहा...हा... ! यह इसे अन्तर में जाने के लिये कहाँ अवसर लेता है ? और यहाँ तो कहते हैं, अन्तर में गये बिना प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अब यह (बाहर का) झुकाव तू कब छोड़ सकेगा ? पर का झुकाव छोड़कर स्व का झुकाव रख, आहा...हा... ! पर का झुकाव छोड़कर स्व-सन्मुखता (रख)। चौबीसों घण्टे उसका लक्ष्य रख ! ऐसी बात है बापू ! आहा...हा... !

ओहो...हो... ! अन्तर प्रभु आनन्द का सागर ! वह अनुमान से भी नहीं ज्ञात होता, प्रभु ! आहा...हा... ! वह तो अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन से ज्ञात हो ऐसा है, कहते हैं। उसे तब ज्ञात हो कि यह तो पूर्ण आनन्दमय और पूर्ण ज्ञानमय है। आहा...हा... ! सूक्ष्म विषय है परन्तु मुद्दे की रकम का है। आहा...हा... ! अभी तो यह बाहर से होगा और व्यवहार करो और क्रियाकाण्ड करो और दया पालो और व्रत करो और भक्ति करो, भगवान की भक्ति करो तो उसमें से (धर्म) होगा (-ऐसा मानते हैं)। श्वेताम्बर में यह कहते हैं। दिगम्बर में भी ऐसा कहते हैं। यह सब तो अभी श्वेताम्बर हो गये हैं।

यहाँ तो दिगम्बर अर्थात् सत्यधर्म। इसके वेदन में आया है, वह परमात्मा अथवा सन्त जगत को जाहिर करते हैं, प्रभु ! तू तुझे स्वसंवेदन से ज्ञात हो ऐसा है और दूसरों के द्वारा भी उन्हें स्वसंवेदन हो तो उसके अनुमान द्वारा तू ज्ञात हो ऐसा है और तू भी (तुझे स्वयं को) स्वसंवेदन हो तो अनुमान से दूसरे को जान सके - ऐसा तू है, ऐसी बातें ! अरे...रे ! इसे कहाँ समय है ? आहा...हा... !

जिसे अभी इस ज्ञान में, श्रद्धा में-परलक्ष्यी श्रद्धा में भी ऐसा निर्णय नहीं है कि अन्तर में झुकने से ही, अनुभव से ही ज्ञात हो ऐसा है, वह अन्तर में झुकाव कब करेगा ? व्यवहार (श्रद्धा के) लक्ष्य में भी नहीं इसे तो (ऐसा ही है कि) यहाँ से होगा... यहाँ से होगा... यहाँ से होगा... आहा...हा... ! कहो, बहुत सूक्ष्म बापू ! आहा...हा... ! दया पालन और व्रत करना, भक्ति करना, पूजायें करना और भगवान की स्तुति करना और स्मरण करना.... कहते हैं कि इनसे प्राप्त हो, ऐसा नहीं है, प्रभु !

मुमुक्षु : गुरुसेवा से तो लाभ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात बिल्कुल (मिथ्या है)। गुरु अर्थात् स्वयं। सर्वज्ञ परम

गुरु – यह श्रीमद् का वाक्य है। वे सर्वज्ञ परम गुरु (अर्थात्) यह आत्मा। सर्वज्ञ परम गुरु प्रभु! इस गुरु से भी प्राप्त हो, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। अधिगमात (सम्यग्दर्शन में) कहा जाता है। नि:सर्गात – अधिगमात नहीं? समकित के दो भेद हैं न? एक निसर्ग से होता है और एक गुरुगम से होता है, यह तो निमित्तपना था, फिर जब उनका लक्ष्य छूटा तब (सम्यग्दर्शन) हो, उससे वह निमित्त था, उसे निमित्त से हुआ ऐसा कहा जाता है। अरे! बहुत कठिन काम! बाकी तो निसर्गात, अधिगमात भी निसर्ग से ही होता है। आहा...हा...!

'धवल' में आता है कि जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म टलता है परन्तु वह जिनबिम्ब कौन? यह जिनबिम्ब प्रभु! जिन चैतन्य प्रतिमा! वीतरागस्वरूपी चैतन्य प्रतिमा प्रभु! उसके दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म नाश होता है। वहाँ भाषा ऐसी है, (इसलिए) लोग (ऐसा कहते हैं कि) देखो! इससे होता है, पर से होता है (ऐसा लिखा है)। धवल में शब्द ऐसा है कि जिनबिम्ब के दर्शन से, परन्तु वहाँ पहले जिनबिम्ब का लक्ष्य था, फिर (वहाँ से लक्ष्य) छूटकर जिनबिम्ब आत्मा में लक्ष्य गया है। आहा...हा...! वीतरागमूर्ति ऐसे मानो अक्रियबिम्ब पड़ा है न? ऐसा अक्रियबिम्ब पड़ा है — ऐसा लक्ष्य में आने पर लक्ष्य ऐसे गुलांट खाता है; इसलिए उसमें से हुआ ऐसा निमित्त से कहा (जाता है)। आहा...हा...! समझ में आया? (बहुत से लोग) लोगों को ऐसा कहते हैं कि हमारे से तुम्हें हो तो तुम हमारा उपकार मानना, तुम हमारा कुछ मानना – ऐसा कहने के लिए हमारे से भी तुम्हें होता है, भाई! यह ऐसा नहीं है प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ तो इन्द्रियगम्य के अनुमान से भी ज्ञात हो, ऐसा नहीं है (– ऐसा कहते हैं)। भगवान के पास सुना है कि यह आत्मा ऐसा है, वह इन्द्रियगम्य के ज्ञान से भी ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह तो अतीन्द्रिय स्वसंवेदनज्ञान द्वारा ज्ञात हो ऐसा है, प्रभु! आहा...हा...! तेरा माहात्म्य इतना है। आहा...हा...! तेरी महत्ता इतनी है, प्रभु! आहा...हा...! जिसे पर की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! अकेले अनुमान की भी अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! अमृत भरा है! अमृतचन्द्राचार्य ने सत् की पुकार की है! सत् प्रभु! सच्चिदानन्द! उसका अनुभव – वेदन से ज्ञात हो, ऐसा है। क्या ढिंढोरा!

प्रभु ऐसा कहते हैं कि मुझसे तू ज्ञात हो — ऐसा नहीं है; मेरी वाणी से तुझे ज्ञान हो, उससे तू ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! तू तो तेरे स्वसंवेदन से ज्ञात हो - ऐसा तू प्रभु है, आहा...हा...! सामनेवाले के वेदन से नहीं, तेरे स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा है। आहा...हा...! समझ में आया? महंगा पड़ता है, मार्ग यह है। अनादि काल से तीर्थंकरदेव अनन्त तीर्थंकरों की यह पुकार है। अनन्त सर्वज्ञों की, अनन्त केवलियों की अनन्त सन्तों की, अरे...! समकितियों की यह पुकार है। परम सत्य को पाने के लिए स्वसंवेदन कारण है, समझ में आया? नहीं तो देव और गुरु से भी नहीं हो तो देव-गुरु का माहात्म्य कौन करेगा? ऐसा जिसे लगता हो कि स्वयं का माहात्म्य कौन करेगा? इसलिए हमारे से होता है (ऐसा मानो)। यह जिसे स्वसंवेदन से ज्ञात हो, उसे फिर निमित्त के उपकार का विकल्प आता है। समझ में आया? आहा...हा...!

उपादान का जो भान हुआ, स्वसंवेदन से भगवान ज्ञात हो - ऐसा है, प्रभु! बाकी सब बातें हैं। आहा...हा...! भगवान की भक्ति और स्नान करना और यह अभिषेक करना... (यह सब बातें हैं)। इन्द्र अभिषेक नहीं करते? वह क्या है? वह तो विकल्प है? आहा...हा...! तू तुझे स्नान करा! राग को धोने के लिए स्वसंवेदन में आ जा, तो राग धूल जायेगा। आहा...हा...! यह तेरा अभिषेक तू कर! आहा...हा...! क्या अमृतचन्द्राचार्य! दिगम्बर सन्तों ने गजब काम किया है! आहा...!

स्वयं ऐसा कहते हैं कि हम भी तुझे जानने के लिए निमित्त होंगे - ऐसा है नहीं। आहा...हा...! उन्हें ऐसी कहाँ पड़ी है कि यह हमको माने तो ठीक! आहा...हा...! वीतरागी सन्तों को यह कहाँ पड़ी है? कि हम ऐसा कहते हैं कि हमसे तुझे लाभ नहीं होगा (तो) हमको मानेगा किस प्रकार? मान किस प्रकार देगा? ऐसी उनको पड़ी नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? 'लही भव्यता मोटू मान' परमात्मा ऐसा कहते हैं कि तू भव्य है और ज्ञानी है — ऐसा कहें, उसे अब किसका मान चाहिए? स्वसंवेदन से ज्ञात हुआ है, उसे भगवान कहते हैं कि तू समकिती और भव्य है। अब तुझे किसका मान चाहिए? आहा...हा...! हमको दुनिया माने तो हम ऐसे... नहीं तो हमारे से तुझे लाभ होता है, और तो तुमको मानें ऐसा नहीं, प्रभु! मानें न मानें का प्रश्न का तुझे क्या काम है? आहा...हा...! गजब काम है।

वहाँ दूसरे अलिंगग्रहण में (लिखा है न?) (समयसार ४९ गाथा) देखो! **इस प्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** प्रत्यक्ष होने के कारण **अनुमानगोचरमात्रता के अभाव....** है। (अभी) अलिंगग्रहण अपने चलता है। यह अलिंगग्रहण शब्द ४९ (गाथा में) है। उसका अर्थ भगवान अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह किया है। आहा...हा...! जिसे दुनिया का मान नहीं चाहिए, मान अन्दर से मिला, प्रभु! आनन्द के नाथ को जगाकर आनन्द का वेदन हुआ; अब तुझे किसका मान चाहिए है? आहा...हा...! आहा...हा...! यह बात निश्चय की है — ऐसा कहकर निकाल डाले तो बापू! तुझे नहीं मिले, क्योंकि इसमें व्यवहार तो कुछ आया नहीं। यह अनुमान का व्यवहार भी आया नहीं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** प्रत्यक्ष है! आहा...हा...! ज्ञान की स्वसंवेदन दशा का वेदन – अनुभव में सदा प्रत्यक्ष है। आहा...हा...! **अनुमानगोचरमात्रता के अभाव....** है। **अनुमानगोचरमात्रता के अभाव के कारण (जीव को) अलिंगग्रहण कहा जाता है।** अपने यह अलिंगग्रहण (चलता है) यह शब्द वहाँ है। उसे अलिंगग्रहण कहा जाता है। अनुमान से भी ज्ञात न हो। वह अनुमान तो लिंग है, उससे ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...! अरे! इस बात का पकड़े भी नहीं, इस बात की अभी परलक्ष्यी श्रद्धा भी न करे... है भले परलक्ष्यी परन्तु श्रद्धा में, मैं तो अनुमान से भी ज्ञात होऊँ – ऐसा नहीं; मैं तो स्वसंवेदन से ज्ञात होऊँ – ऐसा हूँ (ऐसा होना चाहिए)। आहा...हा...! विपरीत मान्यता का पानी उतर जाये ऐसा है।

मुमुक्षु : यह उतारने की आवश्यकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! अरे... यह बात कब मिले? भाई! आहा...हा...! भले इसे अभ्यास नहीं, इसलिए कठिन लगे, परन्तु वस्तु तो यह है। परमात्मा अनन्त तीर्थंकर अनन्त केवली ऐसा कहते हैं, वह सन्त कहते हैं। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ'। इस स्वसंवेदन से ज्ञात हो, यह परमार्थ का पन्थ है। समझ में आया? आहा...हा...!

दूसरों के द्वारा.... पहले स्वयं को अनुमान का विषय नहीं है – ऐसा कहा। अब

(कहते हैं) **दूसरों के द्वारा - मात्र....** दूसरों के द्वारा भी तू अनुमान से ज्ञात हो और तू भी दूसरों को अकेले अनुमान से जाने — ऐसा नहीं है। जिसमें अकेला एक भगवान स्वसंवेदन में आया, वह प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान करे तो पर को (अनुमान से) जाने। उसे भी स्वसंवेदन हो तो फिर अनुमान करके जाने। आहा...हा...! गजब बात की है न! स्व प्रकाशक प्रगट हुआ है, (वह) पर प्रकाशक में अनुमान से पर को जान सकता है। समझ में आया? अरे... आहा...हा...!

ऐसी बात है, इसमें तो अन्दर समा जाने की बातें हैं। वहाँ यह झगड़ा सुनते हैं, भावनगर का पत्र आया है न? अरे... यह क्या है इन लोगों को? लिखनेवाला भी कैसा? और क्या ऐसी बातें? साधर्मी हैं उनके प्रति तो प्रेम चाहिए... आहा...हा...! उनके प्रति उसे यह छोटा और यह बड़ा, यह इसका और यह इसका (करते हैं)। अपनी कल्पना से झगड़ा खड़ा करते हैं। अरे... प्रभु! तेरी महत्ता तो पर से ज्ञात हो - ऐसी नहीं है। आहा...हा...! तेरा ट्रस्ट तो तू है। आहा...हा...!

दूसरों के द्वारा.... यह पुनरुक्ति नहीं लगती, हाँ! यह तो अन्दर भाव की अनेकता (आती है)। आहा...हा...! यह तो भावना का ग्रन्थ है न भाई! समाधिशतक आदि, उसमें कथन है, यह भावना का ग्रन्थ है, वहाँ पुनरुक्ति (दोष) नहीं लगता। आहा...हा...! **'आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही....)** दूसरों से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! दूसरों को भी स्वसंवेदन हो तो फिर दूसरों को वह अनुमान से ज्ञात होता है, दूसरे को अनुमान से ज्ञात होता है। आहा...हा...! जिसे स्व ही जानने में नहीं आया, वह पर को किस प्रकार जानेगा? देव, गुरु, और शास्त्र! देव, अरहन्त, त्रिलोकनाथ और सन्त महानिर्ग्रन्थ मुनि! ऐसा कहते हैं, जिसे स्वसंवेदन नहीं, वह यह देव अरहन्त और गुरु निर्ग्रन्थ को किस प्रकार मानेगा? आहा...हा...! समझ में आया? यह तो मार्ग... बापू! मार्ग यह है, भाई! और इसमें कोई दूसरे का अपमान है, ऐसा नहीं है। ऐसा कि यह दूसरे राग से मनवाते हैं, उनका अपमान होता है, बापू! (ऐसा) नहीं है, भाई! यह तो अन्दर हित की बातें हैं, किसी का अनादर करने की बातें नहीं हैं। तेरा स्वसंवेदन से आदर हो ऐसा तू है। भगवान! आहा...हा...! केवलियों की पुकार, तीर्थंकरों की पुकार!

श्रीमद् एक बार कहते थे अरे...रे! हमारी यह बात कौन सुनेगा? गृहस्थाश्रम में रहकर अनुभवी! उन्हें स्त्री, पुत्र, धन्धा, लाखों का जवाहरात का व्यापार... उनका वचन कौन माने? कहते हैं, परन्तु यह तो बाहर की क्रिया है, उनकी दशा अन्दर है वह अलग है। आहा...हा...! ऐसा एक बार कहा था एक पत्र में था कि तुम्हें भगवान के प्रति और हमारे प्रति राग है तो तुम्हें किस प्रकार लाभ होगा? ऐसा लिखा है।

इस प्रकार 'आत्मा....' प्रभु! **'अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है'....** दूसरों को केवल अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं है, स्वयं को स्वयं अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं है। आहा...हा...! यह बारह अंग का सार है। चाहे जितना पढ़ा हो, बड़ी बातें (करे) परन्तु वस्तु यह है। इस पढ़ाई के बिना सब बातें व्यर्थ हैं। बड़ी-बड़ी सभा भरे, दस-दस हजार लोग आवें, उसमें क्या है? उसमें लोकरंजन होता है। उसमें आत्मरंजन नहीं होता, प्रभु! आहा...हा...! यह चौथा बोल कहा।

अब, पाँचवाँ (बोल) **जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है;....** देखा? (चौथे में ऐसा कहा) **दूसरों के द्वारा - मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता....** (जिसका अर्थात्) आत्मा का। अब (कहते हैं) **जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता.... इस प्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है'....** स्वयं अनुमानमात्र करे ऐसा नहीं है। दूसरा अनुमान से जाने ऐसा तो नहीं परन्तु तू अनुमान से दूसरे को जाने ऐसा तू नहीं है। अरे...अरे...! है? जिसे लिंग से पर का जानना नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। यहाँ स्वयं लिया, पहले दूसरों के द्वारा था, अब यहाँ (स्वयं) लिया है। आहा...हा...! पहले था वह स्वयं अनुमान से इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं ऐसा कहा; दूसरे में ऐसा कहा कि दूसरों के द्वारा अनुमान से तू ज्ञात हो — ऐसा तू नहीं है। अब तीसरे में ऐसा कहते हैं कि तू प्रत्यक्ष हुए बिना अकेले अनुमान से पर को जाने — ऐसा तू नहीं है। समझ में आया? अरहन्त को, भगवान को, गुरु को इत्यादि। आहा...हा...! **लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता, इस प्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है'....** आहा...हा...! यह अरहन्त है और सर्वज्ञ हैं - ऐसे अकेले अनुमान से तू अरहन्त को जान सके — ऐसा

तू नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें! यही वस्तु है, बापू! क्या हो? (लोग) ऐसे बाहर की बातों से प्रसन्न-प्रसन्न (हो जाते हैं)। गजरथ निकालना, दो-पाँच-दस लाख खर्च करे और संघवी की पदवी और..... धूल भी नहीं, सुन न! आहा...हा...! अरे...! इस प्रकार तो धर्म हो ऐसा नहीं है... आहा...हा...! परन्तु इस राग की मन्दता से भी धर्म हो, ऐसा नहीं है परन्तु अनुमान से भी तेरा स्वरूप ज्ञात हो — ऐसा तू नहीं है तथा दूसरे को तू अकेले अनुमान से जाने यह भी नहीं है - ऐसा तू नहीं है, ऐसा वह भी नहीं है। आहा...हा...!

यह तो समझ में आये ऐसा है। यह तो सादी गुजराती भाषा है। आहा...हा...! यह सादी भाषा है। गुजराती सादी है, यह कहीं कोई (कठिन भाषा नहीं है)। आहा...हा...!

जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता.... आत्मा को। पहले में दूसरों के द्वारा ऐसा था। अब इस आत्मा को... आहा...हा...! **लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता....** आहा...हा...! गजब काम करते हैं न! ऐसी बात कहाँ है? आहा...हा...! अरे...रे! ऐसी बात सुनने को मिले, इसे तो कोमलता कर डालना चाहिए। मैं कुछ हूँ और तू कुछ है, अमुक है, वह कहाँ इसमें है, बापू! आहा...हा...!

जिसके लिंग से.... (अर्थात् भगवान आत्मा को) **पर का ग्रहण नहीं होता....** आहा...हा...! है न? **इस प्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है'....** आहा...हा...! अकेला अनुमानमात्र से ही जाने - ऐसा वह नहीं है। आहा...हा...! अरहन्त को जाननेवाला... आहा...हा...! अकेले अनुमान से जाने - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! जहाँ स्वसंवेदन ज्ञान हुआ, तत्पश्चात् अनुमान से पर को जाने परन्तु अकेले अनुमान से पर को जाने - ऐसा वह नहीं है। आहा...हा...! जिसके हाथ में भगवान आया नहीं, वह दूसरे को अनुमान से जाने - ऐसा तू नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

भाई! वहाँ ऐसी सब (बात) कहीं सुनी थी? स्थानकवासी में बहुत गप्प मारे थे, सामने (रहकर) यह करो... यह करो... और यह करो...। आहा...हा...! स्थानक तो आत्मा चिदानन्द वह स्थानक है। आहा...हा...! उसके वेदन में, उसका वासी हुआ, तब वह स्थानकवासी हुआ। आहा...हा...! यह तो अकेला क्रियाकाण्ड-सामायिक करो और प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो... आठ-आठ वर्ष के लड़कों को सामायिक करावे! पाँच-पाँच सामायिक (करावे) और फिर रुपये-रुपये बाँटे परन्तु क्या है? इसमें धर्म कहाँ था?

इस प्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है'.... केवल अनुमान करनेवाला नहीं है। स्वसंवेदनपूर्वक अनुमान करे, वह अलग (बात है)। अर्थात् कि निश्चयपूर्वक व्यवहार हो, वह बराबर है। आहा...हा...! दूसरों के द्वारा भी निश्चयपूर्वक अनुमान हो, वह अलग बात है। इसे भी पर को जानने के लिए स्वसंवेदन निश्चयपूर्वक व्यवहार हो तो ठीक है। आहा...हा...! अरे! अपनी ओर ढलने में उसमें बाहर में रहने का अवकाश कहाँ है ? किस पल और किस घड़ी अन्तर के झुकाव बिना रहे ? समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, बापू!

यह तो परम सत्य! परमात्मा, जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ प्रभु ऐसा कहते हैं, वह सन्त कहते हैं। हमें मानने से तुम्हें आत्मा का ज्ञान होगा, ऐसा तू नहीं है - ऐसा कहते हैं। हम निर्ग्रन्थ मुनि हैं या अरहन्त हैं, उसे तेरे स्वसंवेदन के बिना तू अनुमान से हमें जान सके - ऐसा तू है नहीं। आहा...हा...! पाँच (बोल) हुए।

(समयसार ४९ गाथा में) कहा है, स्वसंवेदन के बल से सदा प्रत्यक्ष है। यह शब्द है, उसमें वह यहाँ आया। यह अमृतचन्द्राचार्यदेव टीका करनेवाले हैं न ? समयसार की टीका करनेवाले ये हैं और प्रवचनसार की टीका करनेवाले ये हैं। आहा...! अमृतचन्द्राचार्य एक हजार वर्ष पहले पंचम काल में (हुए)।

मुमुक्षु : चलते सिद्ध!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! वे मोरपिच्छी और कमण्डल लेकर आहार लेने जाते हैं.... कहते हैं हम तो कहीं जाते नहीं और आते नहीं; हम तो हमारे में हैं, यह जो चलना होता है, विकल्प होता है, उसके तो हम जाननेवाले हैं। स्व-वेदनसहित जाननेवाले हैं। आहा...हा...! समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह पूरा होने के बाद दूसरी बार लेने जैसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अभी चलता है, यह तो चलता है।

पहले ऐसा आया कि इन्द्रिय से अनुमान से स्वयं ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। दूसरों के द्वारा अनुमान से ज्ञात हो — ऐसा तू नहीं है, तथा तू अनुमान से दूसरों को जाने, अकेले अनुमान से दूसरों को जाने - ऐसा तू नहीं है।

आहा...हा... ! अरे ! प्रभु को प्रभुरूप से बुलाकर प्रभुता को जगाते हैं ! आहा...हा... ! प्रभु ! तू पामर नहीं है। तू राग से ज्ञात हो – ऐसा पामर नहीं है। आहा...हा... ! इस निमित्त की पराधीनता से जाने – ऐसा तू नहीं है। आहा...हा... ! प्रभु ! तू स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा है और पर को पर जानने के लिए स्वसंवेदन हो तो अनुमान से ज्ञात हो – ऐसा तू है। आहा...हा... ! क्या शैली ! निश्चयपूर्वक व्यवहार की शैली तो देखो ! आहा...हा... ! यह तो सीधे व्यवहार करेंगे, यह सब करेंगे, और निश्चय होगा... अरे... भाई ! यह पंथ निराला है। आहा...हा... ! अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। आहा...हा... ! इसलिए (लोगों को ऐसा लगता है कि) यह क्या कहते हैं यह ?

कहते हैं कि जिसे लिंग से पर का ग्रहण नहीं होता। फिर (छठे बोल में कहते हैं कि) **लिंग के द्वारा नहीं, किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है,....** यह अब आया। लिंग द्वारा नहीं, अनुमान द्वारा नहीं। **किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है,...** आहा...हा... ! जिसका ज्ञान, स्वभाव के द्वारा होता है। **लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है,....** आहा...हा... ! जो अपना स्वभाव है – त्रिकाली आनन्द और ज्ञान, वही पर्याय में उस स्वभाव द्वारा ज्ञात हो ऐसा है। ज्ञानस्वभाव और आनन्दस्वभाव ऐसा वेदन है, उससे ज्ञात हो – ऐसा है। आहा...हा... !

अब यहाँ तो व्यवहार से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है, ऐसा तो कहा है। यह बड़ा विवाद... ऐ... सोनगढ़वाले व्यवहार का लोप करते हैं ! ये सब सुना है न ?

मुमुक्षु : निश्चय के आश्रय से व्यवहार का लोप होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार अर्थात् क्या ? यहाँ तो अनुमान से भी ज्ञात हो — ऐसा नहीं, तो फिर तेरा व्यवहार-राग से ज्ञात हो, यह वस्तु कहाँ रही ? अनुमान भी एक व्यवहार प्रमाण है। आहा...हा... ! परन्तु जिसमें भगवान मिला नहीं, स्वसंवेदन हुआ नहीं, वह अकेला व्यवहार करके स्व को जाने या पर को (जाने) — ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! थोड़ा परन्तु यह परम सत्य है, प्रभु ! बहुत लम्बी बहुत-बहुत बातें करके मूल बात का प्रयोजन है, इस बात में न आवे, वह सब ठीक है। आहा...हा... !

कहते हैं, वह अजीव को जाने... आहा...हा... ! वह भी स्व अनुमान से ज्ञात नहीं

हो तथा पर को अकेले अनुमान से जाने नहीं, वह स्वयं स्वभाव से ज्ञात हो ऐसा है। तब वह स्वभावपूर्वक पर का जाननेवाला होने से अजीव को जान सकता है। भगवान अरहन्त को, गुरु को और अजीव को (इस प्रकार जान सकता है)। आहा...हा...! वास्तव में तो वह संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय को भी अपने स्वभाव द्वारा जाने, तब उसे जान सकता है। आहा...हा...!

पागल लोग मानें ऐसा है यह! ऐसा क्या परन्तु? यह तो व्यवहार उत्थापित कर डालते हैं, प्रभु! परन्तु यह व्यवहार तुझमें है नहीं। तू तो परमानन्द का नाथ परमानन्द के वेदन से तू ज्ञात हो, ऐसा है। राग से भिखारी से तू ज्ञात हो (ऐसा) तू भिखारी है? आहा...हा...! राग की मन्दता, राग का तू भिखारी है कि उससे तू ज्ञात हो, आहा...हा...!

श्रोता : यह राग स्वयं जड़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग तो जड़ है परन्तु अनुमान से ज्ञात हो — ऐसा भी तू नहीं है। स्वभाव द्वारा ज्ञात हो - ऐसा तू है। आहा...हा...! समझ में आया? भाई! यह कहाँ तुम्हारे नैरोबी में था? वहाँ पैसा हो गया।

ओ...हो...हो...! आनन्द की लहरें उठायी हैं!! प्रभु! तुझे आनन्द आये बिना, इस आनन्द के बिना तू ज्ञात हो - ऐसा तू है नहीं। स्वभाव कहा है न? 'स्वभाव द्वारा' कहा है न? आहा...हा...! यहाँ तो झगड़ा (चलता है) छोटी-बड़ी बाहर की बातें... अर...र...! प्रभु...प्रभु! यह तुझे नहीं शोभता।

जिसके लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है,.... आहा...हा...! जिसका अपना ज्ञानस्वभाव द्वारा होता है। जो इसमें है, उसके द्वारा (ज्ञान) होता है। इसमें जो नहीं है, उसके द्वारा नहीं होता, कहते हैं। आहा...हा...! यह दया, दान और रागादि का विकल्प, प्रभु! तेरे स्वभाव में नहीं है। आहा...हा...! प्रभु! तेरा स्वभाव तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि स्वभाव द्वारा, पर्याय में स्वभाव द्वारा तू ज्ञात हो ऐसा है। आहा...हा...! जो इसमें है, ऐसे स्वभाव द्वारा तू ज्ञात हो ऐसा है। इसमें अतीन्द्रिय आनन्द है, अतीन्द्रिय ज्ञान है, शान्ति, स्वच्छता (आदि भरे हुए हैं)। आहा...हा...! अरे...!

यह प्रवचनसार है। समयसार तो ठीक परन्तु यह प्रवचनसार है। प्रवचनसार, वह

वस्तु है न ? नियमसार हो, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़... आहा...हा... ! सन्तों ने (आनन्द के) प्रपात बहाये हैं ! आहा...हा... !

कहते हैं, नकार तो किया, परन्तु अब हकार क्या ? इससे नहीं ज्ञात होता, इससे नहीं ज्ञात होता, दूसरों के द्वारा भी प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान से नहीं ज्ञात होता — यह सब बातें की, परन्तु अब ज्ञात किस प्रकार होता है ? वहाँ ऐसा कहा न ? (४९ गाथा में) ४९ में यह कहा कि व्यक्तपने का अभाव, यह आया था न ? ४९ में ! बीच में है। **इस प्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से...** वह यहाँ कहते हैं। देखो, **जिसके स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है,....** यह।

एक बार विश्वास तो ला ! आहा...हा... ! मेरा स्वरूप मेरे स्वभाव से ज्ञात हो — ऐसा मैं हूँ। आहा...हा... ! अकेले अनुमान से ज्ञात हो — ऐसा नहीं; स्वभाव द्वारा ज्ञात हो — ऐसा है। समझ में आया ? पहले नकार किया — रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान, व्यक्तपने का अभाव है। (ऐसा) **होने पर भी स्वसंवेदन के बल से...** अपना स्वभाव जो स्वसंवेदन त्रिकाली शक्ति स्व में है, ऐसा ही पर्याय में स्वसंवेदन स्वभाव प्रगट हो, उसके बल से सदा प्रत्यक्ष है। आहा...हा... ! जिस जाति में भात पड़ी है, उस भात की पर्याय बाहर आने पर उसके स्वभाव द्वारा तू जान सके ऐसा है। आहा...हा... ! राग द्वारा, निमित्त द्वारा (ज्ञात हो ऐसा तू नहीं है) आहा...हा... ! यहाँ तो अभी पूरे सम्प्रदाय में यह पुकार (है कि) व्यवहार करो, व्यवहार करते-करते होगा। आहा...हा... !

एक पंच कल्याणक हुआ था और हजारों लोग एकत्रित हुए थे। फिर एक व्यक्ति बोला — शुभभाव की विजय हो ! एक साधु बैठा था, वह भी कहता है — इसमें क्या खोटा करते हो ? लो ! आहा...हा... ! शुभभाव की विजय हो (अर्थात्) राग की विजय हो ! (तो भी) हाँ (कहे)। साधु बैठा था, उसने भी कहा इसमें क्या खोटा है ? भले कहे। अरे प्रभु ! राग से ज्ञात हो - ऐसा नहीं। ऐसा तू पामर नहीं। ज्ञात हो ऐसा है, ऐसा पामर नहीं। ज्ञात हो ऐसा नहीं। लाख-करोड़ तेरी शुभराग की क्रिया कर न ! वह क्लेश है। भगवान आनन्दस्वरूप है वह क्लेश से ज्ञात होता है ? वह तो दुःख है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा

का भाव तो दु:खरूप है। दु:खरूप इसका स्वभाव है ? इसका स्वभाव तो आनन्दस्वभाव है। इस आनन्द के स्वभाव के वेदन के द्वारा ज्ञात हो - ऐसा तू है। आहा...हा...! धन्य भाग्य! आहा...हा...! यह बात ही कान में पड़ना (कठिन है)। भाई! कहते हैं न ? कि यह सुनने को कहाँ मिले ? बात सत्य! यह कोई पक्ष नहीं, यह सत्य है। आहा...हा...! दूसरे को बुरा लगे, दूसरे को ऐसा लगे कि हमारी बात मिथ्या करते हैं (परन्तु) ऐसा नहीं है प्रभु! तेरा स्वभाव है, ऐसी जाति है, उसकी बात यहाँ चलती है। विशेष कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७६ **श्रावण शुक्ल ३, शनिवार, २५ अगस्त १९७९**

प्रवचनसार, १७२ गाथा, छठवाँ बोल। पाँच बोल हैं, वे नास्ति से आये हैं। इससे नहीं ज्ञात होता, इससे नहीं ज्ञान होता - तो किससे ज्ञान होता है ? यह छठवें बोल में आता है। समझ में आया ? भगवान आत्मा ज्ञाता ज्ञाता है, वह प्रत्यक्ष है। जिसे ज्ञातापना है, जिसे प्रत्यक्ष जानना होता है; जिसे अर्थात् ज्ञाता को अपने स्वभाव से... स्वभाव द्वारा प्रत्यक्ष जानना होता है। ऐसी बात है। देव-शास्त्र और गुरु के निमित्त से नहीं, इन्द्रियों से नहीं, मन से नहीं, विकल्प से नहीं... आहाहा! पर्याय के आश्रय से भी नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञाता है न ? बात बहुत सूक्ष्म!

(पहिले इन्द्रिय के बोल में) 'जिसे' था न ? 'जिसे' इन्द्रियों में था, जिसे इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। उसे यहाँ लिखा है। आहा...हा...! यह तो अन्दर मिलान किस प्रकार है ? जिसे — भगवान आत्मा ज्ञाता है उसे — **स्वभाव द्वारा जिसे ग्रहण होता है....** उसका स्वभाव शुद्ध (है तो) उसके शुद्ध परिणमन द्वारा उसका ज्ञान होता है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार से होता है, व निमित्त से होता है और देव-गुरु की भक्ति करते-करते आत्मा ज्ञात होता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! पर का लक्ष्य है, वहाँ तक पर के लक्ष्य से वह ज्ञाता हो - ऐसा नहीं है। आहा!

प्रश्न : देव-गुरु का उपदेश तो आवे ही न ?

समाधान : यह उपदेश है, वह निमित्त है और उसका जो ज्ञान हुआ, वह कहीं

निमित्त-वाणी से नहीं हुआ। उस ज्ञान से भी वह जानने में आवे, ऐसा नहीं है। स्वभाव द्वारा जानने में आता है, ऐसा कहा न? सुनकर जो ज्ञान हुआ, वह स्वभाव नहीं। ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! कठिन बात बापू!

प्रभु! तू कौन है? वह तो ज्ञाता है; तो ज्ञाता कैसे जानने में आवे? ज्ञाता आत्मा को... जिसे अर्थात् आत्मा को ज्ञाता कैसे ज्ञात हो? आहा...हा...! कि **लिंग द्वारा नहीं....** पाँच में लिंग द्वारा नहीं - ऐसा था न? यह अन्तिम शब्द (था) (अर्थात्) उसके द्वारा नहीं — इतना निषेध (नास्ति) से कहा। **परन्तु स्वभाव द्वारा...** आहा...हा...! रागरहित जिसका शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, उस चैतन्यस्वभाव की शुद्धपरिणति द्वारा, स्वभाव द्वारा ही, जिसे (अर्थात्) ज्ञाता को; स्वभाव द्वारा ही जिसे ज्ञान जानने में आता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं? यह तो मूल रकम की बात है। अभी तो बहुत फेरफार हो गया है। लोगों को ऐसा लगता है कि यह क्या (कहते हैं) परन्तु बापू! मार्ग तो यह है भाई! श्वेताम्बर में तो (एक साधु ऐसा कहता है कि) भगवान का निमित्त होकर फिर उपादान जागता है... परन्तु निमित्त के ऊपर लक्ष्य है, वहाँ तक उपादान जागता ही नहीं। आहा...! चाहे तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर, समवसरण में विराजमान (हों), उनके लक्ष्य से भी राग होता है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा ज्ञाता जिसे, स्वभाव द्वारा जिसे - ज्ञाता को ज्ञान होता है। आहा...हा...! बहुत अलौकिक बातें हैं! यह तो मूल सिद्धान्त है! अब यह लोग सब विवाद उठाते (हैं कि) कहीं व्यवहार साधन कहा है न? बहुत जगह कहा है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में (कहा है।) वह तो स्वभाव द्वारा साधन हुआ है, तब निमित्त को साधन का आरोप देकर, उससे हुआ - ऐसा कहा जाता है। अब क्या हो परन्तु? प्रभु! यह कहीं वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

ओहो...हो...! भगवान! जिसका ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है; इसलिए उस स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञातापना जानने में आता है। आहा...हा...! पहले तो यह कहा था न? **जिसे लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्रहण (-जानना) नहीं होता...** यह पहला बोल था। तब अब (कहते हैं) **जिसे...** आहा...हा...! भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टास्वभाव स्वरूप को स्वभाव द्वारा, उसे उसके स्वभाव का ज्ञान होता है। ज्ञाता का ज्ञान, स्वभाव द्वारा होता है।

ऐसी बात है! मूल रकम की बात है। अरे... ! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कहाँ जाए? क्या करे? अरे... ! चौरासी के अवतार... आहा...हा... !

भगवान तीन लोक के नाथ, देव-गुरु और शास्त्र की श्रद्धा भी राग है। आहा...हा... ! पर के लक्ष्य से नहीं परन्तु पर की श्रद्धा हुई, वह राग है। आहा...हा... ! राग द्वारा जिसे ज्ञाता का ज्ञान नहीं होता। आहा...हा... ! सामान्य ज्ञायक-ज्ञाता स्वभाव, उसकी स्वभाव अर्थात् शुद्धपरिणति द्वारा जिसे ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहाहा! ऐसी बात है! मुद्दे की गाथा है, भाई! बाकी सब बातें चाहे जितनी करे (सब व्यर्थ है।)

परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है, वह बात सन्त, जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! दिगम्बर सन्त! आहा...हा... ! श्वेताम्बर तो कदम-कदम पर राग की मन्दता से क्षयोपशम का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है - ऐसा लिखते हैं। आहाहा! भाई यह अन्तर है, बापू! यह तो सनातन जैन तत्त्व! वीतराग ने देखे हुए सर्वज्ञ स्वभाव से (देखे हुए तत्त्व हैं।)

कहते हैं कि यह सर्वज्ञस्वभाव जो है, उसकी पर्याय में, उसके स्वभाव द्वारा उसका - ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! बाकी सब बातें हैं। आहा...हा... ! भाई! (यह) ऐसा कहते हैं कि (ऐसा) सुनने को नहीं मिलता। बात ऐसी है, भगवान! क्या कहें? आहा...हा... ! तीन लोक के नाथ की यह पुकार है। प्रभु! स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहा...हा..हा... ! दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम से तो बन्ध होता है। अबन्धस्वरूपी भगवान-आत्मा, उस अबन्धस्वभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। आहा...हा... ! ऐसी बात है! समझ में आया?

लिंग द्वारा नहीं... निमित्त द्वारा नहीं, राग द्वारा नहीं, इन्द्रिय द्वारा नहीं। आहा...हा... ! व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प द्वारा नहीं। 'लिंग द्वारा' - में यह सब आया, प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं! तू राग से ज्ञात हो - ऐसा तू नहीं है। आहा...हा... ! बड़ों से मिलने जाना होवे तो कितनी सभ्यता चाहिए! आहा...हा... ! तो भगवान तीन लोक का नाथ ज्ञाता! उसे अन्तर निर्मल शुद्धस्वभाव वीतरागी परिणति द्वारा जिसे ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! स्वभाव द्वारा अर्थात् वीतरागीपर्याय द्वारा। जिसे स्वभाव द्वारा अर्थात् वीतरागीपर्याय द्वारा, जिसे ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! ऐसी बात है।

वह अलिंगग्रहण है... आहा...हा... ! **इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है...** ऐसा अर्थ अलिंगग्रहण में से निकलता है। आहा...हा... ! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने ऐसा कहा कि आत्मा अलिंगग्रहण है – लिंग से जानने में आवे, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! तो उसका अर्थ ऐसा हुआ... आहा...हा... ! कि मन से नहीं, वाणी से नहीं, देह से नहीं, राग से नहीं; पर्याय के लक्ष्य से भी द्रव्य ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! उसका स्वभाव जो शुद्ध चैतन्यमूर्ति, वैसी जो पर्याय,... क्षयोपशमज्ञान जो अनादि का है, उससे भी ज्ञात हो, वैसा नहीं है। आहा...हा... ! यहाँ कब जाये ? (यहाँ जावे), तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा... ! धर्म की पहली सीढ़ी ! धर्म का प्रथम सोपान ! आहा...हा... !

स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है। ज्ञाता द्रव्य को, स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है। आहा...हा... ! थोड़े शब्द गहन भाव ! सन्तों के शब्द हैं। दिगम्बर सन्त वीतरागी मुनि हैं। आहा...हा... ! जिन्हें आनन्द का उफान आता है ! अतीन्द्रिय आनन्द का ! जैसे समुद्र में पानी का ज्वार आता है; वैसे धर्मात्मा मुनि को, अतीन्द्रिय स्वभाव द्वारा जानने में आया, इसलिए उनकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का... आहाहा ! ज्वार आता है ! ! आनन्द की लहरें उछलती हैं। आहा...हा... ! मुनि है न ? सम्यग्दृष्टि को आनन्द है परन्तु वह अल्प है। इन्हें तो उग्र अतीन्द्रिय आनन्द की धारा (बहती है।) आहा...हा... ! परन्तु, वह भी कहते हैं कि हमें अतीन्द्रिय आनन्द की धारा से जो जानने में आया, प्रभु ! इतनी से हमें सन्तोष नहीं है। आहा...हा... ! हमें तो पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द से जाने, वह हमें चाहिए है। बहिन में आता है न ? पतली धारा ! उसमें बात यह है। आहा...हा... ! जैसे घड़े में से पतली धारा आती हो, वैसे भगवान आनन्द का भरपूर भरा हुआ घट है। आहा...हा... ! उसमें से, अन्तर लक्ष्य करने पर, स्वभाव द्वारा उसमें जाने पर अनन्त आनन्द की धारा पर्याय में आवे, उसके द्वारा वह ज्ञात हो – ऐसा है। आहा...हा... ! कठिन काम है, भाई ! अकेले बाड़ा (सम्प्रदाय) बाँधकर बैठे और लोगों को प्रसन्न रखने.. देखो ! भाई ! ऐसे व्यवहार से भी होता है, हाँ ! भगवान का स्याद्वादमार्ग है; एकान्त से स्वभाव से ही हो और व्यवहार से न हो – यह एकान्त है। अरे... ! प्रभु ! यह सम्यक् एकान्त ही है। सम्यक् एकान्त ही है। निश्चयनय, स्वभाव से ज्ञात हो – वह सम्यक् एकान्तनय है। आहा...हा... ! नय का विषय एकान्त स्वभाव है।

आहा...हा... ! गजब बात है ! क्या सन्तों ने किया और कहा !! क्या किया और क्या कहा ? आहा...हा... ! उसे कहने में यह बताते हैं। हमने क्या किया - यह कहने में बताते हैं। आहा... ! हमने स्वभाव द्वारा भगवान को जाना और विशेष उग्र स्थिरता द्वारा हम अनुभव करते हैं। आहा...हा... ! मुनिपना अर्थात् ? ओहो... ! गजब बात है ! परमेश्वर ! ज्ञानार्णव में तो कहा है कि पंचम काल में, अभी कोई दो-तीन साधु होते हैं - ऐसा लिखा है। आहा... ! अर्थात् थोड़े (होते हैं) ऐसा। यह (एक श्वेताम्बर साधु ने) लिया। कहा न ? ज्ञानार्णव में से (लिया कि) अभी दो-तीन (होते हैं) परन्तु तुम्हारे शास्त्र में यह बात नहीं है; यह तो ज्ञानार्णव की बात है, दिगम्बर ग्रन्थ की बात है। शुभचन्द्राचार्य का ज्ञानार्णव (ग्रन्थ) है। (उसमें) ध्यान का विषय है। उसमें कहा है कि ओहो... ! आत्मा का ध्यान, स्वभाव से आत्मा को पकड़े - ऐसा ध्यान और उसमें से उग्र रूप से पकड़े - ऐसी स्थिरता, सन्तों को होती है। वे जीव कोई भी हों, कोई दो-चार जीव हों - ऐसा लिखा है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : दो-चार से अधिक होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् थोड़े। दो-चार का अर्थ थोड़े। दो-तीन अर्थात् थोड़े-बहुत थोड़े, परन्तु झुण्ड के झुण्ड नहीं। बापू ! पंचम काल में नहीं होते, भाई ! सूक्ष्म बात, प्रभु ! स्थानकवासी और श्वेताम्बर में तो कोई साधु हो ही नहीं सकता, समकिती नहीं हो सकता, भाई ! आहा...हा... ! ऐसी बात है। यहाँ तो जो सनातन दिगम्बर सम्प्रदाय है; उसमें भी कहते हैं कि पंचम काल में बहुत थोड़े - दो-तीन साधु (होते हैं।) भाई ! फिर मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्टीकरण किया (है कि) दो-तीन कहे अर्थात् थोड़े लेना, बहुत थोड़े। आहा...हा... ! जिन्हें ध्यान में आत्मा पकड़ में आया... आहा...हा... !

अन्यत्र ऐसा कहा है न ? द्रव्यसंग्रह ! दो प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान में प्रगट होता है। आहा...हा... ! इस विकल्प के विचार द्वारा वह पकड़ में आये ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! उसका अन्तर-विकल्प टूटकर निर्विकल्प स्वभाव द्वारा अन्दर ध्यान में जाये, तब वह पकड़ में आये - ऐसा है। आहा...हा... ! अरे... ! ऐसी महंगी बातें ! कहते हैं कि सोनगढ़वालों ने समकित बहुत महंगा कर दिया - ऐसा कितने ही कहते हैं। अरे ! महंगा और सस्ता, बापू ! जैसा है, वैसा है। ऐसा कहते हैं बहुतों को समकित हो, बहुतों को देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा

(होती है)। यह तो कहते हैं समकित तो किसी को होता है, अरे! किसी को हो उसमें तू शामिल हो न! तू किसलिए ऐसा कहना चाहता है? आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान स्वभाव का चैतन्य परमात्मा! आहा...हा...! उस शुद्ध आनन्द की धारा द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। उस शुद्ध ज्ञान की परिणति द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। जिसे शुद्धपरिणति से जिसका ज्ञान होता है। आहा...हा...! अब यह बात...! कहो, यह कहीं सुना था?

मुमुक्षु : अभी समझ में आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत मुश्किल हो गयी, हाँ! पूरी बात चूक गयी। इसके ख्याल में भी यह बात न हो तो यह अन्दर किस प्रकार जायेगा? जिसके ख्याल में ऐसा आवे कि अन्तर के ध्यान से वह स्वभाव द्वारा पकड़ में आवे, ऐसा है, तब तो यह (बाहर से) हटकर अन्दर में ध्यान में जाये परन्तु जिसे पर से ज्ञात हो, ऐसा है (ऐसी श्रद्धा है), वह पर से हटेगा कहाँ से? आहा...हा...! कहो ऐसा स्वरूप है। ओ...हो...हो...! यथार्थ वास्तविक चीज यही है।

छठवाँ बोल - छठी का लेख! लोग छठी का लेख लिखते हैं न? यह छठवाँ (बोल) और एक (समयसार की) छठवीं गाथा — **ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो....** यह भी कहा। भगवान प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है। प्रमत्त-अप्रमत्त तो शुभ-अशुभभाव होवे तो यह प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद पड़ते हैं परन्तु भगवान आत्मा शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ क्योंकि शुभाशुभभाव है, व्यवहाररत्नत्रय का शुभभाव है, वह जड़ है। भगवान ज्ञानस्वभावी प्रभु है, वह जड़रूप हो तो जड़ हो जाये। वह चेतन भगवान, शुभभावरूप हो जाये तो जड़ हो जाये। आहा...हा...! समझ में आया? वहाँ कथन में है कि शुभाशुभभाव है, तद्नुसार यदि आत्मा हो जाये तो शुभाशुभ (भाव) तो जड़ हैं, अचेतन हैं। चैतन्यस्वरूप जो ज्ञातास्वरूप भगवान, जिसमें चैतन्य के प्रकाश के नूर के पूर भरे हैं। आहा...हा...! वह शुभाशुभभावरूप हो तो, शुभाशुभभाव तो अचेतन है, जिनमें ज्ञान का अंश नहीं है, वे तो जड़ हैं तो ज्ञायकस्वभाव भगवान, शुभाशुभरूप होवे तो जड़ हो जाये। अर...र! आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं। ऐसा कहीं सुनने को मिले ऐसा नहीं है। धूल में रुके, पैसे में और उसमें (रुके) आहा...हा...! प्रभु! तुझे कहाँ रुकना

है ? तेरा घर कहाँ है ? कि अन्दर में स्वभाव द्वारा ज्ञात हो – ऐसा तेरा घर है। आहा...हा... !

लिंग द्वारा नहीं.... अस्ति कहते हैं। नास्ति तो पाँच बोल में कही है। इसलिए सारांश में पहले ऐसा (कहा कि) **लिंग द्वारा नहीं....** नास्ति से बात नहीं की। **परन्तु स्वभाव द्वारा...** आहा...हा... ! चैतन्य के ज्ञाता-दृष्टा के, आनन्द के स्वभाव द्वारा... आहा...हा... ! जिसे ज्ञान होता है। स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है। आहा...हा... ! ग्रहण अर्थात् ज्ञान, हाँ ! जिसे – भगवान को; स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञाता का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! निश्चय सम्यग्दर्शन भी ध्यान में प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह कि स्वभाव द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् राग का लक्ष्य छूटकर स्वभाव में जाता है, तब ध्यान होता है। आहा...हा... !

विकल्प है, उसे तोड़कर अथवा तोड़े बिना अन्दर स्वभाव से ऐसे दृष्टि में जाये, वहाँ वह टूट जाता है। आहा...हा... ! ऐसे निर्विकल्प चैतन्य के स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है। शास्त्र से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! उसका ज्ञान शास्त्र से होता है अथवा उसे शास्त्र से ज्ञान होता है, ज्ञाता भगवान को शास्त्र से ज्ञान होता है – ऐसा वह नहीं है। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा...हा... ! धन्य भाग्य ! पहले इसकी दृष्टि तो करे। दृष्टि स्वभाव द्वारा करके अन्तर में जाये, तब उसे यथार्थ आत्मा जैसा है, वैसा ज्ञान होता है। आहा...हा... ! यहाँ मौके पर छठा बोल आया है, लो ! आहा...हा... !

तेरा रूप प्रभु ऐसा है, ज्ञाता-दृष्टा का रूप कि जिसे स्वभाव से ज्ञात हो – ऐसा वह है। आहा...हा... ! जैसे आँख द्वारा उस जगत का रूप दिखता है; वैसे अतीन्द्रियज्ञान की आँख द्वारा भगवान ज्ञात होता है, ऐसा वह है। अतीन्द्रियज्ञान के नेत्र द्वारा... आहा...हा... ! वह ज्ञात होता है। **इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है....** प्रत्यक्ष ज्ञाता है; (वह) परोक्ष नहीं रह सकता। आहा...हा... ! प्रकाश नाम का उसमें गुण है, जैसे भगवान आत्मा में ज्ञान आनन्द ऐसा गुण है, वैसा एक प्रकाश नाम का गुण है कि जिससे वह स्व-संवेदन से पकड़ में आये ऐसा है। प्रकाश गुण का स्वभाव यह है कि उसका आश्रय लेने से स्व-संवेदनपना प्रगट हो, उससे वह ज्ञात हो ऐसा है। आहा...हा... ! यह सब छोड़कर यहाँ तक जाना !

पहले ज्ञान में तो इस बात का निर्णय करे कि वह किसी प्रकार बाह्य के साधन से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। अन्तर राग से भिन्न पड़ने का प्रज्ञा साधन; वह प्रज्ञा साधन कहो

या स्वभाव कहो, उसके द्वारा वह भगवान ज्ञात हो, ऐसा है। आहा...हा...! अभी तो लोगों को प्रसन्न रखना, रंजन (करना ऐसा कहते हैं) भवाभिनन्दी! ऐसा होता है। भगवान से अन्य को लाभ होता है, भगवान की भक्ति करो तो भव घट जायेंगे... यहाँ कहते हैं कि भव नहीं घटेंगे, प्रभु! उसकी ओर के लक्ष्य में राग है, वह संसार है। प्रभु की पुकार है (कि) हमारी ओर का प्रेम है, वह राग है प्रभु! तुझे वह संसार है। आहा...हा...! भगवान (आत्मा) तो संसाररहित है, प्रभु का स्वभाव तो संसाररहित है। आ...हा...!

वैसे तो चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध कहा है, वह पर्याय में (असिद्ध कहा है)। वस्तु है, वह तो त्रिकाल सिद्धस्वरूपी ही है। वहाँ असिद्ध तो पर्याय की अपेक्षा से कहा है। वहाँ तक अभी पर्याय में संसार है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! वस्तु है, वह स्वभाव द्वारा ज्ञात हुई, उसमें तो असिद्धपना, उदयभाव या कुछ है ही नहीं। आहा...हा...! उसमें तो क्षायिकभाव भी नहीं है। आहा...हा...! ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। ओहो...हो...!

सम्यग्दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में भी ज्ञान पर की अपेक्षा रखे बिना स्वयं की अपेक्षा से हुआ ज्ञान है, वह ज्ञान, उस आत्मा को जानने का स्वभाव है, उस ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो ऐसा है। आ...हा...! अर्थात् ऐसा प्रत्यक्ष आत्मा है। आहा...हा...! ऐसे अलिंगग्रहण में से ऐसा अर्थ प्रगट होता है। आ...हा...! कुन्दकुन्दाचार्यदेव को अलिंगग्रहण में यह कहना है। आहा...हा...! छठवाँ बोल हुआ। यह द्रव्य की बात की।

अब उपयोग की (बात) करते हैं। आहा...हा...! **जिसके लिंग द्वारा....** आहा...हा...! **अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा....** आहा...हा...! जानने-देखने का जो उपयोग है, उस लक्षण द्वारा **ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है,....** आहा...हा...! जिसके ज्ञान में-उपयोग में ज्ञेय पदार्थों का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा...! जिसका उपयोग स्व-अवलम्बन से प्रगट हुआ है, उस उपयोग को परज्ञेय का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा...! पहले तो द्रव्य की बात की थी। अब उसके उपयोग की बात करते हैं। आहा...हा...!

जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है,.... उपयोग के लक्षण में ज्ञेय पदार्थ का अवलम्बन

नहीं है। आहा...हा...! जिसके उपयोग में ज्ञाता भगवान है, उसका अवलम्बन है। यह शास्त्र का अवलम्बन, भगवान की वाणी का अवलम्बन-इसके द्वारा उपयोग है नहीं। आहा...हा...! गजब बात है। यह वस्तु तो स्वभाव द्वारा पकड़ में आती है परन्तु उपयोग को भी परज्ञेय का अवलम्बन नहीं है, कहते हैं। अब उसकी परिणति की (बात करते हैं) आहा...हा...! धीरे से समझने जैसी बातें हैं, बापू! आहा...हा...! यह धीरजवान का काम है। आहा...हा...! उतावलेपन से आम नहीं पकते - ऐसा कहते हैं न? गुठली बोयी तो तुरन्त आम हो जाते हैं? इसी प्रकार यह धीरज से देखने का काम है, एकदम उतावल से ऐसा कर डाला, ऐसा कर डाला, ऐसा नहीं है, बापू! आहा...हा...!

उपयोग नाम का लक्षण आत्मा का - भगवान आत्मा का है, उसे ज्ञेय पदार्थ का अवलम्बन ही नहीं है। उपयोग को ज्ञेय पदार्थ का अवलम्बन नहीं। आहा...हा...! उपयोग को ज्ञेय पदार्थ का आधार नहीं है। आहा...हा...! शास्त्र भी ज्ञेय है, देव-गुरु भी ज्ञेय है। ज्ञेय है न? इन्द्रिय में नहीं आया? कि जड़ इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और भगवान भी ज्ञेय है, इन्द्रिय है। आहा..! कहते हैं कि जिसके उपयोग को परज्ञेय का अवलम्बन नहीं है, आहा...हा...! ऐसा उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा है। ऐसी बातें हैं।

जिसके लिंग द्वारा अर्थात्.... उपयोग नाम का तो उसका लक्षण है, उस लक्षण द्वारा ज्ञान होता है परन्तु उसके द्वारा ज्ञेय पदार्थ का अवलम्बन नहीं है। जिसका लक्षण ही उपयोग-ज्ञान है, उसे ज्ञेय पदार्थ के अवलम्बन से उपयोग लक्षण है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस उपयोग का अवलम्बन तो द्रव्य है। आहा...हा...! संवर अधिकार में कहा न? उपयोग में उपयोग है। रागादि और व्यवहार के विकल्प में उपयोग नहीं है। आहा...हा...! उपयोग में (अर्थात्) जो शुद्ध उपयोग लक्षण है, उसमें आत्मा है। उसके द्वारा ज्ञात होता है, इसलिए उसमें वह आत्मा है। आहा...हा...! राग का उपयोग, वह आत्मा नहीं, उसमें आत्मा ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...! यहाँ ऐसा कहना है, उपयोग नाम का उसका लक्षण है, उस लक्षण का अवलम्बन-लक्ष्य कहो परन्तु परज्ञेय के अवलम्बन से वह लक्षण होता है, वह लक्षण उत्पन्न होता है - ऐसा है नहीं। आहा...हा...! जानने का जो उपयोग है, वह उपयोग ज्ञेय के अवलम्बन से हुआ है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह

ज्ञेय को जानता है; वह ज्ञेय है, इसलिए जानता है – ऐसा नहीं है। वह जानने का उपयोग ही स्वत: से हुआ है, उसका लक्षण ही यह है। वह ज्ञेय को जानता है, इसलिए उपयोग का पराधीनपना है – ऐसा नहीं है। वह ज्ञेय को जानता ही नहीं। आहा...हा... ! वह तो उपयोग जो उसका लक्षण है, उस द्वारा भगवान ज्ञात हो, ऐसा है। उस उपयोग को ज्ञेय का अवलम्बन नहीं है परन्तु भगवान (आत्मा) का अवलम्बन है। आहा...हा... ! तीर्थंकर की वाणी और तीर्थंकर का भी.... उपयोग लक्षण जिसका है, उसमें उनका अवलम्बन कहाँ है ? समझ में आया ? आहा...हा... ! वस्तु दुर्लभ है बापू ! अशक्य नहीं, दुर्लभ है। आहा...हा... !

यह अपने उपयोग को जानने-देखने की दशा होती है, वह तो उसका लक्षण है। उसका लक्षण है, उसे इसका (पर का) अवलम्बन नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ओहो...हो... ! उपयोग को शास्त्र का भी अवलम्बन (नहीं है)। शास्त्र ज्ञेय है, भगवान भी ज्ञेय है, उनकी वाणी भी ज्ञेय है। भगवान आत्मा का जानन-लक्षण तो लक्ष्य का लक्षण है, द्रव्य का लक्षण है। उस लक्षण को ज्ञेय का अवलम्बन नहीं है। ओहो...हो... ! उपयोग पर के अवलम्बन बिना प्रगट होता है, क्योंकि यह तो भगवान आत्मा का लक्षण है। जिसका लक्षण है, वह लक्षण दूसरे अवलम्बन से कैसे प्रगट हो ? आहा...हा... !

भगवान की मूर्ति, पूजा और वाणी के द्वारा उपयोग प्रगटे ? लक्षण तो भगवान आत्मा का है। लक्षण उसका है तो उसमें से तो लक्ष्य / द्रव्य में जाता है और उसके लक्ष्य से लक्षण है। आहा...हा... ! वह लक्षण पर के उपयोग के लक्ष्य से नहीं है, ज्ञेय के अवलम्बन से उपयोग नहीं है। द्रव्य की तो क्या बात करनी परन्तु उसके उपयोग की परिणति को पर का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी बातें, भाई ! यह तो वीतराग परमेश्वर जैन परमेश्वर ! उनकी यह स्थिति है, उनका यह शासन है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा राग से या विकल्प से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। यह तो एक ओर रखो परन्तु उसका जो उपयोग लक्षण है... आहा...हा... ! जो भगवान आत्मा का उपयोग लक्षण है – 'उपयोगोजीव' उपयोग वह जीव है, अर्थात् लक्षण उपयोग वह जीव है। आहा...हा... ! उस उपयोग को ज्ञेय — ईश्वर-परमेश्वर उनकी वाणी या शास्त्र का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा... ! लोगों को कठिन लगता है। एक ओर ऐसा कहना कि जिनप्रतिमा जिनसारखी और जिनप्रतिमा के अवलम्बन से उपयोग होता है – ऐसा प्रभु इनकार करते हैं।

प्रश्न : साक्षात् जिनेश्वर होवे तो भी ?

समाधान : साक्षात् जिनेश्वर कहा न — जिनप्रतिमा जिनसारखी। जिन नाम से जिनप्रतिमा। आहा...हा... !

अपने इस उपयोगलक्षण को उस ज्ञेय का अवलम्बन-आधार नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी बातें... भाई ! वहाँ कहीं मिले ऐसा नहीं है। मुम्बई में पूरे दिन हा-हो, हा-हो, होली (सुलगती है) उसमें फिर नौकरी ऐसी मिले... आहा...हा... !

प्रश्न : क्या करना ?

समाधान : यह करना। यह बात तो चलती है कि जीव को जानने के लिये पर का अवलम्बन तो है नहीं परन्तु उसके उपयोगलक्षण को भी पर का अवलम्बन नहीं है - ऐसा निर्णय करना। आहा...हा... ! अरे...रे... ! अभी तो ऐसी गड़बड़ उठी... सेवा करो, जगत् की सेवा करो, लो ! दुःखी को ऐसा करो, पैसे की मदद करो, तुम्हें धर्म होगा ! भाई ! अरे...रे ! जिसे (यह) वस्तु सुनने को नहीं मिले, वह कब अन्तर के लक्ष्य में जाये ? आहा...हा... !

उपयोग लक्षण द्वारा द्रव्य ज्ञात हो — ऐसा जो लक्षण है, वह ज्ञेय के अवलम्बनवाला नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! क्योंकि उपयोग है न ? परिणति है न ? द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाली है परन्तु उसका लक्षण जो है-ज्ञान उपयोग है... आहा...हा... ! उसे भी परज्ञेय के अवलम्बन की स्थिति ही नहीं है; वह तो स्व-अवलम्बन से उपयोग प्रगट हुआ है। आहा...हा... ! सम्यग्ज्ञान का उपयोग स्व-त्रिकाल भगवान के अवलम्बन से प्रगट हुआ है, उसे परज्ञेय का अवलम्बन किंचित नहीं है। आहा...हा... ! भगवान की वाणी मिली, इसलिए उपयोग अच्छा हुआ.... आहा...हा... ! भगवान मिले, इसलिए उपयोग लक्षण प्रगट हुआ... परन्तु द्रव्य का उपयोग लक्षण तो त्रिकाल है। आहा...हा... ! उस लक्षण को प्रगट होने के लिये पर के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है। आहा...हा... ! इसलिए उसमें से निकाल देते हैं कि देखो ! भगवान की मूर्ति ही नहीं है परन्तु यहाँ तो निश्चय की बात है। जब राग आता है तब राग में इसका लक्ष्य वहाँ जाता है, उसे भी जानता है परन्तु बिल्कुल भगवान की पूजा का राग आता ही नहीं, वीतराग हुए बिना राग आता ही नहीं — ऐसा नहीं होता, तथापि वह राग, उपयोग को मदद करता है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... !

राग भी परज्ञेय है, उपयोग को परज्ञेय का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ?

धीमे से तो बात चलती है भाई! थोड़ा विचार भी करते जाओ। आहा...हा...! ऐसे का ऐसा सुने वह भी (काम का नहीं है)। थोड़ा विचार भी करना चाहिए न ? आहा...हा...! ऐसा अवसर कब मिले ? आहा...हा...! निगोद में से निकलकर लट होवे तो कहते हैं कि चिन्तामणि हाथ में आया ? आहा...हा...! इतने अधिक निगोद के जीव पड़े हैं! यह नीम के फूल अभी खिरते हैं। यह तो भाद्रपद महीना है तो भी फूल खिरते हैं। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए... आहा...हा...! इतने फूल (होते हैं कि) पैर रखना मुश्किल पड़ता है। एक-एक फूल में एक टुकड़े में असंख्य शरीर! एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुने जीव।

यहाँ एक साधु आये थे, (तब) नीम के कोर नीचे पड़े थे (तो भी) उनके सामने देखे नहीं, कुचल-कुचल कर चले! अरे! यह तू क्या करता है ? प्रभु! आहा...हा...! इस नीम को कोर बहुत थी। आये थे न ? नाम नहीं बताते, आहार करके आये थे। नीचे देखे नहीं कि यह क्या है ? कुचल-कुचलकर आये। अरे...रे! अरे भाई! वे अनन्त आत्माएँ हैं। आहा...हा...! अरे! उसमें तो प्रभु! तेरे पूर्व के अनन्त माता-पिता वहाँ बैठे हैं। अनन्त काल में अनन्त माता-पिता किये, भाई! वे वहाँ अन्दर बैठे हैं, तू किसे कुचलता है ? आहा...! तेरा उपयोग पर में इतना क्यों जाता है ?

उपयोग को पर के ज्ञेय का अवलम्बन नहीं है। आहा...हा...! सामने ऐसा निमित्त है, इसलिए ऐसा उपयोग प्रगट हुआ - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वह स्व-पर प्रकाशक लक्षण स्वत: स्वयं से प्रगट होता है। आहा...हा...! अभी तक द्रव्य की बात करते (थे)। पाँच (बोल में) नास्ति- (इससे) नहीं ज्ञात होता, नहीं ज्ञात होता (ऐसा कहा)। छठवें (बोल में ऐसा कहा कि) वस्तु ज्ञाता-दृष्टा वस्तु ज्ञात होती है - ऐसा कहा। अब सातवें (बोल में) उसका उपयोग लिया। आहा...हा...! गजब शैली है! आहा...हा...!

यह सुन्दर शरीर दिखे परन्तु प्रभु! यह तो जड़ है, मिट्टी है न! इसे जानने से यह है; इसलिए ज्ञान हुआ (- ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! यहाँ इस भव में एक बार अग्नि उठेगी हड़... हड़... हड़... हड़... बापू! यह तो जड़ है। आहा...हा...! इसकी ओर के कारण तुझे जानने का उपयोग होता है, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। ज्ञान में वह ज्ञात हुआ,

इसलिए उससे उपयोग हुआ (ऐसा नहीं है) । आहा...हा... ! बहुत ही गम्भीरता ! अलिंगग्रहण में आचार्य महाराज ने (बहुत भर दिया है) । अमृतचन्द्राचार्यदेव हजार वर्ष पहले दिगम्बर सन्त (हुए) मोर-पिच्छी, कमण्डल (रखते थे) । वह भी बाह्य उपकरण मानते और वाणी को तथा सूत्र अध्ययन को भी बाह्य उपकरण मानते हैं । गजब बात है ! आहा...हा... ! सूत्र का अध्ययन करना, वह बाह्य उपकरण है ! ओहो...हो... ! वे बाह्य उपकरण इसके उपयोग को अवलम्बन नहीं है । आहा...हा... !

क्या कहते हैं ? यह सुनते ही अन्दर जो ज्ञान होता है, इसलिए उस उपयोग को सुनने का निमित्त है, आधार है – ऐसा नहीं है । उसका उपयोग भगवान आत्मा का तो लक्षण है । वह लक्षण है, वह पर के अवलम्बन से कैसे हो ? जिसका लक्षण है, वह परावलम्बन से कैसे हो ? आहा...हा... ! भाई ! ऐसी बातें हैं । आहा...हा... ! कुछ पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिले वहाँ तो (ओहोहो हो जाता है) और उनके कारण यहाँ ज्ञान होता है (ऐसा नहीं है) ज्ञान, हाँ ! (ज्ञान) उनका तो नहीं परन्तु उनके कारण जानना होता है – ऐसा भी नहीं है । आहा...हा... ! लक्ष्मी आदि बाह्य पदार्थ जीव के हैं नहीं, परन्तु उन्हें जानने से उनके कारण जानने का उपयोग हुआ, वह भी नहीं है । आहा...हा... ! यह चीज तो जीव की नहीं, द्रव्य की नहीं और उसके उपयोग की नहीं । आहा...हा... ! शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, आबरू-कीर्ति, स्त्री, पुत्र, यह मकान — यह सब आत्मा के तो नहीं, उसके उपयोग के तो नहीं परन्तु उपयोग को उनका अवलम्बन भी नहीं । आहा...हा... ! ऐसी बातें सुनने मिलना मुश्किल पड़ती है । आहा...हा... ! है ?

ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान.... नहीं है । आहा...हा... ! उसका जो अन्दर ज्ञान होता है, वह बाह्य पदार्थ के अवलम्बनवाला ज्ञान नहीं है । तीन लोक के नाथ के उपयोगवाला जो ज्ञान है, वह स्व के अवलम्बनवाला ज्ञान है । ऐसा कहते हैं कि शास्त्र के वचन कान में पड़े, आँख से देखे, इसलिए उस उपयोग को उनका अवलम्बन है (– ऐसा नहीं है) आहा...हा... ! उपयोग की अस्ति उस ज्ञेय के कारण है – ऐसा नहीं है, कहते हैं । समझ में आया ? आहा...हा... ! थोड़ा कहा बहुत जानना – ऐसा लोग कहते हैं न ? भाई ! विवाह के समय नहीं लिखते ? विवाह हो तो दामाद को लिखते हैं, वह (दामाद) सत्ताप्रिय

हो (तो लिखते हैं) सही अवसर पर आना, थोड़ा लिखा बहुत जानना। आहा...हा...! इसी प्रकार सन्त कहते हैं कि इस उपयोग का पर का अवलम्बन नहीं है। यह थोड़ा कहा, अन्दर से जान लेना। आहा...हा...! ओहो...हो...!

जो उपयोग का लक्षण है, वह तो आत्मा का है; वह लक्षण पर के अवलम्बनवाला लक्षण कैसे हो? दूसरे प्रकार से कहें तो वह लक्षण दूसरे का लक्ष्य करता है, इसलिए उपयोग है – ऐसा नहीं है। यह क्या कहा? उपयोग नाम का लक्षण है, वह पर का लक्ष्य करता है; इसलिए उपयोग लक्षण है (– ऐसा होवे) तब तो उपयोग लक्षण, लक्ष्य का हो गया (अर्थात्) पर का हो गया। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! ऐसी बातें!

भाई! वीतराग सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु, सर्वज्ञ स्वभावी नाथ को तो पर्याय का भी आश्रय नहीं है परन्तु उसके उपयोग के लक्षण को शास्त्र के शब्दों (के प्रति) भगवान की नजर पड़ी, इसलिए वह उपयोग उनके अवलम्बन से प्रगट हुआ – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! परन्तु पहले वह उपयोग नहीं था और फिर वही उपयोग हुआ तो उसका लक्ष्य हुआ, तब उसका उपयोग उस कारण हुआ या नहीं? आहा...हा...! सन्तों ने तो जगत को निहाल कर दिया है। आहा...हा...!

भाई! तेरा द्रव्य तो स्वतन्त्र निरालम्बी है परन्तु तेरा उपयोग है, वह लक्षण तो द्रव्य का है। वह लक्षण दूसरे को लक्ष्य करे तो लक्षण प्रगट हो (– ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! जो लक्षण है, वह तो जीवद्रव्य का लक्षण है, तो उस लक्षण को लक्ष्य का अवलम्बन हो तो लक्ष्य का लक्षण हो गया। वह तो वस्तु का लक्षण वहाँ गया, तो ऐसा तो है नहीं। आहा...हा...! क्या आचार्यों ने दिगम्बर सन्तों ने तो जगत को (निहाल कर दिया है)! ऐसी चीज कहीं है नहीं! आहा...हा...! श्वेताम्बर में भी बड़ी गड़बड़! (उनके एक साधु) लिखते हैं न? उनमें बहुत बात रह गयी हो (शुरुआत में उसमें से) जब निकले तो अमुक बात तो रह गयी हो, रही हो, परन्तु उसका सारांश–पर के अवलम्बन से होता है। भगवान के द्रव्य के अवलम्बन से भाव होता है और उस भाव से फिर धर्म होता है! यह तो वीतराग का शासन है, इसमें दिगम्बर सन्तों ने प्रसिद्धि की है कि हमारा उपयोग, गुरु ने कहा उनके अवलम्बन से प्रगट हुआ — ऐसा नहीं है, क्योंकि वह उपयोग लक्षण तो द्रव्य का है। वह

उपयोग लक्षण कहीं ज्ञेय का है कि ज्ञेय के अवलम्बन से उपयोग प्रगट हो ? आहा...हा... ! मिथ्यात्व को गलाने का यह मार्ग है। आहा...हा... !

इस प्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला.... आहा...हा... ! भगवान की वाणी के आलम्बनवाला वह उपयोग नहीं है। आहा...हा... ! वह उपयोग तो आत्मा का उपयोग, वह आत्मा का लक्षण है। उसमें उपयोग की शुद्धि बढ़े, इसलिए ज्ञेयों के अवलम्बन से बड़ी है – ऐसा नहीं है। बहुत पढ़ा, बहुत सुना; इसलिए उपयोग अधिक शुद्ध हुआ – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! वीतराग के अतिरिक्त यह बात कहाँ होगी ? भाई ! आहा... ! वीतराग ऐसा कहते हैं कि हमारे सन्मुख देखने से तुझे तेरे लक्षण का उपयोग प्रगट होगा – ऐसा नहीं है। तेरे उपयोग को हमारा अवलम्बन (होवे और) हमें देखने से तुझे उपयोग हो, वह तू नहीं है। आहा...हा... ! वह आत्मा का लक्षण है (तो) आत्मा को देख। आहा...हा... ! समझ में आया ?

बाह्य पदार्थ (कहा तो) बाह्य में तो सर्वज्ञ आये, उनकी वाणी आयी, शास्त्र आये। जिस-जिस काल में वह ज्ञान उपयोग होता है, उस-उस काल में उस ज्ञेय का ज्ञान तो होता है परन्तु उस ज्ञान को अवलम्बन उसका नहीं है, वह तो स्वयं से प्रगट हुआ है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १७७ **श्रावण शुक्ल ४, रविवार, २६ अगस्त १९७९**

प्रवचनसार, अलिंगग्रहण (के) सात बोल चले हैं। यह भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन, यह कोई राग से या निमित्त से पकड़ में आये, ऐसी चीज नहीं है। आहा...हा... ! अनन्त काल से चार गति में भटकते हुए चौरासी के अवतार करते-करते ऐसे दुःख इसने सहन किये हैं, इसका इसे पता नहीं है। बाह्य में किंचित् थोड़ी सुविधा जहाँ मिले, वहाँ ऐसा मानता है कि हम सुखी हैं — ठीक है। वह दुःखी है, भाई ! तुझे पता नहीं है। आनन्द के नाथ को जहाँ तक नहीं सम्हाले और राग की क्रिया में रुक जाये, वह दुःखी है। भले बाहर से पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ दिखे, सुन्दर शरीर दिखे (तो भी) वह बेचारा दुःखी प्राणी है, क्योंकि आत्मा आनन्द और शान्ति की सम्पदा का घर प्रभु है,

ऐसी सम्पदा के नाथ को कभी देखा नहीं। ऐसा चैतन्य रत्नाकर प्रभु, उसका इसने कभी आदर नहीं किया और अनादर करके, राग का आदर करके, मिथ्या भ्रान्ति से आत्मा की शान्ति का नाश करता है। आहा...हा...!

प्रश्न : पर्याय में शान्ति तो थी ही नहीं, फिर नाश कहाँ से होगा?

समाधान : स्वभाव में शान्ति है, उसे पर्याय में प्रगट होने का नाश किया है। कर्ता-कर्म (अधिकार में) नहीं आता? भाई! ६९-७० (गाथा) निर्मल पर्याय की उदासीन अवस्था को छोड़कर... ६९-७० समयसार! (उदासीन अवस्था) है नहीं परन्तु उसे प्रगट तो निर्मल आनन्द होना चाहिए, प्रभु! आहा...हा...! निर्मलानन्द के नाथ की दशा निर्मल दशा, आनन्द की दशा होनी चाहिए, उसे नहीं करके... ऐसा पाठ है न? ६९-७० (गाथा में) यह बात बहुत सरल है। कर्ता-कर्म है न? आहा...हा...!

अब यहाँ जो यह आत्मा अपने अज्ञानभाव से ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके.... इसका अर्थ क्या हुआ? आहा...हा...! प्रभु तो आनन्द और शान्त सागर है, उसमें से निर्मल शान्त अतीन्द्रिय आनन्द की दशा होनी चाहिए। कर्ता-कर्म का अधिकार है न? आहा...हा...! भगवान आत्मा, **आत्मा अपने अज्ञानभाव से...** ओ...हो...! स्वरूप क्या है? - उसका उसे भान नहीं। बाहर की रखड़पट्टी करके चौरासी के अवतार में मर गया है।

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरी जो निर्मलदशा उत्पन्न होनी चाहिए, उसे छोड़कर... ऐसा कहा। है? **ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्था...** ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय होनी चाहिए। आहा...हा...! इसे छोड़कर - उसका **त्याग करके....** त्याग करके अर्थात्? थी उसका त्याग (किया) — ऐसा नहीं। जो अवस्था ऐसी होनी चाहिए (वह नहीं हुई, उसे त्याग किया - ऐसा कहा) आहा...हा...! सूक्ष्म बातें भाई! इसने अनन्त काल में वास्तविक सत्य क्या है, इसका पता नहीं। यह सब बाहर के चतुर के लड़के कहलाते हैं, वे सब मूर्ख चौरासी के अवतार में भटककर मरते हैं। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **(ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्था का त्याग करके....** भाषा देखो!

यह क्या कहा ? कि स्वरूप तो आनन्द और सच्चिदानन्द प्रभु है, उसकी अवस्था तो निर्मल आनन्द और निर्मल ज्ञान (रूप) दशा होनी चाहिए। इस अज्ञानभाव के कारण उस दशा का त्याग कर देता है। आहा...हा... ! अर्थात् दशा उत्पन्न तो वह होनी चाहिए – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! प्रभु ! आनन्द का नाथ, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का दल है, प्रभु ! अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के सागर के अज्ञान के कारण जो अतीन्द्रिय आननद की दशा होनी चाहिए, उसका त्याग करके... भाषा तो देखो ! आहा...हा... ! समझ में आया ?

आहा...हा... ! प्रभु ! तू अनन्त आनन्द का दल है। अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। आहा...हा... ! जैसे मिश्री मिठास से भरपूर है, प्रभु ! इसी प्रकार तेरा नाथ आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। वह अपने स्वभाव के अज्ञान के कारण जो आनन्द की ज्ञाता-दृष्टा की अवस्था होनी चाहिए, उसका त्याग करता है। अरे...रे ! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, बापू ! जगत यह सब बाहर का लाल-पीला देखकर मोहित होकर मर गया है। अन्तर का नाथ अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु वीतरागस्वभाव से भरपूर भगवान (विराजता है)। उसके अज्ञान के कारण, उसके भान बिना... आहा...हा... ! उसकी दशा तो ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द की होना चाहिए, उसे अज्ञानी उसका त्याग करके (परिणमित होता है)। आहा...हा... ! ऐसी बात है प्रभु ! आहा...हा... ! अरे...रे ! दुनिया कहाँ भटकती है ? आहा...हा... !

आज एक घोड़ा देखा, घोड़ा ! उसे पानी में (कुछ हो गया था तो) चल नहीं सकता, बैठ नहीं सकता। अब यह पानी अच्छा हो तब व्यक्ति बैठ सकता है, वहाँ तो हो गया... मर गया। आहा...हा... ! ऐसा अवतार ! परन्तु बाहर की जरा सी इस धूल की सुविधा देखे (वहाँ) मूढ़ होकर आत्मा को मार डालता है। आनन्द का नाथ जीवित ज्योत है, उसे न स्वीकार करके 'तू नहीं, मुझे तो यह राग और दया, दान या व्रत और भोग का राग, वह मेरा और वह मुझे मजा' ऐसी दृष्टिवन्त ने चैतन्य को मार डाला है। भाई ! ऐसी बातें हैं बापू ! ऐसी बात सुनना कठिन पड़ती है। भाई ! आहा...हा... !

कहते हैं कि ऐसी अवस्था का त्याग करके... तो अवस्था का त्याग करके (कहा तो) अवस्था थी ? परन्तु भगवान आनन्द के नाथ को तो निर्मल अवस्था होनी चाहिए,

वीतरागी आनन्द की दशा होनी चाहिए। आहा...हा...! भाई! उस स्वरूप के अज्ञान के कारण, उस आनन्द की दशा की उत्पत्ति का त्याग करके... आहा...हा...! **अज्ञानभवन व्यापार...** आहा...हा...! राग का भाव जो शुभ-अशुभभाव, उसे यहाँ क्रोध कहा है। अर्थात्? स्वरूप की अरुचि की और राग की रुचि की, उसने आत्मा के प्रति क्रोध किया है, प्रभु! आहा...हा...! सूक्ष्म बातें हैं बापू! अभी सम्प्रदाय में चलता है, वह पूरी लाईन अलग है। यह मार्ग ही कोई अलग है। आहा...हा...! दुनिया की तो खबर है या नहीं? आहा...हा...!

कहते हैं प्रभु! एक बार सुन! आ...हा...! कर्ता-कर्म में बात तो देखो! आहा...हा...! प्रभु! तू आनन्दस्वरूप है न! अतीन्द्रिय आनन्द, हाँ! यह इन्द्रिय का आनन्द तो दुःख, राग और क्लेश है, भाई! यह छह-छह हजार का वेतन और आठ हजार का वेतन... दुःखी है। यह तो अपने (एक मुमुक्षु का) लड़का नहीं? टाटा में है, दस हजार का वेतन! दूसरा एक गाँव में है, उसे पन्द्रह हजार का वेतन (है), मुम्बई में है। आहा...हा...! एक का पन्द्रह हजार का है, एक को दस हजार का है, एक को आठ हजार का है, धूल भी ऐसी तो पन्द्रह-पन्द्रह हजार क्या, बीस लाख, लाखों मिले उसमें क्या हुआ? यह लाख जड़, धूल है, यह मिली उसमें तुझे क्या मिला? प्रभु! मिली ममता! अर्थात् दुःख। ये दुःख के निमित्त हैं - ऐसा शास्त्रपाठ है। पैसा, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार ये सब दुःख के निमित्त हैं। आहा...हा...! निमित्त हैं अर्थात्? उससे दुःख होता नहीं, दुःख तो स्वयं खड़ा करता है। आहा...हा...!

अतीन्द्रिय आनन्द का सागर अन्दर उछलता है, प्रभु! आहा...हा...! उस पर अज्ञानी की अनन्त काल में नजर नहीं और जिसमें नजर है, वहाँ वह आत्मा नहीं। आहा...हा...! राग और पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव (होते हैं), वहाँ इसकी नजर (है परन्तु) वहाँ आत्मा नहीं है। आहा...हा...! इसीलिए भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने गाथा कही, उसका अमृतचन्द्राचार्यदेव अर्थ करते हैं।

आहा...हा...! यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव, यह अमृतचन्द्राचार्यदेव! आहा...हा...! दिगम्बर सन्त चलते सिद्ध हैं!! आहा...हा...! अरे...रे! ऐसे सन्तों का विरह पड़ा!

आहा...हा... ! भगवान का (तो) विरह पड़ा, परन्तु सच्चे सन्त का विरह पड़ा!! आहा...हा... ! यहाँ तो (हम) वहाँ थे और विरह पड़ा – ऐसा कहते हैं न ? हम तो भगवान के पास थे, सन्तों के पास थे, उनका विरह पड़ा। शरीर में रोग ऐसा (हुआ कि) सहन नहीं हुआ। इस समय के मारे यहाँ आ पड़े हैं।

यहाँ परमात्मा कहते हैं.... 'बखा ना मार्या' समझ में आता है ? बखो अर्थात् वक्त। यहाँ अपने एक बाई थी। पानी भरती थी न ? एक बाई थी, बाई दिखने में अच्छी लगती थी, साधारण गरीब जैसी नहीं दिखती थी; इसलिए मैंने जरा पूछा – बहिन ! तुम यहाँ पानी क्यों भरती हो ? (उसने कहा) – महाराज ! वक्त के मारे आ पड़े हैं। लड़का ऐसा हुआ है कि महा हैरान करता है। पति को बेचारे को रेलवे का वेतन मिले, आहा...हा... ! समय बुरा ऐसा आया... 'बखा ना मार्या' – ऐसी काठियावाड़ी भाषा है न ? 'बखा ना मार्या' – वक्त के मारे यहाँ आये हैं। (मैंने) कहा – बहिन ! तुम वैसे गरीब दिखती नहीं हो, बहिन ! यह क्या है यह ? तुम लड़कों को पानी पिलाती हो। (उसने कहा) महाराज ! हमें गरीबी हुई है। लड़का ऐसा जगा है, पति साधारण काम करते हैं, (इसलिए) मुझे ऐसी नौकरी करनी पड़ती है। आहा...हा... ! यहाँ बहुत वर्ष पहले (थी।) आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! तू तो आनन्द का नाथ ! तुझे तेरा विरह ! आहा...हा... !

मुमुक्षु – तुझे तेरा विरह

पूज्य गुरुदेवश्री – क्या कहा ?

मुमुक्षु – तुझे तेरा विरह।

पूज्य गुरुदेवश्री – यहाँ यह बात है। आहा...हा... ! विद्यमान चीज अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु अन्दर पड़ा है। अन्तर (में) अतीन्द्रिय आनन्द का सागर डोलता है। उसके सन्मुख न देखकर, उसके अज्ञानभाव के कारण, जो आनन्द की, शान्ति के सागर में से शान्ति उछलनी चाहिए, अतीन्द्रिय आनन्द जहाँ आना चाहिए, उसका त्याग करके... ऐसा कहते हैं। भाई ! ऐसी बातें हैं बापू ! ऐ... जवानी झोला खायेगी, बापू ! यह वृद्धावस्था आयेगी, (तब) ऐं... ऐं... हो जाएगा। यह शरीर अग्नि में जलेगा। हड... हड... हड... जलेगा, बापू ! यह तो जड़ है, प्रभु ! आहा...हा... ! चैतन्य जले, ऐसा नहीं है। भगवान

आनन्द का नाथ! आज तो इतने शब्दों में इस बात की व्याख्या करते हैं। समझ में आया? बहुत बात आयी। सन्तों की ऐसी बात कहीं है नहीं।

भावलिंगी सन्त, अनुभवी, आनन्द के सागर! वे ऐसा कहते हैं प्रभु! तू अनादि के तेरा अज्ञान के कारण... तेरी चीज है, उसके बेभान(पने) के कारण.... बेभान अर्थात् बेभान होगा? बेभान का अर्थ - भान नहीं। वरना तो भाषा ऐसी है - बेभान - बे-भान। यह पारसी भाषा है, पता है? यह पारसी की भाषा है। आहा...हा...! तुझे तेरी खबर बिना। खबर बिना, बाहर में खबरदार होकर,प्रभु! तू मर गया है। आहा...हा...! तूने तेरे चैतन्य की झलहल, ज्योति का अनादर करके, राग का आदर करके प्रभु को मार डाला है। है न, कलश टीका में? भाई! मरणतुल्य कर डाला। विद्यमान जागती ज्योति अन्दर चिदानन्द भगवान परमात्मा को तूने मरणतुल्य कर डाला। तीर्थंकर त्रिलोकनाथ और सन्तों की वाणी से वह भ्रान्ति नाश हो सकती है, अर्थात् उसे समझे तो (नाश हो सकती है।)

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव और सन्त! सन्त, वे वीतरागी सन्त हैं, बापू! इन सन्तों की सन्तदशा कोई अलौकिक है! आहा...हा...! बाहर से नग्न हो गये और क्रियाकाण्ड करके सन्त हो गये, वे (सन्त) नहीं, बापू! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि (उदासीन ज्ञाता-दृष्टा) अवस्था का त्याग करके... भाषा तो देखो! अरे... नाथ! तेरी अवस्था तो अन्दर आनन्द की, ज्ञाता-दृष्टा की, शान्ति की होनी चाहिए, क्योंकि तू आनन्द और ज्ञाता-दृष्टा है। है, उसमें से ज्ञाता-दृष्टा की दशा होनी चाहिए। आहा...हा...! वास्तव में है, उसमें से आनन्द की दशा होनी चाहिए। आहा...हा...! परन्तु उसका त्याग करके **अज्ञानभवन व्यापाररूप....** यह राग-पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध, भोग और राग (रूप) **क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तता....** (अर्थात्) स्वरूप के प्रति क्रोध करके, रागादि में प्रवर्तता। आहा...हा...! समझ में आया? बापू! मार्ग तो ऐसा है, भाई!

स्वरूप की अरुचि, वह स्वरूप के प्रति क्रोध है। यह आनन्दघनजी कहते हैं। समझ में आया? 'द्वेष अरोचक भाव' - ऐसा शब्द है। इस द्वेष के अन्तर्भेद में क्रोध और मान है। द्वेष का अन्तर्भेद क्रोध और मान; राग का अन्तर्भेद माया और लोभ। आहा...हा...!

'द्वेष अरोचक भाव' प्रभु ! तुझे आनन्द न रुचे (तो) तुझे द्वेष हुआ है। आहा...हा... ! इसके पहलू से तू हट गया है, प्रभु ! और पुण्य-पाप का राग जो विकार और दुःख है, उसके पक्ष में चढ़ गया है, नाथ ! तूने आनन्द की दशा का त्याग किया। आहा...हा... ! वैसे बाहर का त्यागी हुआ, परन्तु वह कोई त्याग नहीं है। अन्तर के राग के त्याग से आननद की दशा उत्पन्न होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है। उसे कहते हैं कि अज्ञानभाव से आनन्द की दशा का त्याग करके मिथ्यात्वभाव से राग की रुचि के प्रेम में उलझ गया है। आहा...हा... ! ऐसा है, प्रभु ! आहा...हा... !

यह बाहर की चमक तो श्मशान की हड्डियों की चमक जैसी दिखती है।

मुमुक्षु - चार दिन की चाँदनी है।

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ; यह तो छोटी उम्र की बात है न ! अभी तो शरीर को नब्बे वर्ष हुए। यह तो दश वर्ष-ग्यारह वर्ष की उम्र थी; तेरह वर्ष तक जन्मस्थान में रहे - 'उमराला' है न वहाँ ? फिर नौ वर्ष दुकान में रहे। पालेज में घर की दुकान थी। भरुच (और) बड़ोदरा के बीच (पालेज है।) नौ वर्ष (वहाँ रहे।) छोटी उम्र के और शरीर रूपवान ! यह तो (अभी) नब्बे हुए। बाहर निकलकर (देखा कि) इस श्मशान में क्या है ? (वहाँ) श्मशान है। वहाँ एक व्यक्ति कहे कि (वहाँ) भूत है, भूत ! भूत नहीं था, परन्तु उसकी (मुर्दे की) हड्डियाँ होती है न ? (उसमें से) चमक... चमक... चमक... उठे, परन्तु उन छोटे बालकों को वहाँ न जाने दें (इसलिए ऐसा कहे कि) वह भूत है ! फिर दूसरों को पूछा कि - यह क्या कहते हैं ? भूत क्या है ? (तो कहा कि) भाई ! भूत नहीं; वहाँ तो मुर्दों को जलाये हुए की हड्डियाँ हों, उसमें अन्दर फासफूस (आग के कारण) चमकती है; इसलिए लड़कों को वहाँ नहीं जाना। भाई ! समझ में आया ?

हमारे पालेज में दूसरा एक (प्रसंग) बना। (संवत्) १९५८ के साल में 'पालेज' गये, तेरह वर्ष की उम्र। ५९ ! छोटी उम्र और बाहर सोते थे। उसके पीछे जीन था। वहाँ रात की कोर बाईयाँ राहड़ा लेती थी। मैंने पूछा - यह क्या है ? हमारे पीछ जीन था। अब तो मकान हो गया। तब कहे - यह चुड़ैल राहड़ा लेती है ! अपने को (कुछ पता नहीं पड़ता), तेरह वर्ष की (उम्र) ! कहे कि चुड़ैल राहड़ा लेती है, वहाँ नहीं जाना ? फिर तो

व्यापार-धन्धा करते (थे तब) उनके लोग हमारे पास माल लेने आते और हम उधार भी देते। सत्रह वर्ष की, दश वर्ष की उम्र की बातें हैं, हाँ! यह तो बहत्तर वर्ष पहले। फिर उगाही को जाते, तब (देखा कि) यह तो लोग हैं। ये लोग तो हमारे ग्राहक हैं। चुड़ैल यहाँ कहाँ से आयी? आहा...हा...! चुड़ैल तो यह है, प्रभु! राग और द्वेष का विकार, वह चुड़ैल है।

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा, आनन्द-शरीर है; राग, वह क्लेश-शरीर-कलह शरीर है और यह शरीर तो जड़-शरीर है। तीन प्रकार के शरीर वर्णन किये। शरीर, कार्मण आदि जड़ शरीर है, और पुण्य-पाप का भाव क्लेशरूपी शरीर है। विग्रह का – ऐसा पाठ है। यह राग और कषाय का शरीर है। भगवान! तेरा शरीर तो आनन्द और ज्ञान का शरीर है। आहा...हा...! ऐसी बातें! लोगों को कहाँ (सुनने मिले)? अरे भाई! मनुष्यपना मिला और यदि चला गया तो कहीं पता नहीं चलेगा, भाई! आहा...हा...! नरक और निगोद में गया तो वापस अनन्त काल में मनुष्य नहीं होगा। बापू! यह अवसर मिला है, भाई! आहा...हा...!

यह कहते हैं **(उदासीन अवस्था का) त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप....** अर्थात् स्वरूप के प्रति अनादर अर्थात् राग का प्रेम। उसमें **प्रवर्तता प्रतिभासित होता है...** वह अज्ञानी, राग का कर्ता है। आहा...हा...! समझ में आया? व्याख्या बड़ी है। यह तो 'अवस्था का त्याग करके' – यह लेना था।

यहाँ कहते हैं – आहा...हा...! आठवाँ बोल है न? भगवान आत्मा! अरे...! उसका उपयोग... यह जो यहाँ त्याग की पर्याय कही न? (वह)। आहा...हा...! आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु का उपयोग जानना-देखना, वह उसका उपयोग है। यह जानना-देखना, वह आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हो, ऐसा जो उपयोग। आहा...हा...! द्रव्य तो नहीं, यहाँ तो द्रव्य का परिणाम जो उपयोग, उसकी व्याख्या है। आहा...हा...! वह **लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता...** आहा...हा...! इस जानने-देखने के उपयोग को बाहर से नहीं लाता। आहा...हा...! अन्य कहते हैं – कर्म का जितना क्षयोपशम होता है, उतना उपयोग बढ़ता है और कर्म रोके, विघ्न (करे), उतना उपयोग का हनन होता है। अरे...! यह बात है नहीं, भाई! आहा...! तेरा उपयोग ही अन्दर राग में अटका है, इससे स्वरूप की हिंसा हुई है। आहा...हा...! यह उपयोग द्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होता है, उस

चैतन्य द्रव्य का लक्षण उपयोग। इस **नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता...** अर्थात् कहीं से नहीं लाता। आहा...हा... !

सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहा...हा... ! यह जानने-देखने के परिणाम का उपयोग कहीं बाहर से नहीं लाता। पढ़कर लावे, सुनकर लावे – ऐसा नहीं है, कहते हैं। अरे... ! यह तो अन्दर आनन्द का नाथ! उपयोग का पिण्ड है। चैतन्य उपयोग, दर्शन उपयोग का ध्रुव पिण्ड है। उसका उपयोग जो परिणमन, (वह बाहर से नहीं लाता।) समझ में आया ? उपयोगोलक्षणम् जीवो – यह यहाँ कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में शब्द है – उपयोगोलक्षणम् जीवो। यह उपयोग लक्षण कहीं बाहर से नहीं लाया जा सकता – ऐसा कहते हैं। पढ़कर आवे या सुनकर आवे, ऐसा नहीं – ऐसा कहते हैं। भाई ! कठिन बातें हैं, प्रभु ! आहा...हा... !

द्रव्य तो कहीं से आता नहीं, परन्तु द्रव्य का जो जानने-देखने का उपयोग है, (वह भी बाहर से नहीं आता)। यह पहले तो कह गये हैं कि उसे ज्ञेय का अवलम्बन नहीं। जानने-देखने के भगवान के उपयोग को... भगवान अर्थात् यह आत्मा, हाँ! यहाँ तो भगवान इसे कहते (हैं), बापू! इसके जानने-देखने के उपयोग को परज्ञेय (अर्थात्) भगवान आदि का भी अवलम्बन नहीं है। यह तो सातवें बोल में आया। आहा...हा... ! ऐसा उपदेश और ऐसी व्याख्या ! पहला तो सामायिक करो और प्रौषध करो और भटक मरो ! आहा...हा... ! राग का करना और राग का भोगना, यह तो मिथ्यात्वभाव और संसार है, भटकने का पंथ है, प्रभु ! तेरा सुख का पंथ कोई अलग प्रकार का है। आहा...हा... !

तेरा जो उपयोग, जानने-देखने के परिणामरूपी पर्याय... आहा...हा... ! वह कहीं बाहर से नहीं आती। आहा...हा... ! बहुत सुना, इसलिए उपयोग बढ़ गया – ऐसा नहीं है, कहते हैं। वह उपयोग तो अन्दर द्रव्य के स्वभाव में (पड़ा है)। उसका आश्रय लेकर जो उपयोग परिणाम हुए, वे कहीं बाहर से नहीं आते। वह उपयोग अन्दर में से आता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें ! भाई ! आहा...हा... ! भाई !

यह युवक ! आहा...हा... ! प्रभु ! यह जवानी तो यह धूल-मिट्टी है। प्रभु तो जवान कब कहलाये ? राग और पुण्य को अपना माने, तब तक यह बालक-अज्ञानी, मूढ़ है। आहा...हा... ! परन्तु राग के विकल्प रहित प्रभु की दृष्टि और उसका अनुभव तथा उसका

आदर हो, तब यह आत्मा जवान हुआ कहलाता है और यह आत्मा जब स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करे, तब यह आत्मा वृद्ध हुआ कहलाता है। ये आत्मा के बालक, जवान और वृद्ध अवस्था की बातें हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं, **लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को...** परन्तु लक्षण जिसका है, उस लक्ष्य से लक्षण उत्पन्न होता है, या लक्षण बाह्य के निमित्त के अवलम्बन से होता है? बाहर से आता है? जिसका लक्षण है, वहाँ से लक्षण प्रगट होता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है! आहा...हा...! यह तो अभिमान को गला डाले - ऐसी बात है। जानने का उपयोग बाहर से आया; पहले नहीं था, यहाँ सुनते हैं, इसलिए ज्ञान का उपयोग आया - तो कहते हैं कि नहीं; उस उपयोग को उपयोग ही नहीं कहते। उपयोग तो जीवद्रव्य का लक्षण है। वह लक्षण है, वह लक्ष्य के आश्रय से लक्षण प्रगट होता है अथवा लक्षण से लक्ष्य ज्ञात होता है - इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य का लक्षण, वह आत्मा का लक्षण, वह आत्मा से प्रगट होता है। आहा...हा...! उस लक्षण को छोड़कर, बाहर से उपयोग लक्षण आता है, यह मान्यता भ्रम, अज्ञान है। आहा...हा...! मिथ्यात्व के बहुत प्रकार हैं; उनमें का यह एक मिथ्यात्व का भाग है।

यह बन्ध अधिकार में आता है कि मैं पर को जिला सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, यह एक मिथ्यात्व का अवयव-भाग है। पूरा मिथ्यात्व इसमें नहीं। मिथ्यात्व के बहुत प्रकारों में से एक भाग है, ऐसा उसमें (आया है)। बन्ध अधिकार में है। मिथ्यात्व का एक भाग है, ऐसा वहाँ (कथन है)। आहा...हा...! यह भी एक मिथ्यात्व का भाग है कि मेरा जानना-देखना बाहर से आता है — यह मिथ्यात्व का भाग है। आहा...हा...! ऐसी बातें! इसी प्रकार हम पैसे-टके से सुखी हैं, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र सब अनुकूल हैं... दुःखी हो, प्रभु! बड़ा दुःखी है, तुझे दुःख की-सुख की खबर नहीं है। आहा...हा...! उपयोग बाहर से आया — ऐसा माननेवाला दुःखी है। आहा...हा...! वह उपयोग बाहर से नहीं आता। **लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् (कहीं बाहर से) नहीं लाता....** जिसके उपयोग का ढाल द्रव्य के ऊपर ढला, वहाँ से उपयोग प्रगट होता है। आहा...हा...! ऐसी बातें! ऐसा उपदेश किस प्रकार का? बापू! मार्ग यह है। वीतराग

त्रिलोकनाथ परमेश्वर की ध्वनि यह है। लोगों को सुनने को नहीं मिला, इसलिए कहीं वस्तु दूसरी हो जायेगी ? आहा...हा... !

वह अलिंगग्रहण है.... उपयोग बाहर से नहीं लाता, इसलिए बाहर का लिंग उसमें नहीं, इसलिए अलिंगग्रहण है। आहा...हा... ! जानने-देखने के जो भाव, वह उपयोग बाहर से नहीं आता। दूसरी भाषा में कहें तो कर्म का क्षयोपशम होता है, इसलिए उपयोग होता है – ऐसा नहीं है। अरे...अरे... ! वह उपयोग तो भगवान त्रिलोकनाथ जिसका लक्षण है, उसके आश्रय से उपयोग होता है। समझ में आया ? ऐसा उपदेश ! भाई ! मार्ग बहुत अलग है। अभी चलती है, वह पूरी लाईन अलग है। संसार की रीति और पूरा मिथ्यात्व का पोषण है। समझ में आया ?

उपयोग नामक लक्षण को.... कहीं से ग्रहण (कराता नहीं) आता नहीं। आत्मा कहीं से लाता नहीं। **इस प्रकार आत्मा कहीं से लाता नहीं ऐसे ज्ञानवाला है....** आहा...हा... ! पहले उपयोग कहकर अब ज्ञान (शब्द प्रयोग करते हैं) अन्तर ज्ञान का सागर नाथ, उसकी दृष्टि हुई, वहाँ पर्याय में ज्ञानदशा आनन्ददशा प्रगट हो – ऐसे ज्ञानवाला है। शास्त्र का पठन किया और यह हुआ, इसलिए ज्ञानवाला है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ, इसलिए ज्ञानवाला है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! **जो कहीं से लाता नहीं, ऐसे ज्ञानवाला है....** यहाँ तो अन्दर में से आता है, कहते हैं। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं।

ऐसा कहते हैं कि यह सुनने को मिला, इसलिए अन्दर उपयोग आया... वह जीव का उपयोग ही नहीं। बात सूक्ष्म है, प्रभु ! तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ ! तू अन्दर कौन है ? यह तुझे पता नहीं। आहा...हा... ! यह भगवान परमात्मस्वरूप सहजानन्दस्वरूप है, सहजात्मस्वरूप है, प्रभु ! उसका जो उपयोग है, वह बाहर से नहीं आता। आ...हा... ! बहुत पुस्तकें पढ़ी और बहुत पढ़े, पूरे दिन पुस्तक... पुस्तक... पुस्तक.... ऐसा किया करे, इसलिए उपयोग (वहाँ से आता है – ऐसा नहीं है) । आहा...हा... !

श्रीमद् तो ऐसा कहते हैं कि बहुत पठन करनेवाले वेदिया हो जाते हैं ! (आता) है मानो वहाँ से मैं ले लूँ, पढ़ लूँ... पढ़ लूँ... पढ़ लूँ... उन्होंने तो ऐसा कहा है कि बहुत पढ़ा

करे.... पढ़ा करे, वह वेदिया हो जाता है। अन्तर में उतरता नहीं और अन्दर में जागता नहीं और यहीं का यहीं लगा रहता है। कठिन बात है प्रभु! आहा...हा...!

यह अपने जानने-देखने का व्यापार, वह आत्मा के अवलम्बन से आता है; वह बाहर से नहीं आता। बाहर से सुना, इसलिए ज्ञान उपयोग शुद्ध आया - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ज्ञान का, दर्शन का, (उपयोग) भी शुद्ध है। शुद्ध उपयोग है, वह तो स्थिरता की बात है परन्तु यह ज्ञान-दर्शन का शुद्ध उपयोग है। जो पर से जानता है, वह तो अशुद्ध है। आहा...हा...! और परमार्थ वचनिका में कहा है कि परावलम्बी ज्ञान को धर्मी, मोक्षमार्ग नहीं मानता। आता है न? परमार्थ वचनिका! आहा...हा...! जितना परावलम्बी ज्ञान निमित्त से हुआ है; भले ही होता है स्वयं को, परन्तु वह निमित्त के लक्ष्य से हुआ ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है; वह मोक्ष के मार्ग का ज्ञान नहीं है, उसे ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता है। मोक्षमार्ग का ज्ञान है, वह यह नहीं है। आहा...हा...! बातें ऐसी हैं। अरे...रे...! परम सत्य सुनने को नहीं मिले, सत्य की रीति और पन्थ क्या है? यह सुनने को नहीं मिले, वह कब सन्त के पन्थ में, सत् के पन्थ में जाये। आहा...हा...!

देखो, आचार्यदेव ने करुणा करके यह टीकायें (बनायी हैं)। सन्त... सन्त दिगम्बर सन्त! आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य! एक बार तो ९६ गाथा में कहा - भगवान अमृत का सागर मृतक देह में मूर्छित हो गया है। यह जड़ मृतक कलेवर! अमृत सागर प्रभु, मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया है। मृतक (में) मूर्छित हो गया है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अमृत के सागर का उपयोग, वह पर से होता है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! समझ में आया? इसके उपयोग की इसे खबर नहीं है। आहा...हा...! उपयोग तो अन्दर में से - द्रव्य में से आता है और द्रव्य के लक्ष्य से आवे, उस उपयोग को उपयोग कहते हैं। ज्ञान उसे कहते हैं कि द्रव्य में से आवे, उसे ज्ञान कहते हैं। ऐसा कहा न यहाँ? **ज्ञानवाला!** यह ज्ञानवाला है। कैसा है? कि कहीं से लाता नहीं, निमित्त से आता नहीं - ऐसा ज्ञानवाला है। आहा...हा...!

मुमुक्षु - कालेज में से तो ज्ञान मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - धूल भी नहीं मिलता। आहा...हा...! सब अज्ञान है।

यहाँ तो प्रभु ने ऐसा कहा कि श्रवण करते-करते जो ज्ञान का उपयोग होता है, वह उपयोग ही नहीं है। आहा...हा... ! ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जो भगवान आत्मा जो ज्ञान की मूर्ति है, उसके अवलम्बन से जो ज्ञान प्रगट हो, उसे ज्ञान कहते हैं, उसे ज्ञानवाला आत्मा कहते हैं। आहा...हा... ! ऐसी बात ! फिर ऐसा ही कहते हैं न कि सोनगढ़िया एक ही बात करते हैं... परन्तु सत्य बात यह है। तेरी सब गप्प - व्रत से, उपवास से, भक्ति से तुझे कल्याण हो (ऐसी बात नहीं है) मर जायेगा, परिभ्रमण करेगा, सुन न ! समझ में आया ?

(एक बार) कहा था एक बाई - लड़की थी। दो वर्ष पूर्व विवाह हुआ था। उसके वर ने नया विवाह किया था। हम तो सबको पहचानते हैं। दो वर्ष का विवाह और छोटी उम्र की (उसमें उसे) शीतला निकली, शीतला दाने-दाने, कीड़े (पड़े)। बिस्तर पर सुलाया, ऐसी करवट बदले वहाँ हजारों कीड़े ऐसे निकले, यहाँ फिरे वहाँ ऐसे निकले और पीड़ा... पीड़ा... ! दाने-दाने कीड़े, हाँ ! (वह बोली) माँ ! मैंने ऐसे पाप इस भव में नहीं किये, यह क्या हुआ ? यह क्या हुआ ? उसकी माँ तो कहती - आहा...हा... ! उसे - बाई को हमने देखा था। पीड़ा... पीड़ा... पीड़ा.... वह पीड़ा है, वह शरीर की दशा है परन्तु वह दशा मुझे है — ऐसी मान्यता से पीड़ा है। वह तो जड़ शरीर की दशा है - रोग तो शरीर की दशा है, वह आत्मा की दशा नहीं है परन्तु अज्ञानी को आत्मा का पता नहीं है, इसलिए उसके कारण मुझे दुःख होता है - ऐसा मानता है। वह तो दुःख का निमित्त है, दुःख तो तूने भ्रान्ति से उत्पन्न किया विकारभाव, वह दुःख है। बहुत अन्तर, दुनिया में और इसमें बहुत अन्तर ! आहा...हा... ! यह आठवाँ बोल (पूरा) हुआ।

नौवाँ, **जिसे लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता....** जानने-देखने का जो उपयोग है, उसे कोई कर्म हर सके (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! समझ में आया ? ज्ञानावरणीय कर्म का उदय आया, (इसलिए) उपयोग घाता गया, यह बात है नहीं। आहा...हा... !

(संवत्) २०१३ की साल में (एक विद्वान् के) साथ बड़ी चर्चा हुई थी, बाईस वर्ष हुए। दिगम्बर के बड़े पण्डित कहलाते थे, वैष्णव थे। वे कहते कि यह ज्ञानावरणीय का उदय हो उतना ज्ञान-घात होता है, ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम हो उतना उघड़ता है। मैंने कहा कि ऐसा नहीं है। स्वयं ज्ञान की पर्याय को हीन करता है तो वह स्वयं के कारण है

और अधिक करता है, वह स्वयं के कारण है; कर्म के कारण नहीं। वरना तो वे दिगम्बर के बहुत (बड़े विद्वान्) कहलाते थे। देह छूटते समय बाहर का मुनिपना लिया। अभी दृष्टि ही विपरीत थी, वहाँ मुनिपना था कब? बहुत कड़क बात है बापू! उसमें लेख (आया था कि) कानजीस्वामी ऐसा कहते हैं कि ज्ञान का क्षयोपशम, कर्म के क्षयोपशम से नहीं होता; ज्ञान का घात, कर्म के कारण नहीं होता। है न पुस्तक? हजारों पुस्तक बनाये हैं। यहाँ के विरोध के लिये अभी (दूसरे) हजार बनाये। देखो! (यह विद्वान) ऐसा कहते हैं। विद्वान क्या चाहे जो कहे न!

यहाँ कहते हैं **लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण.....** आहा...हा...! जानने-देखने का जो आत्मा का लक्षण है, उस लक्षण को कोई घात करे (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! यहाँ तो दृष्टि प्रधान में जो उपयोग प्रगट हुआ है, उसका घात कौन करे? आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई! यह तो सिद्धान्त है, सिद्ध हुई (बातें हैं)। परमात्मा तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव से सिद्ध हुई बात है, भाई! प्रभु! तेरे उपयोग को कोई घात सके — ऐसी किसी की ताकत नहीं है, क्योंकि तूने (जो) उपयोग द्रव्य के आश्रय से प्रगट किया, वह द्रव्य जैसे ध्रुव है और घाता नहीं जा सकता... आहा...हा...! ऐसे ध्रुव के आश्रय से जो उपयोग प्रगट किया, प्रभु! वह किसी से घाता नहीं जा सकता। आहा...हा...! ऐसी बात है।

भाषा में भाव बहुत भरा है, हाँ! यह तो थोड़ा-थोड़ा स्पष्टीकरण होता है। इन्हें तो ऐसा कहना है कि यह भगवान आत्मा उपयोगस्वरूप तो त्रिकाल है, परन्तु इसकी पर्याय में जो उपयोग होता है, वह उपयोग कहीं से लाया नहीं जाता परन्तु उस उपयोग को कोई घात नहीं सकता। इस प्रकार लाया नहीं जा सकता और दूसरा ले जा नहीं सकता। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा उपदेश! अब इसमें समझना क्या? आहा...हा...!

कहते हैं कि भगवान द्रव्यस्वरूप वास्तव में तो... नियमसार में तो कहा है कि ज्ञान-दर्शन जो त्रिकाली उपयोग है, वह तो ध्रुव है, उसे उपयोग कहा है। नियमसार, ९-१० गाथा! त्रिकाल ज्ञानदर्शन के उपयोगस्वरूप! परन्तु उस उपयोग का जिसे उपयोग हुआ है, उस उपयोग का जिसने उपयोग किया। समझ में आया? आहा...हा...! जिसने निमित्त का और राग का उपयोग छोड़ दिया है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। जैसा गुजराती

में स्पष्ट आवे वैसा हिन्दी में नहीं आता। बहुत हिन्दी लो (हिन्दी में लेने को) कहते हैं परन्तु बापू! थोड़ा सीखकर आना। (एक पण्डित ने) कहा कि वहाँ हिन्दी बुलवाने की अपेक्षा थोड़ा गुजराती सीखकर जाना। यहाँ बहुत आते हैं, आज कोई बहिन आयी थी (कहती थी कि) हिन्दी (में लो) थोड़ा सा गुजराती सीखकर आना, जिससे गुजराती समझ में आये। हिन्दी में ऐसा स्पष्ट नहीं आता। भाषा खोजने जायें वहाँ भाव (चला जाता है)। यह तो अन्दर में से सहज बात आती है। आहा...हा...!

कहते हैं **लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का.....** अलिंग कहना है न? अलिंग ग्रहण कहना है न? उसका लिंग है, वह पर से हरण नहीं किया जाता। है? **लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का.....** जानने-देखने का जो व्यापार। उस **लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता....** आहा...हा...! जिसका उपयोग द्रव्य पर जम गया है, उसे कौन हरण कर सकता है? कहते हैं। आहा...हा...! उस उपयोग द्वारा केवलज्ञान लेनेवाला - ऐसा कहते हैं। अन्दर प्रयत्न वहाँ है न। अन्दर द्रव्य पर (जोर है)। उपयोग का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर है। आहा...हा...! जिसने द्रव्य को लक्ष्य में लिया है, वह लक्ष्य कभी छूटता नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान नित्यानन्द प्रभु को लक्ष्य में लेकर जो उपयोग प्रगट हुआ, उस उपयोग लक्षण को कौन हरे? आहा...हा...! स्वयं द्रव्य का लक्ष्य छोड़ दे तो नष्ट हो जाये परन्तु पर से हनन हो, यह बात नहीं है। आहा...हा...! तत्त्व तो कोई अलौकिक है परन्तु तत्त्व का उपयोग भी ऐसा है, यह कहते हैं। तत्त्व से प्रगट हुआ जो उपयोग, (वह भी हनन नहीं होता)। चैतन्य उपयोगमय त्रिकाली वस्तु के आश्रय से — लक्ष्य से जो उपयोग प्रगट हुआ... आहा...हा...! उस उपयोग को आत्मा का लक्षण कहते हैं। उस लक्ष्य से हुआ लक्षण, पर के लक्ष्य से हरण हो जाता है - ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता'.... (अज्ञानी) कहता है कि अरे...रे! हमारा ज्ञान, कर्म उदय आवे तो हमारा ज्ञान हरण हो गया... परन्तु तूने द्रव्य को नहीं जाना, इसलिए तुझे कर्म के उदय में ज्ञान हनन हुआ —

ऐसी दृष्टि होती है। आहा...हा...! अरे ऐसा मार्ग इसे सुनने का समय नहीं मिलता, वह कब जाने और कब अन्दर प्रयोग करे? आहा...हा...!

इस प्रकार... (अर्थात्) इस प्रकार, ऐसा। **'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** अलिंगग्रहण में से ऐसा अर्थ निकलता है। इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्यदेव के अलिंगग्रहण के शब्द में से अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह टीका निकाली है कि ऐसा अर्थ निकलता है। भैंस के स्तन में से दूध निकलता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! वहाँ कोई पानी नहीं निकलता, जहर नहीं निकलता। इसी प्रकार भगवान आनन्द का नाथ प्रभु का जिसने आश्रय लिया, वहाँ उपयोग प्रगट हुआ — आनन्द और शान्ति को लेता हुआ उपयोग प्रगट हुआ! आहा...हा...! उसे जगत में कोई हरण कर सके (– ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! सन्त अप्रतिहत की बात करते हैं, भाई! यहाँ तो कहते हैं कि हमको जो उपयोग प्रगट हुआ, वह अब हनन हो जाये – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! दिगम्बर मुनियों की बातें...! पंचम काल के संत पके, वे पके! यहाँ तो कहते हैं कि हमें जो उपयोग प्रगट हुआ है, वह उपयोग अब वापस गिर जाये – ऐसे हम नहीं हैं। आहा...हा...! भाई! यह दिगम्बर सन्त! यह तो बाहर में वेष छोड़े, नग्न होकर कुछ क्रिया करे, वहाँ हो गये दिगम्बर! बापू! वे शुभभाव की क्रियायें भी कोई धर्म नहीं हैं। भाई! वह आत्मा का उपयोग नहीं है। शुभ उपयोग वह आत्मा का उपयोग ही नहीं है। आहा...हा...! अन्त में कहेंगे... विकार होता ही नहीं ऐसा आगे कहेंगे। समझ में आया? आहा...हा...! है न? अन्त में है (श्रोता : दशवें में है।) हाँ! यह ठीक है। आ...हा...!

कहते हैं कि हम उसे उपयोग कहते हैं कि जो द्रव्य का आश्रय होकर शुद्ध उपयोग प्रगट हुआ... आहा...हा...! वह अब हरण किया जा सके – ऐसा नहीं है। उसका नाश नहीं होगा। द्रव्य का नाश होवे तो द्रव्य के उपयोग का नाश हो। समझ में आया? 'धिंगधणी माथे कियो कुड गंजे नर खेत...' जिसने तीन लोक के नाथ को दृष्टि में स्वीकार किया 'धिंगधणी माथे कियो...' आहा...हा...! उस पर्याय का धिंगधणी द्रव्य है। 'धिंगधणी माथे कियो कुड गंजे नर खेत...' गधे से हनन किया जा सके ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! नौ बोल हुए न? दसवाँ (बोल) विशेष आयेगा...!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १७८ भाद्र शुक्ल ५, सोमवार, २६ अगस्त १९७९

प्रवचनसार, अलिंगग्रहण है न ? दसवाँ बोल है, नौ हो गये, नौ। **जिसको...** अर्थात् भगवान आत्मा को। आहा...हा...! **लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में....** जिसका उपयोग लक्षण है – ऐसा प्रभु आत्मा, आहा...हा...! उसे ग्रहण **ग्रहण अर्थात् सूर्य भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है...** सूर्य में विकार नहीं होता। सूर्य में विकार, मलिनता नहीं होते; वैसे ही भगवान आत्मा को शुभ–अशुभ उपयोग (की) मलिनता नहीं होती। आहा...हा...! सूर्य की किरण में प्रकाश है, सूर्य में प्रकाश है; वैसे आत्मा शुद्ध उपयोगी है, कहते हैं। आहा...हा...! है ? उपयोग में मलिनता नहीं है; सूर्य की तरह मलिनता नहीं है। वह द्रव्यस्वभाव, चैतन्य ज्ञायकस्वभावभाव को शुद्ध उपयोगमय है; वह शुभ और अशुभ उपयोगमय नहीं है। आहा...हा...!

दूसरे प्रकार से कहें तो वह शुद्ध चैतन्य वस्तु, शुद्ध उपयोग से ज्ञात हो, ऐसी है, क्योंकि शुद्ध उपयोगस्वभावी है। आहा...हा...! ऐसी अद्‌भुत बातें! यहाँ कहते हैं – व्यवहाररत्नत्रय तो राग है, अनात्मा है। आहाहा...! सूर्य की भाँति लक्षण में ग्रहण अर्थात् उपयोग लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति मलिनता–विकार नहीं है। **वह अलिंगग्रहण है...** यह द्रव्यस्वभाव की बात है। वह द्रव्य कैसा है ? शुद्ध उपयोगस्वभावी है। आहा...हा...! इन शुभ और अशुभ विकारस्वभावी द्रव्य नहीं है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म!

यह शुद्ध उपयोगी प्रभु है। शुद्ध उपयोगी! आहा...हा...! अभी तो वह (एक साधु) है (वह ऐसा कहता है) अभी तो शुभ उपयोग ही होता है – ऐसा कहता है। क्या हो ? प्रभु! अर्थात् कि अभी समकित नहीं होता (ऐसा) उसका अर्थ है, क्योंकि आत्मा शुद्ध उपयोगी (है तो) शुद्ध उपयोग में उसका ज्ञान होता है, क्योंकि वह शुद्ध उपयोगी है। यह शुभराग तो अनात्मा है, अजीव है; यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! बहुत सरस बात है। पंचमी का दिन है, पर्यूषण का प्रथम दिन है।

शुद्ध उपयोग (स्वरूप) है, प्रभु! सूर्य में जैसे मलिनता नहीं है, वैसे द्रव्यस्वभाव में मलिनता नहीं है, अर्थात् निर्मल शुद्ध उपयोगी है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोग तो परिणाम है परन्तु सूर्य में जैसे मलिनता नहीं है; ऐसे ही वस्तु जो त्रिकाली ज्ञायक है, उसमें

मलिनता नहीं है। ऐसी दृष्टि होने पर शुद्ध उपयोग होता है। आहा...हा... ! और शुद्ध उपयोग में सम्यग्दर्शन होता है। भगवान विकाररहित प्रभु है, उसका दर्शन, शुद्ध उपयोग में होता है। आहा...हा... ! जड़ के क्रियाकाण्ड से तो नहीं परन्तु अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव है, वह आत्मा नहीं; वह तो अनात्मा है - ऐसी बात है, भाई ! है ?

शुभ उपयोग, वह आत्मा नहीं है; आत्मा तो शुद्ध उपयोग स्वभावी है। आहा...हा... ! यहाँ कहाँ जाना इसे ? उस ठिकाने जाये नहीं और बाहर में भटका करता है। यह करूँ और यह करूँ, और व्रत पालन करूँ और भक्ति करूँ और उपवास करूँ और तपस्या करूँ... उस मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है न ? विषय-कषाय, वह इसमें डाला है (श्वेताम्बर के एक साधु ने) डाला है। वहाँ से लिया है 'विषयकषाय आहारो त्यागो न विजती शेषम् लंघनम् विदु, उपवासो स ज्ञेयम् शेषम लंघनम् विदु' आहा...हा... ! विषय और कषाय के अशुभभाव से रहित 'विषयकषाय आहारो' जहाँ नहीं। आहा...हा... ! 'विषयकषाय आहारो त्यागो न विजती, उपवासो स ज्ञेयम्' आहा...हा... ! उसे यहाँ आत्मा शुद्धस्वरूप के समीप में बसता है; इसलिए उस शुद्ध उपयोगी को उपवास है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम ! अभी तो यह व्यवहार-व्यवहार करके मार डाला। यह राग अनन्तबार किया है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : नियमसार में आता है कि यह शुभ उपयोग अनन्त बार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त बार किया है। अरे... ! कथनमात्र व्यवहार रत्न — ऐसा नियमसार में शब्द है। कथनमात्र ! व्यवहार रत्नत्रय कथनमात्र है। वह कोई वस्तु नहीं ऐसा कहते हैं (ऐसा) श्लोक है। है न, सब ख्याल है... ऐसा तो अनन्त बार किया है, कहते हैं, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहा...हा... !

(एक मुमुक्षु का) पत्र (आया है) वहाँ गये थे न ? वहाँ चलते-चलते घर पहुँचते डेढ़ घण्टा लग गया, इतना कीचड़ ! आहा...हा... ! ऐसा बेचारे ने लिखा है कि आँख में से आँसू बह जाते हैं। देखने पर ऐसा हो जाता है। आहा...हा... ! और मन्दिर में बाहर इतना कीचड़ है कि अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते, साफ कौन करे ? उठाया है, एक पुजारी आया है। ओहो...हो... ! चारों ओर गन्दगी, गन्दगी, कीचड़ ! आहा...हा... ! (दूसरे भाई) कहते थे कि भैंस पानी तैरती-तैरती हमारे कमरे में गिर गयी। ओहो...हो... ! आहा...हा... !

कितने लोग बेचारे निराधार (हो गये)। रहना कहाँ? खाने का क्या? अनाज समाप्त हो गया। सब दुकानें नष्ट हो गयीं। कब साफ करे और कब (चालू हो) ? आहा...हा...! यह दशा अनन्त बार हुई है। आहा...हा...! यह दशा टालनी हो और ऐसी न होने देनी हो तो? उसे भगवान आत्मा शुद्ध स्वरूपी, शुद्ध उपयोगी है, उसका ज्ञान करना।

आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है.... ऐसा है न? आत्मा शुद्ध उपयोगस्वभावी है। आहा...हा...! त्रिकाल तो शुद्ध है परन्तु वर्तमान में उसकी शुद्ध उपयोगस्वभावी, वह आत्मा है। आहा...हा...! अब ऐसी बातें कहीं (सुनने को नहीं मिलती)। यह मार्ग बापू! सूक्ष्म बहुत है, भाई! इसके लिये बहुत योग्यता चाहिए, भाई! आहा...हा...! अरे! चौरासी के अवतार में भटक कर मरता है। उन्होंने यह लिखा है कि डेढ़ घण्टे में तो घर (पहुँचा)। रास्ते में गन्दगी, कीचड़, मरे हुए पशुओं के मुर्दे पड़े हों, गिर गये। मकान जहाँ खोदते हैं, वहाँ नीचे मुर्दे निकलते हैं। आहा...हा...! यह दशा...!

राग में रुचि की, वही तेरी मृत्यु हुई। समझ में आया? क्योंकि भगवान आत्मा...! आहा...हा...! अभी यहाँ तो पाप के परिणाम से भी निवृत्ति नहीं मिलती। यहाँ तो (कहते हैं कि) पुण्य का परिणाम आत्मा नहीं है। आहा...हा...! व्रत पाले, भक्ति करे, और पूजा करे... आहा...हा...! द्रव्यलिंगी साधु, प्राण जाये तो भी (उसके) लिए बनायी हुई भिक्षा भी न ले — ऐसी जिसकी क्रिया हो परन्तु वह सब शुभराग है। परसन्मुख झुकाव है न? यहाँ (अन्दर में) कहाँ झुकाव है? उसे यहाँ धर्म मनवाना! प्रभु! तुझे दुःख होगा। वर्तमान में भी दुःख की दृष्टि-मिथ्यात्व होगा और भविष्य में भी दुःख के कारणरूप भव का वह कारण होगा। यह क्या कहा? आहा...हा...! क्योंकि यहाँ शुद्ध उपयोगी आत्मा कहा तो शुभराग जो है, वह दुःखरूप है, वह अनात्मा है, वह चैतन्य की दशा नहीं, तो ऐसे राग से मुझे लाभ होगा — ऐसी जो दृष्टि है, वह दुःखदृष्टि-मिथ्यादृष्टि है। वर्तमान भी दुःखदृष्टि और भविष्य में भी उस दुःखदृष्टि के फलरूप भव मिलेंगे। दुःख करने के भव मिलेंगे, प्रभु! समझ में आया? इसलिए लोग चिल्लाते हैं, ऐ...ई...! व्यवहार का लोप करते हैं... परन्तु आत्मा में व्यवहार है ही नहीं, फिर (प्रश्न कहाँ है) ? यहाँ क्या कहते हैं? क्या कहते हैं? अन्दर है या नहीं?

प्रभु! तू कौन है? मैं तो शुद्ध उपयोगस्वभावी हूँ न! मैं शरीरवाला नहीं, कर्मवाला नहीं, शुभाशुभ उपयोगवाला नहीं, आहा...हा...! है? भाई! है इसमें? **शुद्धोपयोगस्वभावी है....** ऐसा कहा, भाई! आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है... दया, दान, व्रत, और शुभ उपयोगी आत्मा है ही नहीं। अरे...रे!

उसने बेचारे ने लिखा है – यह देखते हुए आँखों में से आँसू बह जाते हैं – ऐसी स्थिति (हुई है)। गाँव में श्मशान दिखता है! अब वह कब दुकान का धन्धा चले और कब दुकान चालू (होवे)? बेचारे ने लिखा है, एक पत्र आया है। आँख में आँसू बह जाते हैं। घर जाने में डेढ़ घण्टा (लगा)! ऐसे नीचे देखे (तो सर्वत्र) कीचड़, यह दशा... ओहो...हो...! प्रभु! यह सब अशुभ उपयोग का फल है और सुविधा, स्वर्ग तथा सेठाई आदि शुभ उपयोग का फल है; यह आत्मा का फल नहीं है। आहा...हा...! भाई! आहा...हा...!

इसका सेठ आया था न? मुम्बई! (स्वयं) वैष्णव है, घर में महिलाएँ सब श्वेताम्बर जैन हैं और स्वयं वैष्णव है। पचास करोड़! पचास करोड़ रुपये हैं। अभी मुम्बई में दर्शन करने आया था। आवे, आवे तो सही न सब? एक हजार रुपये दिये थे (कहा कि) महाराज! घर पधारना? था वैष्णव, घर में महिलाएँ श्वेताम्बर जैन न? महिलाएँ सब श्वेताम्बर जैन, आदमी सब वैष्णव (उन्होंने कहा ईश्वर कर्ता है न?) (मैंने कहा) भाई! नरसिंह मेहता – तुम्हारे वैष्णव में ऐसा कहते हैं 'जहाँ लगी आत्मतत्त्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी' ऐसा कहते हैं न? वहाँ कर्ता वैष्णव वह कहाँ आया? आहा...हा...!

गीता में भी ऐसा है — मैं किसी का कर्ता नहीं हूँ। स्वतन्त्र वस्तु है उसका मैं कर्ता नहीं हूँ — ऐसा शब्द है परन्तु वह पकड़े नहीं और दूसरी बातें हों वे पकड़े। आहा...हा...! पचास करोड़ रुपये! यहाँ (मोरबी में बाढ़ से) ढाई सौ करोड़ का नुकसान हुआ! पूरे आत्मा का नुकसान हुआ, उसका पता नहीं। इस शुभराग से मुझे लाभ होगा... आहा...हा...! महान मिथ्यात्व का नुकसान है, क्योंकि आत्मा शुभ उपयोगी है ही नहीं; शुभ उपयोग तो अनात्मा है। आहा...हा...! गजब बात है! यह भगवान की भक्ति में से धर्म मनवाते हैं, वे सब शुभ उपयोग से धर्म (मनवाते हैं)। आहा...हा...! भाई! यह क्या तुम्हारे वहाँ अगास में भक्ति करते हैं न? भक्ति से अपना (कल्याण) होगा... श्रीमद् की भक्ति करो! परन्तु परद्रव्य की भक्ति तो शुभराग-विकल्प है।

प्रश्नः शुभ होवे उसे पर कहा जाता है ?

समाधान : शुभ है, वह वास्तव में तो अशुभ है। परन्तु शुभ तो क्यों (कहते हैं) कि उस पाप के परिणाम की अपेक्षा पुण्य के (परिणाम करता है), इस अपेक्षा से शुभ है, वरना तो दोनों पाप के परिणाम हैं। योगीन्द्रदेव तो ऐसा कहते हैं... योगीन्द्रदेव दिगम्बर संत हैं (उनका) दोहा है - पाप पाप को तो सब कहे परन्तु अनुभवी जन पुण्य को पाप कहते हैं। योगीन्द्रदेव, दिगम्बर सन्त! आहा...हा...! पाप को तो सब पाप कहते हैं परन्तु धर्मी-अनुभवी जिसमें से पाप उत्पन्न नहीं होता, पुण्य उत्पन्न (नहीं) होता — ऐसी चीज को जिन्होंने जाना है, वे उसमें से पतित (होते हैं)। शुभ उपयोग होने पर पतित होते हैं, इसलिए वह पाप है। आहा...हा...! ऐसा कहाँ सहन होगा ?

उन (दिगम्बर के) बड़े आचार्य ने समाचार-पत्र में छपवाया है कि अभी शुभराग ही होता है। अर...र...र...! (अर्थात्) अभी आत्मा है ही नहीं... अरे... प्रभु! परन्तु क्या करता है ? बाहर की क्रिया, नग्नपना, भिक्षा लेने जाना, ऐसा हाथ (रखकर जावे) लोगों (को तो ऐसा होता है) आहा...हा...! परन्तु यह सब क्रिया जड़ की है, जड़ की है और अन्दर कदाचित् राग मन्द हो तो वह भी अनात्मा की क्रिया है। आहा...हा...! प्रभु! यह तो वस्तुस्थिति है, हाँ! किसी व्यक्ति के लिये बात नहीं है। यह तो दृष्टान्त आ गया। वरना तो सबकी जवाबदारी स्वयं की है, प्रभु! आहा...हा...! उसके परिणाम का फल उसे आयेगा। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं **सूर्य की भाँति....** लिंग अर्थात् उपयोग, आहा...हा...! नामक लक्षण उसका ग्रहण अर्थात् **सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है, वह अलिंगग्रहण है;.....** आहा...हा...! इस शुभभाव के लिंग से पकड़ में आये, ऐसा नहीं है, यह शुद्ध उपयोगी भगवान है। अरे...रे! **वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार.....** इस प्रकार उपयोगनामक लक्षण द्वारा... **इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है'.....** आहा...हा...! गजब बात की है न! आहा...हा...! राग-व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह तो अनात्मा है, कहते हैं, वह आत्मा नहीं। आहा...हा...! आत्मा तो उसे कहते हैं कि शुद्ध उपयोग स्वभावी आत्मा है। आहा...हा...! अब यह सब वापस मन्दिर और पूजा वह हो, वह शुभभाव आवे;

इसलिए हो परन्तु वह शुभभाव आत्मा नहीं है। वह व्यवहार बीच में आता है परन्तु वह व्यवहार, आत्मा नहीं है और आत्मा को लाभदायक नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें!

एकावतारी इन्द्र, समकिती! क्षायिक समकिती! बाहर बावन जिनालय है नन्दीश्वर द्वीप में-आठवें द्वीप में बावन जिनालय हैं न? एक-एक जिनालय में एक सौ आठ रत्न की शाश्वत् जिनप्रतिमाएँ हैं। मनुष्य वहाँ ढाई द्वीप से बाहर नहीं जा सकता। इन्द्र और देव वहाँ जाते हैं। एकावतारी इन्द्र भी घुँघरूँ बाँधकर भगवान के समक्ष नृत्य करते हैं। वे जानते हैं कि यह क्रिया जड़ की है; मुझे जो राग आया है, वह शुभ है, वह हेय है परन्तु वह आये बिना नहीं रहता। आहा...! मैं तो शुद्ध उपयोगस्वरूपी हूँ - ऐसा वे जानते हैं। आहा...हा...! वे नाचते (नाचते) इन्द्र और इन्द्राणी भगवान की भक्ति करते हैं। मनुष्यक्षेत्र तो ढाई द्वीप में हैं और यह तो आठवाँ द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है, वहाँ मनुष्य नहीं जा सकता। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव कोई नहीं जा सकता। वहाँ स्वर्ग के देव ही जा सकते हैं। आहा...हा...! वे कितने ही समकिती हैं और उनके साथ कितने ही भाई-बन्धु आदि मिथ्यादृष्टि हों वे भी साथ जाते हैं परन्तु यह सब शुभभाव है; यह शुभभाव, वह आत्मा नहीं है।

तब (कोई ऐसा) कहता है कि वह आता क्यों है? जब तक वीतरागता न हो तब तक शुद्ध उपयोगस्वभावी दृष्टि और अनुभव में होने पर भी, राग की मन्दता का भाव आये बिना नहीं रहता। आहा...हा...! वह तो अपने आ गया है, नहीं? कि अशुभराग भी ज्ञानी को होता है और उसका इलाज भी करता है (यह) आ गया है। आहा...हा...! इलाज करता है ऐसा कहते हैं। भाषा क्या कही जाये? लोग क्या देखते हैं? देखो! यह विवाह करता है, यह पुत्र हुआ, विषय-सेवन करता होगा तब (हुआ) न? भगवान तीर्थंकर तीन ज्ञान और क्षायिक समकित लेकर कितने ही आते हैं। यह राजा श्रेणिक क्षायिक सम्यक्त्व लेकर आयेंगे। (अभी) पहले नरक में है। आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर हैं, वे क्षायिक समकित और तीन ज्ञान लेकर यहाँ आयेंगे, तथापि जन्म होने के बाद जब उन्हें राग आता है, तब वह विवाह भी करते हैं। आहा...हा...! परन्तु यह जानता है कि यह क्रिया मेरी नहीं है और राग, वह मैं नहीं हूँ। ऐसी बातें! आहा...हा...!

राग है वह नुकसानकारक है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है — ऐसा जानने पर भी निर्बलता के कारण राग आता है और शुभराग होवे, तब भगवान की भक्ति, पूजा होती है

परन्तु उस समय ज्ञानी ऐसा जानता है कि जितनी यह चावल चढ़ाने की या (पुष्प) चढ़ाने की क्रिया (होती है) वह क्रिया तो मेरी है ही नहीं, वह तो जड़ की है; उसमें होनेवाला शुभराग है, वह मेरी कमजोरी के कारण है। आहा...हा...! उसे हेयरूप से जानने पर भी वहाँ भक्ति उठती है, उल्लास भी दिखता है। आहा...हा...! परन्तु उस उल्लास का हेयपना है। आहा...हा...! गजब बातें भाई! अरे...! जन्म-मरणरहित (होने का) उपाय वह आत्मा है, जिसमें जन्म-मरण और जन्म-मरण के कारण (रूप) भाव नहीं हैं — ऐसा वह शुद्ध उपयोगस्वरूपी प्रभु है। आहा...हा...!

शुद्ध आत्मा! **शुद्धोपयोगस्वभावी....** वह तो उसका स्वभाव ही यह है। शुभराग विकार वह उसका स्वभाव ही नहीं है। सूर्य के किसी भाग में मलिनता नहीं होती; वैसे ही भगवान में शुभभाव-अशुभभाव नहीं होता। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। यहाँ तो (अज्ञानी को) शुभराग से, क्रिया से धर्म मनवाना है और माननेवालों को भी कठिन लगे, इसलिए कहते हैं ठीक है... ठीक है... ऐ... पहाड़े बोलते रहते हैं, भाई! प्रभु! यह मार्ग नहीं है, भाई! तेरे सुख का पन्थ निराला है, नाथ! तू अलग है। इस शुभभाव से मुझे सुख मिलेगा... परन्तु वह शुभभाव स्वयं दुःख है और उसके फल में भी भाव भ्रमण का दुःख मिलेगा। आहा...हा...! समझ में आया?

यह तो ॐकार में आता है न? 'ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव' वहाँ दो आये? क्योंकि राग बाकी रहता है। ॐकार में आया है न? भाई! इसी प्रकार यह भगवान ॐ स्वरूप ही है। ॐकार शब्द दो रूप है — एक आत्मिकभाव, एक पुद्गल। बनारसीदास में आता है। समझ में आया? ॐकार शब्द के दो प्रकार — एक शब्दरूप ॐ शब्द, विकल्प में भी यह जड़ शब्द और एक आत्मा। शुद्ध निर्मलस्वरूप जो भगवान, वह ॐकारस्वरूप आत्मा है, वह शुद्ध उपयोगस्वरूपी, ॐकारस्वरूप है। आहा...हा...! और ॐ... ॐ विकल्प उठाकर विकल्प करना वह आवे, कहते हैं। तो उसका फल 'कामदं' है। स्वर्ग आदि मिलते हैं, धर्मी को भी, हाँ! आहा...हा...! कामदं मोक्षदं चैव' दो हैं न इसमें? 'ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव ॐ काराय नमोनमः।' परन्तु यह राग आत्मा नहीं है तो भी आये बिना नहीं रहता। आहा...हा...! आ...हा...! तो भी धर्मी उसे हेय जानता है (कि)

वह मेरी चीज नहीं है। आहा...हा...! निमित्त के आधीन होकर कितना ही राग मुझे होता है, अशुभराग भी होता है। आहा...हा...! परन्तु उसे जहर जैसा दुःख लगता है, काला नाग जैसा दिखता है; ऐसे शुभ-अशुभभाव काला नाग जैसा, जहर (जैसा) दिखता है। आहा...हा...! ऐसी बातें!

बाहर की बात तो क्या करना? प्रभु! शरीर, पैसा-लक्ष्मी की बात तो क्या (करना)? वे तो स्वतन्त्र अनात्मा हैं परन्तु अन्दर में शुभराग (होता है), वह अनात्मा है, भाई! वह आत्मा नहीं। आहा...हा...! शुभ उपयोग है न? दसवाँ बोल है — एक के ऊपर शून्य चढ़ा **इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** अलिंगग्रहण में से ऐसा अर्थ निकलता है। अलिंगग्रहण वाचक है, उसमें से वाच्य शुद्ध-उपयोगी है ऐसा निकलता है। आहा...हा...! जैसे शक्कर शब्द वाचक है, उसका वाच्य शक्कर चीज है; वैसे यह शुद्ध उपयोगीस्वरूप भगवान आत्मा इस अलिंगग्रहण के शब्द में से यह वाच्य निकलता है। अलिंगग्रहण, वह वाचक शब्द है परन्तु इसका वाच्य शुद्ध उपयोगी आत्मा वह इसका वाच्य है। अरे...! ऐसी बातें बहुत कठिन! भाई! लोगों को निवृत्ति नहीं है। आ...हा...! ऊपर जो कहे वह मानकर जिन्दगी बिताते हैं।

अरे... प्रभु! यदि आत्मा शुद्धोपयोगी है, वह हाथ नहीं आया और प्रतीति में तथा अनुभव में नहीं आया (तो) प्रभु! तेरा भ्रमण नहीं मिटेगा। समझ में आया? बाहर से संतुष्ट हो जायेगा, राग की क्रिया के शुभभाव से सन्तुष्ट हो जायेगा (तो) प्रभु! तेरे भव नहीं मिटेंगे, क्योंकि यह शुभभाव भव ही है। शुभभाव घोर संसार है। नियमसार में कलश में आता है, भाई! विकल्प है, (वह) घोर संसार है। आहा...हा...! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ शुद्ध उपयोग स्वभाव, उसमें यह विकल्प है, वह घोर संसार है। उससे परिभ्रमण मिलेगा, वह बाद में, परन्तु वह स्वयं वर्तमान घोर संसार है। आहा...हा...! समझ में आया? पाप के परिणाम की तो क्या बात करना? आहा...हा...! परन्तु शुभभाव के परिणाम... आहा...हा...! अनात्मा होने से, वे आत्मा नहीं हैं।

आत्मा तो शुद्ध उपयोगस्वरूपी प्रभु है। आहा...हा...! इस शुद्ध उपयोग के काल में आत्मा ज्ञात होता है, क्योंकि वह शुद्ध उपयोगस्वरूपी है। यह क्या कहा? शुभभाव के

काल में वह ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! परन्तु उस राग से भिन्न पड़कर, शुद्ध उपयोग करके, शुद्धोपयोग में वह आत्मा ज्ञात हो वैसा है और सम्यग्दर्शन के काल में शुद्धोपयोग होता है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है, बापू! यह सब स्पष्टीकरण और समस्त व्याख्या दिगम्बर सन्तों में प्रसिद्ध है। आहा...हा...! परन्तु उनके पक्ष में पड़े हों, उन्हें भी पता नहीं। आहा...हा...! यह क्या है ? अमृतचन्द्राचार्यदेव यह अर्थ करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव का श्लोक है, उस श्लोक में से यह टीका निकाली है। जैसे गाय के स्तन में दूध है, उसे बाई ऐसे खींच कर निकालती है, ऐसे (पकड़ती है), हाँ! ऐसा न हो वह ऐसा करे, यह अंगूठा ऐसा साथ रखे, यह तो सब देखा हुआ है न! स्तन में से दूध ऐसे नहीं निकलता परन्तु ऐसे और ऐसे बीच में करे (तब निकलता है)। इसी प्रकार इसमें तर्क करके अन्दर से भाव क्या है, वह निकाला है। समझ में आया ? आहा...हा...! वाह! गजब (किया है)! ये दसवाँ बोल (पूरा) हुआ।

लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है,... आहा...हा...! **उपयोगनामक लक्षण द्वारा....** इसके उपयोग द्वारा कर्म का ग्रहण होना जिसके नहीं है, क्योंकि वह तो शुद्ध उपयोगी है तो उस उपयोग द्वारा कर्म का ग्रहण होना, इसके नहीं है। आहा...हा...! जरा सूक्ष्म बात है, थोड़ा धीरे-धीरे (समझना)।

लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके.... अर्थात् आत्मा को नहीं है। आहा...हा...! पर्याय में मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेष है, वह द्रव्यस्वभाव में नहीं है। आहा...हा...! उस पर्याय में जो राग-द्वेष का ग्रहण होता है, और उसके कारण कर्म का सम्बन्ध है, इस द्रव्यस्वभाव में वे राग-द्वेष नहीं और कर्म का सम्बन्ध द्रव्य को नहीं। ऐसी दृष्टि करे, उसे द्रव्य में नहीं और उसे कर्म ग्रहण नहीं – ऐसा होता है। क्या कहा ? जरा शान्ति से सुनना, बापू! यह तो भगवान का पेट है! दिगम्बर सन्त अर्थात् वीतरागी मुनि! परमात्मा परमेश्वर में शामिल! पाँच पद हैं न ? तो पाँच पद हैं, वे परमेश्वर हैं न ? वे पद कैसे होते हैं ? बापू! आ...हा...!

ये सन्त इस जगत को जाहिर करते हैं, प्रभु ! तेरा उपयोग, उसमें से कर्म ग्रहण हो, वह तेरा उपयोग ही नहीं है। आहा...हा... ! अर्थात् ? कि द्रव्यस्वभाव में, द्रव्य जो वस्तु है, उसे कर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। पर्याय में राग और कर्म का निमित्त सम्बन्ध है, वह तो पर्याय में है, परन्तु जिसे द्रव्यस्वभाव की दृष्टि हुई... आहा...हा... ! उस द्रव्य को और दृष्टि हुई उसे... आहा...हा... ! उसके उपयोग से कर्म ग्रहण का अभाव है। समझ में आया ? आहा...हा... !

तीन लोक के नाथ का मार्ग, बापू ! वीतराग... वीतराग... वीतराग... वीतराग का मार्ग वीतरागभाव से होता है; वीतराग का मार्ग रागभाव से नहीं होता। आहा...हा... ! ऐसा जहाँ यहाँ चलता है, तब लोग (चिल्लाते हैं) ऐ... ये तो निश्चयाभासी हैं, व्यवहार से लाभ नहीं मानते... अरे प्रभु ! परन्तु तुझे (पता नहीं है), व्यवहार का राग, वह तो आत्मा नहीं न ? और राग से ग्रहण हो, वह आत्मा नहीं न ? आत्मा तो कर्म ग्रहण का अभाव हो, वह आत्मा है। आहा...हा... ! निश्चय में भगवान आत्मा सर्व आवरणरहित प्रभु है, तो फिर कर्म का आवरण इस द्रव्य को है — ऐसा है नहीं। आ...हा... !

उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है,... यह गजब बात है प्रभु ! आहा...हा... ! जिसे राग है और कर्म का ग्रहण है, वह आत्मा नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! छठवें गुणस्थान तक अभी राग और कर्म ग्रहण है परन्तु वह तो ज्ञान में जाने और कर्म ग्रहण हुआ वह भी जाने। 'मुझे हुआ' ऐसा (माने) नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है भाई !

यह अधिकार ही बहुत सूक्ष्म है। अमृतचन्द्राचार्य ने पहले कहा था और जयसेनाचार्यदेव में भी है कि यह अधिकार वास्तव में तो अलिंगग्राह्य है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में है और इसमें अमृतचन्द्राचार्यदेव में तो है ही। अलिंगग्राह्य — लिंग द्वारा, राग द्वारा, पर द्वारा पकड़ में आवे ऐसा आत्मा नहीं है — कहना है ऐसा, तो भी अलिंगग्रहण क्यों कहा ? कि अलिंगग्रहण में से बहुत अर्थ खड़े होते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? उसमें से यह भी एक अर्थ निकलता है। अलिंगग्रहण के शब्द में से वाच्य यह है। आहा...हा... !

पर में तुझे हर्ष किसका आता है ? प्रभु ! आहा...हा... ! हर्ष है, वह तो विकार है और

विकार, कर्मग्रहण करता है; आत्मा में उस कर्मग्रहण का अभाव है। आहा...हा... ! गजब बातें, भाई ! इससे कोई सरल बात नहीं होती ? समाज को फुरसत नहीं मिलती, रुचि कुछ नहीं। इस दुकान के धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिले तो इससे कुछ दूसरा सरल होगा या नहीं ? पूरे दिन होली सुलगती है, यह किया और यह किया और यह किया... यह तो कर्ता है नहीं तो भी अशुभभाव का (कर्ता) मानता है, वह मिथ्यात्वभाव है। इस बात को तू एक ओर छोड़ !

यहाँ तो (कहते हैं कि) शुभभाव से कर्म ग्रहण हो, वह शुभभाव आत्मा में है ही नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो शुद्ध उपयोग में कहा परन्तु यहाँ तो जो शुद्ध का उपयोग (हुआ), उस उपयोग द्वारा कर्म का ग्रहण और सम्बन्ध हो — ऐसा आत्मा ही नहीं है। आहा...हा... ! एक ओर ऐसा कहना कि आत्मा आठ कर्म बाँधता है। आयुष्य हो तो आठ कर्म बाँधता है और (आयुष्य) न हो तो सात बाँधता है। आहा...हा... ! यह तो पर्याय में होता है, उसका इसे ज्ञान कराया है। आहा...हा... ! जो वस्तु है - भगवान चिदानन्द प्रभु, वह स्वयं कर्म का सम्बन्ध हो — ऐसी वह चीज ही नहीं है। जिसे कर्म का ग्रहण हो — ऐसा प्रभु आत्मा है ही नहीं। आहा...हा... ! गोम्मटसार में ऐसा कहते हैं कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म को चौथे, पाँचवें, छठवें में बाँधता है — यह भी कमजोरी का ज्ञान (कराया है) और उसका ग्रहण हुआ, उसका ज्ञान कराया है। आत्मा उसे ग्रहे और आत्मा, उसके ग्रहण के कारणरूप राग हो, वह आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! भाई ! यह लाटरी बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा... ! और (इसमें) स्थिर होकर अनन्त मोक्ष पधारे हैं न ? अनादिकाल से अनन्त जीव (ऐसे तिरे हैं)।

छह महीना आठ समय में छह सौ आठ (जीव) ढाई द्वीप में से भगवान के पास से अभी ही मोक्ष में जाते हैं। क्योंकि भरत और ऐरावत में तो मोक्ष (और) केवलज्ञान है नहीं। महाविदेह में भगवान विराजमान हैं, वहाँ से केवलज्ञान पाकर मोक्ष जाते हैं, अभी ! छह महीने आठ समय में छह सौ आठ परमात्मा होते हैं !! आहा...हा... ! समझ में आया ? इस काल में भी अभी परमात्मा होने का, एकावतारी होने का यहाँ प्रसंग है ! आहा...हा... ! समझ में आया ? राग आवे, इसलिए इसे थोड़े भव होते हैं।

जैसे पाण्डव, देखो न! पाँच पाण्डव! आहा...हा...! 'भीम' वह कैसा बलवान! जोरदार! वे मुनि होकर जहाँ आत्मा के आनन्द में रमते हैं, (तब) लोहे के गहने पहनाये... साँकल पहनायी, हार पहनाये, सिर पर मुकुट (पहनाये) परन्तु इन सन्तों की दृष्टि शुद्ध उपयोग में रमती थी। उनमें से दो मुनियों को जरा सा विकल्प आया — बड़े भाई हैं, साधर्मी हैं, सहोदर हैं-एक उदर से-एक पेट से जन्में हैं, जिसके पेट में सवा नौ महीने वे रहे, उसमें मैं भी था - ऐसे सहोदर और ऐसे साधर्मी, तीन बड़े! उन्हें यह तमतमाते हुए लोहे (पहनाये तो) कैसा होगा? ऐसा विकल्प आया। (उसमें) दो भव बढ़ गये। इस शुभभाव से सर्वार्थसिद्धि की आयु बँध गयी; हैं मुनि, हाँ! छठवें-सातवें गुणस्थान में थे और जब विकल्प आया तब छठवें में थे। आहा...हा...! वे शत्रुञ्जय से सर्वार्थसिद्धि में गये। दो मुनि — सहदेव और नकुल सर्वार्थसिद्धि में गये। वहाँ से तीन (पाण्डव) सीधे मोक्ष में गये। यात्रा का कारण तो यह है कि जिस स्थान से मोक्ष गये उस स्थान में नीचे याद करना कि यहाँ प्रभु हैं, यह बात है। ओहो...हो...! ऊपर सिरछत्र प्रभु! वहाँ विराजते हैं — ऐसे स्मरण के लिये यात्रा है, बाकी कोई यात्रा (नहीं)। वह भी शुभभाव है। आहा...हा...! परद्रव्य का स्मरण करना, परद्रव्य को याद (करना), वह शुभराग है।

यहाँ तो कहते हैं कि इस शुभराग से कर्मग्रहण होता है परन्तु आत्मा को वह है नहीं। **इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध)....** आहा...हा...! आठ कर्म से सम्बन्ध (ऐसा कहते हैं), वह तो पर्याय की दशा में है परन्तु वस्तु में वह नहीं और जहाँ वस्तु की दृष्टि हुई... आहा...हा...! अर्थात् कि वहाँ शुद्ध उपयोग हुआ, उस शुद्ध उपयोग को कर्म का निमित्तरूप से ग्रहना, वह है ही नहीं। आहा...हा...! क्या बात! बनियों को यह निर्णय करने का समय नहीं मिलता (-ऐसा) वह 'जापानवाला' कहता है। जापानवाला यह कहता है न? बड़ा ऐतिहासिक! जैन का अभ्यास बहुत किया। इसलिए अन्त में उसने ऐसा कहा कि जैनधर्म अर्थात् अनुभूति। आत्मा का अनुभव करना, वह जैनधर्म! परन्तु वह जैनधर्म बनियों को मिला और बनिये व्यापार के कारण निवृत्त नहीं होते! ऐसा उसने लिखा है, हाँ! भाई! उस जापान ने! सत्य का निर्णय करने का, अनुभूति प्रगट करने का समय नहीं। आहा...हा...! जो जैनधर्म है। वह अनार्य (क्षेत्र में) उत्पन्न हुआ, जापान का ऐतिहासिक ऐसा कहता है। समझ में आया? समाचार पत्र में आया था। आहा...हा...!

आत्मा शुद्ध उपयोग का अनुभव करे, अनुभूति (करे)... आहा...हा... ! वह धर्म है, जैनधर्म वह है। राग और देह की क्रिया या दया-दान के परिणाम (हों), वह कोई जैनधर्म नहीं है। आहा...हा... ! यह निर्णय करने का अवसर इसे नहीं मिलता। व्यापारी पूरे दिन होली सुलगती है... यह किया और यह किया और यह लाया और यह लाया... मुम्बई से माल आया है और यहाँ से माल आया है और यहाँ से आया... आहा...हा... ! अकेली होली जली ! कषाय अग्नि !

हमारे एक (व्यक्ति) था न ? वह बहुत मुम्बई जाता, होशियार कहलाता, मैं दुकान पर बैठा होऊँ, (तब) मुम्बई (जाने के लिये) निकले, मुम्बई का पास लेता क्योंकि मुम्बई में बहुत बार जाना पड़े, इसलिए मुम्बई का पास (मासिक पास लिया) था। फिर माल लेकर आवे, (तब) हाथ में थप्पी लटकती हो। यह क्या है ? कहा, माल बहुत ले आवे, दस-दस, बीस-बीस हजार का माल ले आवे और इतना अधिक उसका मस्तिष्क (चले कि) यह किस भाव माल आया था और कितना बिक गया ? और अभी इसका क्या भाव है ? ऐसी तीन पट्टी पता (होता था)। आहा...हा... ! वह भाई मरते हुए अन्त में रोग आया था तो चल सकता नहीं, उठाकर रखे और उसने अन्त में ऐसा ही कहा कि अरे... ! मुझे किसी ने धर्म कर — ऐसा नहीं कहा, परन्तु कैसे कहे ? ये सब स्वार्थ के सगे हैं ! तुम पाप करके हमारी दुकान पर बैठो... अन्त में ऐसा बोल गया कि अरे ! मुझे किसी ने त्याग का नहीं कहा और इस व्यापार की स्थिति में (रह गया)। पैर चलता नहीं था तो भी दुकान पर जाकर दो घण्टे बैठे ! हिस्सा निकाल दिया, आता है न ? बड़े भाई आते हैं न ? दो बड़े भाई आते हैं। आहा...हा... ! मर गया बेचारा, अन्त में ऐसा कहे अरे..रे... ! मुझे किसी ने निवृत्ति लेने को नहीं कहा। (मैंने कहा) मैंने तुझसे नहीं कहा था ? परन्तु मर गया फिर पता पड़ा कि ऐसा बोला था। अब कहना किसे ? मैंने तो बहुत कहा (था) कि ऐ तुम पति-पत्नी दो (व्यक्ति) और लाखों रुपये पड़े हैं; अब इसमें तुझे कमाकर क्या काम है ? वह बुद्धिवाला था। हमारे कुँवरजीभाई की तुलना में बुद्धिवाला था। कुँवरजीभाई की बुद्धि तो सब समझने जैसी थी। पुण्य के कारण दुनिया सेठ... सेठ... कहती। उसमें (एक मुमुक्षु ने) पूछा तो भी जबाव ऐसा ठिकानेरहित दिया। (उन्होंने पूछा) तुम्हें सेठ... सेठ... कितनी

बार कहे ? हजार बार कहे ? तो कहे, नहीं.. नहीं पाँच सौ बार कहे ! आहा...हा... ! क्या हुआ ? बापू ! चला गया। आहा...हा... !

जिसे यह भगवान आत्मा ! जैसे सूर्य मलिन नहीं होता, वैसे चैतन्य प्रकाश का भगवान पूर है, उसे कर्मग्रहण का भाव नहीं होता। उसे कर्मग्रहण का भाव नहीं होता; इसलिए उसे कर्मग्रहण नहीं होता। आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तो गजब काम किया ! आहा...हा... ! मुनि हजार वर्ष पहले (हुए)। अभी तो इस पंचम काल के (सन्त) ! हजार वर्ष पहले यहाँ भरतक्षेत्र में थे परन्तु गजब काम किया है ! आहा...हा... ! ऐसी बातें कहीं (नहीं हैं)। करणानुयोग और चरणानुयोग में बातें दूसरी आवें और इसमें दूसरी बात आवें; इसलिए लोग समझ नहीं सकते। चरणानुयोग में ऐसा आता है कि व्रत पाले और व्रत का ऐसा हो, यह क्रिया पाले और अमुक करे। यहाँ तो कहते हैं कि व्रत का राग ही ज्ञानी को-आत्मा को नहीं। वह आया है, वह ज्ञान में ज्ञेयरूप से है। आहा...हा... ! क्योंकि व्रत के परिणाम राग है और उससे तो पुण्य, साता आदि बँधते हैं, कर्म का सम्बन्ध होता है। यहाँ तो (उससे) इनकार करते हैं।

भगवान आत्मा ! **उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है,...** जिसके अर्थात् आत्मा के। आहा...हा... ! जिसके नहीं है... आहा...हा... ! समझ में आया ? भगवान आत्मा, चैतन्य की ऋद्धि से भरपूर प्रभु, चैतन्य बादशाह ! आहा...हा... ! चैतन्य जिसका साम्राज्य है ! आहा...हा... ! राग उसका साम्राज्य नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

एक बार गये थे न ? जामनगर ! जामनगर दरबार को करोड़ की आमदनी है। मैं वहाँ उनके मकान के पास दूर जंगल जाता था। इसमें उन्हें पता पड़ा। क्या नाम कहा ? नाम भूल गये... परन्तु उन्हें मौके पर आ सके नहीं (ऐसा था) परन्तु दर्शन करने आने का भाव था। आ सके नहीं। इसलिए उनका व्यक्ति कहता है कि महाराज ! इनको ऐसा (रहता है)। दरबार ऐसा कहता है जंगल को तो (वहाँ) जाते हो तो उन्हें दर्शन करना है। (वहाँ) गये थे, वह की थी, क्या कहलाती है ? रंगोली ! रानी सामने आयी थी, जंगल गये फिर दस मिनिट बैठे, (तब) कहा दरबार ! यह साम्राज्य नहीं। यह धूल का साम्राज्य वह राजा नहीं, सुने यहाँ। हमारे कहाँ किसी के पास (कुछ लेना था) रानी सुनती थी, रानी के पास तो

बहुत करोड़ों रुपये! बहुत करोड़ों! सामने बैठे थे, सबेरे जंगल जावे, फिर व्याख्यान पढ़ने का समय हो गया तो आ गया। दस मिनिट (बैठे तब) ज्ञान खाते एक हजार रुपये दिये थे। कहा, दरबार! यह राज नहीं। आहा...हा...! आत्मा का साम्राज्य तो अन्दर आनन्द और ज्ञान पड़ा है उसका साम्राज्य वह है। सुनते थे, हमारे सामने क्या कहे? वहाँ हमारे कहाँ मक्खन लगाना था? और यहाँ कहाँ उनसे कुछ लेना था? वे तो फिर उन्होंने हजार (रुपये) दिये। अपन ने (उनका नाम) डाला है, नहीं? भाई! मोक्षशास्त्र में लिखा है। मोक्षशास्त्र पुस्तक प्रकाशित हुई, उसमें (लिखा है कि) दरबार ने एक हजार रुपये दिये हैं। तब उस दिन की बात है। जामनगर चातुर्मास था न (संवत् १९८८) १९८८ की बात है परन्तु कहीं बेचारे को यह बात सुनने को मिलती नहीं। इस धूल के इतने गाँव और इतनी आमदनी, मर गये।

अरे! यह भगवान अन्दर साम्राज्य पड़ा है, चैतन्य का बादशाह! अन्दर अनन्त गुण का चमत्कारिक तत्त्व पड़ा है न प्रभु! उसका बादशाह है, उसका हो न! और उसका बादशाह जिसकी दृष्टि में हुआ, उसे कर्म का ग्रहण नहीं होता। कमजोरी के कारण रागादि आवे, वे भी ज्ञान में ज्ञेय है और उनका ग्रहण नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया?

'आत्मा द्रव्यकर्म से'... है न? आत्मा को अर्थात् द्रव्य को। **'द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है'....** जड़कर्म का ग्रहण द्रव्य में नहीं है, जिसको द्रव्य की दृष्टि हुई, उसे जड़ का ग्रहण नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अरे...रे! मनुष्यपने में यह वीतराग की बात इसे न जमे और न रुचे, वह कहाँ जायेगा? भाई! वहाँ कोई शरण नहीं है। **'द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** अलिंगग्रहण में से ऐसा भाव निकलता है।

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. १७९ भाद्र शुक्ल ६, मंगलवार, २८ अगस्त १९७९

प्रवचनसार, १७२ (गाथा) ग्यारह हो गये हैं, बारहवाँ बोल है। **जिसे लिंगों के द्वारा...** आहा...हा...! भगवान आत्मा को लिंगों द्वारा अर्थात् रागादि लिंगों द्वारा **अर्थात्**

इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है.... आहा...हा... ! यह तो अभी वह अभोक्ता शक्ति देखिये। आहा...हा... ! भगवान आत्मा में एक अभोक्ता नाम की शक्ति-गुण है कि जो विषयों के राग को भोगता नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई ! प्रभु आत्मा में एक अभोक्ता नाम का गुण है, वह यहाँ कहते हैं।

आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है। आहा...हा... ! राग का भोक्ता आत्मा नहीं है। राग का भोगनापना है, ज्ञान के प्रकाश की अपेक्षा से, कर्ता-भोक्ता पर्याय परिणमें, इस अपेक्षा से; परन्तु भोगने योग्य है - इस प्रकार भोगता नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बहुत बापू ! आत्मा उसे कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा जो विषय का भोग, राग का वह भोक्ता नहीं; वह तो आनन्द और शान्ति का भोक्ता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं।

आनन्दघनजी ने कहा है न ? कहा था न ? 'देखण दे रे सखी, देखण दे चन्द्रप्रभु नृपचन्द्र, सखी रे मने देखण दे।' सुमति को कहते हैं। सुमति (अर्थात्) ज्ञान। उन्होंने तो बाहर की बात ली है। सुमति — सम्यक् सुमति ज्ञान, उसे कहते हैं कि हे सुमति ! मुझे अन्दर भगवान को देखने दे। आहा...हा... ! मुझे चन्द्रप्रभु-जिनचन्द्र ! भगवान जिनचन्द्र है। आहा...हा... ! यह जिन प्रभु है, उसे एक बार मुझे देखने दे, प्रभु ! सुमति - हे मतिज्ञान ! उन्होंने तो सुमति ऐसी ही भाषा ली है, परन्तु हम तो यहाँ सुमति अर्थात् सम्यग्ज्ञान (- ऐसा कहते हैं।) आहा...हा... ! उसके द्वारा भगवान चन्द्रप्रभु जिनचन्द्र मेरा नाथ, उसे मुझे देखने दे। मैंने पर को तो बहुत बार देखा। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय (में) कहीं मुझे हाथ नहीं आया। आहा...हा... ! अब यहाँ पंचेन्द्रियपना मिला है, तो भी उसके विषय का भोक्ता आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! क्योंकि इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव जो राग; उस राग का कर्ता और राग का भोक्ता आत्मा नहीं है। सूक्ष्म बातें बहुत, प्रभु !

एक दूसरी बात कि इस अरूपी का मुझे रूप देखने दे। भगवान अरूपी है, उसका मुझे रूप अर्थात् स्वरूप (देखने दे।) अरूपी का रूप-अरूप। समझ में आया ? मेरा प्रभु चन्द्रप्रभु अन्दर है। उन्होंने तो चन्द्रप्रभु तीर्थंकर की बात की है, परन्तु वह तो यह चन्द्रप्रभु अन्दर है। आत्मा जिनचन्द्र है। आहा...हा... ! उस अरूपी के रूप को मुझे देखने दे। आ...हा... ! अरूपी का स्वरूप। रूप अर्थात् स्वरूप। अरूपी का रूप। आहा...हा... ! ऐसा

जो भगवान आत्मा... अरूपी का रूप अर्थात् स्वरूप। सच्चिदानन्द प्रभु को मुझे देखने दे। वह मैंने अनन्त काल में देखा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया ?

यह यहाँ कहते हैं **लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा...** आहा...हा...! गजब बात है! इन्द्रियाँ तो जड़ हैं और भावेन्द्रिय भी वास्तव में तो अचेतन है। उसके द्वारा जो विषय का भोग और राग (है), उसका आत्मा भोक्ता नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया ? यह बात बापू! यह तो अलग प्रकार है। सम्यग्दृष्टि अन्दर ऐसा जानता है कि मेरा आत्मा, विषय का-राग का भोक्ता है नहीं। आहा...हा...! राग आता है, उसका मैं ज्ञाता-दृष्टारूप से (रहता हूँ)। है न ज्ञातृत्व ? अभोक्ता शक्ति में है। ज्ञातृत्व से पृथक् जो भाव, उनका मैं भोक्ता नहीं। आहा...हा...! भाई! ४७ शक्तियों में अभोक्ता शक्ति है न ? उसमें यह है, यह मैंने अभी समयसार में देखा। यह याद आया न, इसलिए (देखा।) आहा...हा...!

लो! यही आया, देखो! दो बातें हैं - एक अकर्तापना है, (इक्कीसवीं शक्ति) **समस्त कर्मों के द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न जो परिणाम उन परिणामों के करण के उपरमस्वरूप (उन परिणामों को करने की निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति।** मेरे में है। आहा...हा...! कर्म के निमित्त से होनेवाले जो विकारी परिणाम, उनका मैं कर्ता नहीं। आहा...हा...! अकर्तागुणवाला आत्मा, उसे — राग के करने से विरम है, उपरम है, निवृत्त है। आहा...हा...! ऐसे यहाँ अभी अपने अभोक्ता की बात है।

समस्त, कर्मों से किये गये, ज्ञातृत्वमात्र से भिन्न.... जानने-देखने और आनन्द आदि परिणाम से पृथक् **परिणामों के अनुभव की (-भोक्तृत्व की) उपरमस्वरूप....** आहा...हा...! ये कर्म के निमित्त से हुए रागादि भोगने का भाव, उससे मैं उपरम-निवृत्तस्वरूप हूँ। अरे...! ऐसी बातें हैं। है ? इन परिणामों के **अनुभव की (-भोक्तृत्व की) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति।** वह यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! यह भी अमृतचन्द्राचार्यदेव (द्वारा) शक्ति का वर्णन है। इस (अलिंगग्रहण में) भी अमृतचन्द्राचार्य का वर्णन है। आहा...हा...!

ज्ञाता-दृष्टा के परिणाम के अतिरिक्त दूसरे जो रागादि परिणाम (होते हैं), उनका मैं अकर्तापने हूँ और उनका मैं अभोक्ता हूँ। (मुझे उनका) भोक्तापना नहीं है। अरे...!

ऐसी बात है। एक ओर ऐसा कहे कि धर्मी को जो राग आवे, उसका भोक्ता (है), यह ज्ञान जानता है। समझ में आया ? ज्ञानप्रधान अधिकार में ४७ नय आवें, वहाँ ऐसा कहते हैं कि राग के कर्तापने भी स्वयं परिणमता है और भोक्ता(पने) का भी स्वयं ज्ञान करता है। आहा...हा... ! परन्तु उसका वह स्वरूप-स्वभाव नहीं है, यह यहाँ कहना है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग ! साधारण लोगों को (समझ में भी नहीं आवे)। अरे... ! इसके बिना बापू ! भव का अन्त नहीं, भाई ! अरे... ! परिभ्रमण करके (कचूमर निकल गया)।

देखो न ! यह कहा नहीं ? ३६ वर्ष का जवान ! आहा...हा... ! पानी आया, साढ़े तीन को दुकान खोलकर बैठा था। आहा...हा... ! एकदम पानी आया। दुकान बन्द करके अन्दर बैठ गया। और पानी जोर (आया) तो सिर पर दीवार गिर पड़ी, समाप्त ! कपड़े की दुकान, ३६ वर्ष का युवक ! ऐसे तो कई मर गये होंगे। आहा...हा... ! यह स्थिति बापू ! अनन्त बार की, भाई ! उसके लिये नहीं, तू भी अनन्त बार इसी प्रकार पिल गया है, भाई ! तूने आत्मा के भान बिना ऐसे भाव किये, उन भावों के फलरूप से ऐसी दशायें तुझे अनन्त बार हुई है। आहा...हा... ! और उस दुःख का भोक्ता तू हुआ है। आहा...हा... ! दुःख का भोक्ता, वह आत्मा नहीं - ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा... ! वह तो आनन्द का भोक्ता है। नाथ ! सच्चिदानन्द प्रभु ! सच्चिदानन्द - सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार, शाश्वत् प्रभु मोटा भगवान परमात्मा ! आहा...हा... ! वह हिलाये हिले नहीं, परिणमें नहीं, बदले नहीं - ऐसी त्रिकाली चीज है। आहा...हा... ! उसमें अभोक्ता नाम का ध्रुवरूप से (रहा हुआ) गुण है। आहा...हा... ! उस गुण के कारण... आहा...हा... ! कठिन बातें ! लोगों को बेचारों को कहाँ जाना ? सत्य तो यह है।

कर्म के निमित्त से हुआ इन्द्रिय के विषय का भोग... आहा...हा... ! उससे तो मैं रहित हूँ। यदि उस सहित होऊँ तो मेरा स्वभाव हो जाए। आहा...हा... ! मेरा वह स्वभाव नहीं। आहा...हा... ! इस अरूपी के रूप का मुझे अनुभव करने दे। अब राग का भोगपना मेरे नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म है, भाई ! अरे ! अनन्त काल में, भाई ! कुचलकर मर गया है।

एक बार तो, इतनी ईयल नहीं होती ? लम्बी, डेढ़ हाथ लम्बी (और) पतली।

उसके ऊपर पाँच मण का पत्थर गिरा। अब निकलना कैसे ? खेंचे तो मर जाए। आहा...हा... ! ऐसे मरण प्रभु ! अनन्त बार किये। ऐसा न देखना कि उसे है। परन्तु तुझे याद न आवे, इस कारण नहीं था – ऐसे कैसे कहा जाए ? आहा...हा... ! जीवते जन्मा, तब बारह महीने में क्या हुआ ? देखो न ! छोटे-छोटे लड़के को ऐसे खम्भे लगाकर रोवे तो ऐसे ऐसे करते हैं, ऐसे ऐसे ! यह हिलावे (तो) रोते बन्द हो, इसका उसे पता है ? बारह वर्ष का, चौदह वर्ष का, पन्द्रह (वर्ष का) हुआ तो पता है कि मुझे ऐसा था ? और जन्मते तो ऐसा सिद्धान्त है कि जब जन्मे, तब मुँह तो सवा नौ महीने बन्द होवे, वह बाहर जहाँ निकले, वहाँ उसकी आँख ऊँची न होती, भाई ! यहाँ तो जन्म के समय की बात है परन्तु मुँह फाड़कर उँहकार से पहली शुरुआत करे। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऊँआ... ऊँआ... ऊँआ... तू वहाँ और मैं यहाँ। अब मेरे कुछ नहीं मिले। पहले ऊँआ शुरु करे। आँखें बन्द (होवे), पहले आँख न खोले। आहा...हा... ! उसकी माँ को जहाँ देखने जाए, वहाँ उसका मुँहा ऊँचा करते हों (इतना देखे), फिर बालक कन्या है या लड़का – यह बाद में। परन्तु वह मुँह फाड़कर ऊँआ करे। आहा...हा... !

इसी प्रकार यह भगवान अनादि काल से अज्ञानी... आहा...हा... ! राग के भोक्ता पर दृष्टि पड़ी है, यह पर्यायबुद्धि है, यह मिथ्याबुद्धि है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! पाँच इन्द्रिय के विषय सम्बन्धी का राग, उसका जो भोक्ता है, इसलिए उसकी दृष्टि राग पर है। वह पर्यायबुद्धि है, द्रव्यबुद्धि नहीं; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। तीन लोक के नाथ ऐसा पुकारते हैं, वह सुननेयोग्य है। आहा...हा... ! भाई ! ऐसी बातें हैं। जगत का उत्साह मार डालता है। आहा...हा... ! बापू ! तुझे किसका उत्साह आवे ? भाई ! इस पाप के परिणाम का तुझे उत्साह आता है ? प्रभु ! तेरे स्वरूप को तू भूल जाता है, नाश कर डालता है। क्योंकि तुझमें अभोक्ता नाम का गुण है, प्रभु ! यह इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाला विषय का भोग... द्रव्यदृष्टि होने पर उसका परमार्थ से वह भोक्ता नहीं है। आहा...हा... ! भाई ! ऐसी बातें हैं। कहीं कलकत्ता-फलकत्ता में मिले ऐसा नहीं है। वह लड़का वहाँ अमेरिका में भटकता है, रखड़ता है। लॉटरी में चार लाख मिले, प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। उसका बाप भी प्रसन्न होता है कि आहा...हा... ! लड़का, अभी तो विवाह किया और लॉटरी में चार लाख मिले।

मुमुक्षु – उसमें कहाँ लाभ है!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... ! धूल भी नहीं। इन इन्द्रिय के विषयों के उत्साह में प्रभु तेरा आत्मा घाता जाता है। समझ में आया? इन पाँच इन्द्रियों के विषय में राग में खिंच गया, नाथ! तेरी चीज वह अभोक्तापने की भिन्न रह गयी। आहा...हा... ! अभी तो यह करो, यह करो... व्रत करो और तप करो, और उपवास करो... आहा...हा... ! अरे! प्रभु! प्रभु!

एक बार कहा नहीं? वह महा उपाध्याय कहलाता है। एक ओर भगवान की स्तुति करते ऐसा कहे – प्रभु! मैं असंयमी हूँ, महा विकारी हूँ, प्रभु! मुझे तारो – ऐसा कहे। असंयमी हूँ (ऐसा कहे), एक ओर महा उपाध्याय नाम धरावे। अरे... ! जीव ऐसा का ऐसा सम्प्रदाय के मोह में मर गया। आ...हा... ! (एक श्वेताम्बर के साधु को तो) आगे चलकर जरा ऐसा हो गया था कि साधुपना ऐसा नहीं होता, परन्तु वह बाहर प्रसिद्ध करने जाए तो लोग (ऐसा कहे कि) साहेब! बाहर निकलना नहीं, यहीं के यहीं रहो। बाहर निकलेगा तो फिर कुछ का कुछ कर डालेगा। आहा...हा... ! यह तो भगवान के समक्ष पुकार करते हैं, महा उपाध्याय नाम धराकर! प्रभु! मैं असंयमी हूँ, महा विकारी हूँ। महावीर भगवान की स्तुति में बताया था, भाई! देखा था तब तुरन्त हाथ में आ गया था। अरे... ! प्रभु! तू असंयमी तो भी संयमी साधु है – ऐसा नाम धराता है, यह क्या? आहा...हा... !

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ का फरमान (है), उसे सन्त-केवली के पथानुगामी जगत को जाहिर करते हैं। भाई! प्रभु! तू कौन है? **आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं....** आहा...हा... ! कब ऐसा हो? कि उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाए, तब ऐसा हो। उसका आशय यह है। भाई! आहा...हा... ! आहा...हा... ! भगवान में अभोक्ता नाम का गुण है, इससे जहाँ दृष्टि द्रव्य पर जाती है, तब राग का भोक्ता नहीं – ऐसा होता है। आहा...हा... !

प्रश्न – वह निकल जाता है न?

समाधान – वह निकल जाता है, यह बात तो (सत्य) परन्तु यह तो है, उस समय उसका भोक्ता नहीं, क्योंकि उसकी चीज वह नहीं। आहा...हा... ! धर्मी जीव तो अपनी आनन्द और शान्ति की पर्याय का भोक्ता है। समझ में आया? तथापि प्रवचनसार के नय में आवे (कि) जितना राग है, उतना कर्ता और उतना भोक्ता है, परन्तु यह तो ज्ञान जानता

है। ज्ञान जानता है कि मुझमें यह है। समझ में आया ? परन्तु वास्तव में वह चीज मेरे स्वभाव में नहीं, पर्याय में है – ऐसा जानता है। आहा...हा... ! ऐसा मार्ग अब सुनने को नहीं मिलता। आहा...हा... ! क्या हो ? पहली दर्शनशुद्धि की जहाँ दरकार नहीं, ठिकाना नहीं। आहा...हा... !

यहाँ यह कहा – **इस प्रकार आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं...** आहा...हा... ! है ? **विषयों का उपभोक्ता नहीं, वह अलिंगग्रहण है....** लिंग अर्थात् राग का भोगना, उससे रहित अलिंगग्रहण है। राग का जो भोगना विषय का चिह्न है, उस लिंग से रहित अलिंग है। उसके भोक्ता रहित अलिंगग्रहण है। अरे...रे ! कहाँ ले गये ? शरीर को तो भोगता नहीं; वह तो पर है... आहा...हा... ! अज्ञानी भी स्त्री के शरीर को तीन काल में भोग नहीं सकता। समझ में आया ? मूढ़ मानता है कि इस माँस और हड्डियों को मैं चूसता हूँ, इसमें मुझे मजा आता है। अरे...रे... ! उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं। यहाँ तो अन्दर में होनेवाला भोगने का राग, उसका भी आत्मा भोक्ता नहीं है, क्योंकि उसकी पर्याय में भोक्तापना है, वह द्रव्यदृष्टि से आत्मा को देखने पर वह उसका भोक्ता नहीं – ऐसा कहते हैं। इसकी पर्याय में है और अनादि से उसका वह भोक्ता है, परन्तु वह पर्यायदृष्टिवन्त का भोक्ता और कर्तापना है। आहा...हा... ! परन्तु द्रव्यदृष्टि अर्थात् आत्मदृष्टिवन्त को.... आहा...हा... ! उन विषयों का ग्रहण अर्थात् उपभोग नहीं है। आहा...हा... ! बाहर से तो समकिती भी... आहा...हा... ! ऐसे भोगने के राग और स्त्री के संग में आता हो तो भी, प्रभु ! उसकी ओर उसका लक्ष्य नहीं है। उसका जोर है वस्तु के स्वभाव पर; इस कारण अन्तर में वह उसका भोक्ता है नहीं। अरे ! ऐसी बातें कैसे बैठे (जँचे) ? भाई ! ऐसी बातें हैं, प्रभु !

तेरी प्रभुता का पार नहीं, नाथ ! तुझे यह प्रभुता जमती नहीं, पामरता जमती है; प्रभुता जमती नहीं ! आहा...हा... ! इसकी प्रभुता यह कि विषय के राग को भोगे नहीं – ऐसी तेरी प्रभुता है। आहा...हा... !

इस प्रकार आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं – ऐसे अर्थ की... अलिंगग्रहण में से ऐसे भाव की **प्राप्ति होती है।** आहा...हा... ! (एक मुमुक्षु का) पत्र है, उसमें एक शब्द यह लिखा है। अलिंगग्रहण का लिखा होगा। ओ...हो... ! हाथ में प्रत्यक्ष है ऐसा बताते हैं। अरूपी को रूप की तरह बताते हैं ! अब तो निकट ही है, ऐसा लगता है। आहा...हा... ! अरूपी को रूपी की तरह उसका रूप बताते हैं। रूप अर्थात् स्वरूप प्रभु ! यह सब जड़

अन्धे हैं और राग भी अन्धा है। वह तेरा स्वरूप नहीं है, प्रभु! आहा...हा...! तुझे राग में किसका हर्ष और उत्साह आवे? आहा...हा...! इस हर्ष और उत्साह में प्रभु! तेरा आत्मा घाता जाता है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। 'धार तलवार नी सोह्यली दोयली चौदहवाँ जिनतणी सेवा' जिन अर्थात् आत्मा, हाँ! आहा...हा...! यह बारह बोल (पूर्ण) हुए... हुए न?

तेरहवाँ (बोल) **लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि...** अर्थात् पाँचों इन्द्रिय आदि। पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया (ऐसे) आठ, श्वाँस और आयुष्य (ऐसे) दस प्राण है न? आहा...! **लक्षण के द्वारा....** ऐसे इन्द्रिय और मन इत्यादि के **लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है....** आहा...हा...! यहाँ तो अभी 'जीओ, जीने दो' ऐसी पुकार है। यह बाहर में जीना (वह)। अब यहाँ विरोध करे तो इसका विरोध किया कि यह जीओ और जीने दो, इसका भी सोनगढ़वाले विरोध करते हैं। परन्तु सुन न प्रभु! तू जो जीओ (कहता है) अर्थात् पाँच इन्द्रिय के विषय से पाँच इन्द्रिय से जीवन (मानता है), वह तेरा जीवन ही नहीं है। इस प्रकार तू जी और दूसरे को जीने दे — ऐसा भगवान का वाक्य है ही नहीं। यह तो किसका है? भाई! अंग्रेजी का - बाईबल का है।

यहाँ तो जीवत्वशक्ति से जी (- ऐसा कहते हैं) पाँच इन्द्रिय और मन से जीवन (जीवे वह) तेरा नहीं, नाथ! आहा...हा...! पाँच इन्द्रियाँ, मन, आयु, और श्वाँस से प्रभु! तेरा जीवन नहीं, वह जीव का जीवन नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। यह दिगम्बर सन्तों के सिवाय कहीं मिले ऐसा नहीं है। अभी दिगम्बर के साधु नाम धरानेवाले भी गप्प-गोला उड़ाते हैं। यह करो और वह करो और यह करो... ये तो सच्चे सन्त हैं, ये पुकारते हैं, जगत को प्रसिद्ध करके जगाते हैं, जाहिर करके जगाते हैं। नाथ! तू राग में सो रहा है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, इस राग का भोक्ता होकर पड़ा है, प्रभु! यह तेरी दशा नहीं, तेरा स्वरूप नहीं। आहा...हा...! क्या होगा यह? आहा...हा...!

जिसकी दृष्टि पर्याय पर, राग पर है, वह उसका मिथ्यादृष्टि भोक्ता कहने में, जानने में आता है। परन्तु जो आत्मा जिस प्रकार है, वह पर्याय कहीं वास्तविक आत्मा नहीं है। वास्तविक आत्मा तो ज्ञायक चिदानन्द चैतन्य ज्योति जलहल ज्योति परमात्म वीतरागी

आनन्द का सागर — ऐसा जो वास्तविक आत्मा है, उसकी जिसे दृष्टि हुई, वह आत्मा, राग का भोक्ता नहीं है। इसलिए (कहते हैं कि) वह दृष्टिवन्त आत्मा... आहा...हा...! (जैसे) वस्तु भोक्ता नहीं, वैसे उसकी दृष्टिवन्त भोक्ता नहीं। उसमें आया है न? भाई! ३२० गाथा में — **दिट्ठी जहेव णाणं** फिर वहाँ कहा कि ज्ञान भी वहाँ लेना। ज्ञान तो लेना परन्तु क्षायिकज्ञान भी लेना। उसमें - ३२० (गाथा में) तीन लिया है, भाई! आहा...हा...! समझ में आया? क्या उसकी शैली! गजब शैली!

लोगों की पुकार यह है 'महावीर का सन्देश - जीओ, जीने दो' यह सब शोर मचाते हैं। यहाँ भगवान इनकार करते हैं कि इन पाँच इन्द्रिय से जीवन और मन से जीवन, वह तेरा स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न - दूसरों को जिला सकता है?

समाधान - दूसरों को तीन काल में नहीं जिला सकता परन्तु यह लोगों को अच्छा लगता है न! आहा...हा...! जीओ और दूसरों को जिलाओ! दूसरों को जिला सकता नहीं। अरे! वीतरागी जीवन जीवे, उसे तू जिला सकता नहीं, उसे दे सकता नहीं। यह कहा नहीं? बन्ध अधिकार में! बन्ध और मोक्ष के परिणाम का कर्ता तो वह है, उसमें तू इस प्रकार उसके मोक्ष के परिणाम का कर्ता हुआ? वह तो वीतरागभाव वह करे, उसमें तू उसे मोक्ष करा दे? आहा...हा...! और वह अज्ञानभाव से राग से बँधे, उसे तू बँधन करा दे? तेरी दृष्टि (कि) पर को बंधन कराऊँ और पर को मोक्ष कराऊँ, यह विकल्प ही झूठा है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह पर्यूषण के दिन हैं। आहा...हा...! चैतन्यसूर्य परमात्मा का जीवन पाँच इन्द्रिय और मन और प्राण से नहीं; द्रव्यप्राण से तो नहीं परन्तु भावप्राण से भी नहीं। यह अशुद्ध भाव प्राण, हाँ! चैतन्य के जो भावप्राण — जीवत्वशक्ति के, ज्ञान, दर्शन, आनन्द के (प्राण), आती है न पहली शक्ति! जीवत्वशक्ति अर्थात् दर्शन, ज्ञान, आनन्द और सत्ता यह उसका प्राण है, उससे वह जीता है। अरे... अरे...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं भाई! जैसे घानी में तिल पिलते हैं, वैसे अनादि से राग और विकार में पिल गया है, भाई! उससे रहित का तुझे पता नहीं है। उससे रहित तू कौन है? - इसका तुझे पता नहीं है। आहा...!

यहाँ यह कहते हैं **लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि....** इत्यादि अर्थात् श्वाँस, आयु। पाँच इन्द्रिय, मन (ऐसे) छह हुए न? और आयुष्य, श्वाँस, मन-वचन और काया लेना। मन-वचन और काया, इन्द्रिय में पाँच (इन्द्रिय ऐसे) आठ और श्वाँस तथा आयुष्य, इस प्रकार **मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण....** इसके **द्वारा ग्रहण....** अर्थात् जीव का **जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है....** आहा...हा...! पाँच इन्द्रिय और मन, वचन, काया — ये दस प्राण, इन द्रव्यप्राण से उसका जीवन नहीं परन्तु अशुद्ध जो उसकी योग्यता के भावप्राण है, (उससे भी उसका जीवन नहीं)। समझ में आया? अरे...रे! जरा सी कोई सुविधा मिले और जहाँ (ऐसा) हुआ (तो ऐसा मानता है कि) अपने को अच्छा लगा! अपने लड़के अच्छे हुए, पैसेवाले हुए। क्या है प्रभु तुझे यह?

मुमुक्षु - अच्छे लड़के को तो अच्छा ही कहा जाता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री - अच्छा कब था? ऐ...ई...! यह छह-सात हजार का वेतन, आठ हजार का (वेतन लावे) तो अच्छा होगा? आहा...! उसमें से सरकार को कितना जाता होगा? और (स्वयं के लिये) कितना रहता होगा? आहा...हा...! यह तो उस अमेरिका में बहुत लोग जाते हैं। लोगों को ऐसा लगता है कि आहा...हा...! हमारा लड़का अमेरिका में गया है। परन्तु क्या है अमेरिका में? उसे आठ हजार का वेतन, दस हजार का वेतन! अब वहाँ के हरिजन को दस हजार का वेतन होता है। इसे पता नहीं पड़ता न, (इसलिए ऐसा लगता है कि) दस हजार का वेतन! परन्तु उसमें बचता कितना है - तुझे पता है? और वहाँ मजदूरी करे तो ऐसा हो। वह भंगी विष्टा लेने आवे, उसे दस हजार का वेतन होता है। मोटर लेकर आता है! इसमें (क्या)? (इसे ऐसा लगता है कि) हमारे लड़के ने पाँच वर्ष में पचास हजार की आमदनी की, बढ़ाये, ऐसा है और वैसा है। आहा...हा...! क्या है तुझे यह?

यहाँ कहते हैं प्रभु! तेरा जीवन, प्राण से नहीं - ये इन्द्रिय और मन के प्राण। अन्दर जो चैतन्य प्राण आनन्द और ज्ञान के प्राण हैं, उनसे तेरा जीवन है। ऐसी बातें! आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! तब तूने आत्मा को जाना और तुझे धर्म हुआ। आहा...हा...! जिसे पाँच इन्द्रिय के विषय के राग के प्राण से अथवा दस प्राण से जीवन जिसका नहीं — ऐसी जिसकी पर से दृष्टि हट गयी है... आहा...हा...! और जिसमें ज्ञान-दर्शन आनन्द

और सत्ता प्राण है — ऐसा जो जीव का जीवन है, वहाँ इसकी दृष्टि पड़ी है। अरे...रे...! ऐसी बातें हैं।

सम्यक्दृष्टि होने पर इन पाँच इन्द्रिय और मन से मेरा जीवन है — ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया? यहाँ तो (कहते हैं) आत्मा तो यह नहीं। इसका अर्थ कि जिसकी दृष्टि आत्मा की हुई, उसे भी वे नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी व्याख्या! पहला (सरल था) दया पालो। दया वह सुख की बेलड़ी दया वह सुख की खान.... स्थानकवासी में यह (बोलते हैं)। हमारे हीराजी महाराज (को) कषाय बहुत मन्द थी, शान्त (थे) परन्तु यह कहते — किसी प्राणी को मत मारो, यह पूरे सिद्धान्त का सार है - ऐसा कहते। यह जिसने जाना, उसने सब जाना — ऐसा कहते... आहा...हा...! कषाय बहुत मन्द (थी), स्थानकवासी साधु कहलाये, उनके लिये आहार-पानी (बनाये हों), वे नहीं लेते। अभी तो यह दिगम्बर जैन साधु तो इनके लिये चौका बनाकर ये सब सेठिया दें और बोलें झूठ! भाई! आहार और पानी उनके लिये बनावे और पड़गाहन के समय कहे कि आहार शुद्ध, मन शुद्ध, वचन शुद्ध,... तिष्ठ... तिष्ठ... तिष्ठ... सब गप्प ही गप्प! इन सेठियाओं ने तो ऐसा सब किया होगा न? इन्हें पता है। आहा...हा...!

हमारे सम्प्रदाय के गुरुजी थे। हमारे जो सम्प्रदाय के गुरु थे, वे तो गाँव में स्थानकवासी के पाँच-छह घर हों वहाँ जायें, साढ़े नौ से पहले जायें नहीं, बाहर बैठें क्योंकि वहाँ जाऊँगा और मेरे लिये बनायेंगे तो? आटा गूँथ गया हो, दाल-भात हो गये हों और रोटी बनाते हों, तब लगभग पहुँचते। जो हो वह ले लें - ऐसे थे। परन्तु दृष्टि मिथ्यात्व। यह क्रिया धर्म (ऐसा मानते) आहा...हा...! आहा...हा...! क्या हो? उनको तो कान में भी नहीं पड़ा कि आत्मा, पर की दया पालन नहीं कर सकता — यह शब्द कान में भी नहीं पड़ा। आहा...हा...! बोटादवाला (एक व्यक्ति) पूछता था - हीराजी महाराज कहाँ काल (पा) गये? वहाँ बोटाद में (कोई) पूछते होंगे। मैंने कहा - काल तो रास्ते में कर गये। वैराली से कैम्प के बीच (काल) कर गये परन्तु कैम्प के पुल के नीचे देखे थे। (संवत्) १९७४ के चैत्र कृष्ण अष्टमी, देखे ९ रास्ते में मर गये। ८, १९७४ के चैत्र कृष्ण नौ, रास्ते में चलकर पाँच गाँव जाना था। दो गाँव चले थे, वहाँ श्वाँस चढ़ा एक साधु थे, वे सामने चले गये और एक साथ थे, उनसे कहे कि तुम जाओ, मैं आता हूँ। वे जहाँ जाते हैं, तब

यहाँ देह छूट जाता है। श्वाँस चढ़ा... थोड़ी देर (शरीर) ऐसे पड़ा रहा... आहा...हा...! फिर मोहनलालजी थे, उन्हें भेजा कि हीराजी महाराज काल पा गये हैं। वे आये तब मुर्दा पड़ा था। मुर्दे को उठाकर एक ओर वृक्ष के नीचे दूर रखा (संवत्) १९७४ के चैत्र कृष्ण नौवीं की बात है। अष्टमी को गुजर गये थे। आहा...हा...! परन्तु यह धर्म की दृष्टि (कि) पर जीव को न मारना, यह सम्पूर्ण सिद्धान्त का सार है! इस जीव को राग से न मारना, यह सिद्धान्त का सार है। आहा...हा...! सब बातों में बहुत अन्तर!

लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि.... अर्थात् वचन, काया, श्वास, आयुष्य इत्यादि **लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना....** ऐसे पाँच इन्द्रिय के नव प्राण से जीवन का धारण कर रखना, वह **जिसके नहीं है...** आहा...हा...! जड़ दस प्राणों को धारना, यह भी जिसमें नहीं और भावप्राण जो है — अशुद्ध भावप्राण... क्योंकि वे (द्रव्य प्राण) तो जड़ हैं परन्तु उनकी योग्यता तो जीव में है न? उस योग्यता से जीना, वह जीव का जीवन नहीं है। बाहर के दस जड़ प्राण से जीना, यह तो जीव का जीवन नहीं परन्तु जो अशुद्ध भावप्राण है अर्थात् इन्द्रियाँ - जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं, (उनसे) तो जीवन नहीं परन्तु भावेन्द्रिय से भी जिसका जीवन नहीं। भावेन्द्रिय भी प्राण है। आहा...हा...! सब समाहित किया है! अलिंगग्रहण में, जैसे हथेली में आँवला दिखाते हैं, वैसे आत्मा दिखाया है!! प्रभु! तू यह है न! यहाँ जा न! तेरी नजर वहाँ कर न! भगवान विराजते हैं। आहा...हा...! दस प्राण से जीवे, वह उसका जीवन नहीं; उसका जीवन तो जीवत्वशक्ति से जीवे, वह उसका जीवन है। आहा...हा...! वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सत्ता, शान्ति के प्राण से पर्याय में जीवे, वह उसका जीवन है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात लोगों को सुनने को नहीं मिलती और यहाँ है तो (शोर मचाते हैं कि) ए... यह तो निश्चयाभास है - ऐसा करते हैं।

अशुद्ध भावप्राण है, उससे जीवन जीना, यह तो मिथ्यादृष्टि मानता है। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं मानता। वह तो कहता है कि मैं जड़ द्रव्यप्राण और योग्यता के अशुद्ध भावप्राण का जीवन, वह मेरा जीवन नहीं। आहा...हा...! मेरा जीवन, जीव के स्वभाव का स्वभाव से जीना (वह है)। ज्ञान से, दर्शन से, आनन्द से, शान्ति से, स्वच्छता से, प्रभुता से ऐसी पर्याय को प्रगट करके जीना, वह मेरा जीवन है। आहा...हा...! क्या हो?

अरे... ! प्रभु का विरह पड़ा, परमात्मा रह गये वहाँ और यहाँ सब गड़बड़। सत्य बात जहाँ आयी, वहाँ कहते हैं ए... यह तो निश्चयाभासी है, यह मिथ्यादृष्टि है — ऐसा कहते हैं। 'करुणादीप' में बहुत आता है, बहुत विरोध, बहुत विरोध! भाई! तुझे पता नहीं है बापू! तू किसका विरोध करता है और किसका तू विरोध करता है ? भाई! प्रभु! तेरा विरोध तू करता है। आहा...हा... !

यहाँ तो (कहते हैं) जड़ व्यवहार प्राण-ये द्रव्य इन्द्रिय, आयुष्य और अशुद्ध निश्चय प्राण (अर्थात्) प्राण की पाँच इन्द्रिय की योग्यता, मन-वचन-काया की योग्यता, श्वाँस आवे इसकी योग्यता, आयुष्य की योग्यता प्रमाण रहना... आयुष्य के कारण नहीं, इतने रहने की स्वयं की योग्यता, इस प्राण से जीना, वह जीव का जीवन नहीं है। आहा...हा... !

जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है.... आहा...हा... ! भगवान आत्मा को पाँच इन्द्रिय और तीन मन-वचन-काया और श्वाँस, आयु की योग्यता से और उसके जड़ से जीवन जिसे नहीं। आहा...हा... ! वह तो चैतन्य के शुद्ध भावप्राण... आहा...हा... ! निश्चय शुद्धज्ञान, आनन्द, शान्ति — ऐसे जो भावप्राण-शुद्ध भावप्राण, उनसे उसका जीवन है। आहा...हा... ! आहा...हा... ! इसमें कितना समाहित किया है! पूरी बात तो निकलना (मुश्किल पड़ती है)। इतना अधिक समाहित किया है! ओहो...हो... !

पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया, श्वाँस और आयुष्य... इसे 'जियो और जीने दो' लोग यह पुकारते हैं और महावीर का वचन — ऐसा कहते हैं। यहाँ तो परमात्मा का यह वचन नहीं, परन्तु सन्तों की भी यह वाणी नहीं। आहा...हा... ! सन्तों की यह वाणी है कि इस जीवन का जीवन तेरा नहीं है। आहा...हा... ! अभी सर्वत्र पुकारते हैं न ? महावीर का सन्देश! रथयात्रा चलती है न ? (उसमें पुकारते हैं) ये सेठ तो वहाँ के प्रमुख हैं, इसलिए सब किया होता है न ? आहा...हा... !

(एक भाई) थे। वे अष्टम का पारणा करते थे, वे गुजर गये। गुजर गये और बाहर में अष्टम का पारणा करते, (इसलिए) आबरू बड़ी थी। मैं वहाँ उपस्थित था। रात्रि को लगभग स्थिति ऐसी हो गयी, मैं सो रहा था (मुझे ऐसा लगा कि) इसे छूटने का समय है।

दो व्यक्ति थे। नीचे गाँधी है, गाँधी को कहलवाया कि (इनकी) देह छूटने की तैयारी है। आहा...हा...! वे प्राण छूटे परन्तु अन्दर के प्राण छूटते नहीं, इसका पता नहीं। मुझे तो दूसरा कहना है, जब उनकी पालकी निकली, आबरू बड़ी थी न? यह तो (संवत्) १९८१ के मार्गसर कृष्ण तीज की बात है और मैं (वहाँ) था सही न! इसलिए गृहस्थों की लड़कियों को लड़का न हो, वे नीचे से निकलते! पालकी के नीचे से (निकलते) परन्तु ए... तुम मूर्ति को नहीं माननेवाले, यह क्या करते हो? (इस पालकी के) नीचे से निकलते 'चूड़ा' वाली एक बहिन थी, बाँझ थी, उसे लड़का नहीं था, उस बहिन को लड़का नहीं था। पालकी उठायी, बहुत मान था, अष्टम-अष्टम के पारणा करते हुए देह छूटा (इसलिए उसके नीचे से) निकले परन्तु क्या है? लड़का हो! अर...र! ऐसा भ्रम! ऐसा मिथ्यादृष्टिपना और कहे हम जैन हैं! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं राग हो और दस प्राण से जीवे, यह इसका जीवन नहीं; यह आत्मा का जीवन नहीं, प्रभु! आहा...हा...! यह तो पर्यायदृष्टिवाला-द्रव्यदृष्टि छोड़नेवाला-मिथ्यादृष्टि दस प्राण से जीता हूँ ऐसा माननेवाला है। आहा...हा...!

'रांदलपुर' वहाँ के एक गृहस्थ थे, यह तो बहुत पुरानी बात है। लड़की 'चूड़ा' की थी... नीचे से निकले अन्दर किसी ने बात की कि नीचे से निकलती है, मैं उपाश्रय में था।

प्रश्न – ताजिया के नीचे से निकलते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : ताजिया को पानी डालते, हमें तो पता है। स्थानकवासी बहिनें, ताजिये का दिन हो... ताजिया समझते हो? ताबूत, वहाँ पानी डालते, घड़ा भरकर पानी डालने जाते हैं, कुछ पता नहीं पड़ता। ताबूत के पास पानी डाले, वह धूल उड़े नहीं न (इसलिए) फिर वहाँ जाये और ताबूत को पैर लगे। अर..र...र... अरे...रे...!

यहाँ तो यह बात तो बहुत स्थूल मिथ्यात्व है परन्तु दस प्राण से मैं जीता हूँ – यह भी मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! मेरा प्रभु तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द से जीनेवाला, वह इन (जड़) प्राणों से जीवे – यह कैसे बने? आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें वहाँ कहीं सुनी थीं? श्वेताम्बर थे न? आहा...हा...!

क्या कहा? आहा...हा...! है न? **जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं**

है वह अलिंगग्रहण है;.... अलिंग-लिंग अर्थात् जीवन। जो पाँच प्राण और भावप्राण से जीना नहीं, वह लिंग है। इस लिंग से जीवन नहीं, वह अलिंग है। आहा...हा...! भाव और जड़ दस प्राण वह लिंग है। उनसे जीवन नहीं, वह अलिंगग्रहण है। आहा...हा...! ऐसा वीतरागमार्ग इसे सुनने को नहीं मिले, वह बेचारा कहाँ जाये? ऐसे का ऐसा संसार में डूब मरे और चार गति हो। आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा....' क्या कहते हैं अब? **शुक्र...** अर्थात् वीर्य **आर्तव....** अर्थात् खून, ऋतु। स्त्री का खून और पुरुष का वीर्य इस **'शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला) नहीं है'...** उसे अनुसरण कर होनेवाला नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया कुछ? भगवान आत्मा! पिताजी का वीर्य और माता का खून-ऋतु, दो होकर शरीर होता है न अन्दर? इस प्रकार इसका जीवन नहीं है (-ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! आहा...हा...!

तीर्थंकर जैसा आत्मा, वह जब जन्मता होगा, तो भी उसे क्षायिक समकित और तीन ज्ञान (होते हैं)! उनके माँ-पिता को तो पहले सोलह स्वप्न आते हैं, उनकी माँ को सपने आते हैं और अपने पति से पूछती है (कि इनका फल) क्या है? तो कहे, अरे! तीर्थंकर का जीव आया है! उनके पिता बात करें। वह आया है, तब से उसे ऐसा हो जाता है कि आहा...! भगवान तीर्थंकर का आत्मा है! वह वहाँ आगे भी प्राण से वहाँ जीता है — ऐसी दृष्टि नहीं है। समकित है न? तीन ज्ञान के धनी हैं। मति, श्रुत और अवधि (तीन ज्ञान लेकर आये हैं)। आहा...हा...! माता के गर्भ में भी वे उनके आयुष्य और प्राण जो इन्द्रिय आदि से जीवन है - ऐसा नहीं मानते। आहा...हा...! क्योंकि दृष्टि द्रव्य पर पड़ी है। माता के गर्भ में होने पर भी; वे गर्भ में हैं ही नहीं, वे तो उनके आत्मा में हैं। आ...हा...! उन्हें शरीर का भी स्पर्श नहीं तो माता के गर्भ का स्पर्श तो कहाँ से आया! ऐसी बातें बहुत कठिन! और ऐसे जन्मते हों, तब (हर्ष नहीं समाता कि) तीर्थंकर का आत्मा है! और वैराग्य की मूर्ति! और गम्भीर... गम्भीर... गम्भीर... बालक (है तो भी) गम्भीर...! इतनी गम्भीरता तो लेकर आये हैं। जिनके शरीर में इतनी गम्भीरता दिखती है। जैसे वृद्ध व्यक्ति बहुत स्थिर हो गया होता है, वैसे ही इनका शरीर पहले से स्थिर हो गया, वह वृद्ध जैसा

दिखता है। आहा...हा...! जिन्हें चंचलता नहीं दिखती। यह सम्यग्दृष्टि हैं; इसलिए यह मेरा जीवन है — ऐसा यह अन्दर नहीं जानते। आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं बापू!

यह खून और वीर्य को अनुसरण करके होनेवाला नहीं है। खून और वीर्य से होनेवाला तो शरीर है, वह तो जड़ है। आहा...हा...! भगवान आत्मा इस खून और वीर्य से होनेवाला नहीं है। खून और वीर्य से होनेवाला तो जड़ मिट्टी, धूल, शरीर है। आहा...हा...! उस माता के गर्भ में भी फिर उसके अवयव होते हैं, शुरुआत में खून और वीर्य की बिन्दु होती है, उसमें आत्मा आवे! आहा...हा...! क्रम क्रम से इन्द्रियों के सब अवयव होते हैं। अरे...! तो भी वह सम्यग्दृष्टि है... आहा...हा...! वहाँ भी उनके ध्रुव का ध्येय खिसकता नहीं है!! आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। इसलिए यह जीवन मेरा है – ऐसा वे नहीं मानते। आहा...हा...! शरीर से और इन्द्रिय से जीना है – ऐसा वे नहीं मानते। वे बालकरूप (भी) नहीं मानते। अरे! गर्भ में हों तो भी नहीं मानते, कहते हैं। आहा...हा...!

शुक्र और खून से अनुविधायी (अर्थात्) अनुसरण कर होनेवाला तो शरीर है, उससे होनेवाला प्रभु नहीं है। आहा...हा...! सन्तों ने तो स्पष्ट बात की है! उन्हें कहाँ जगत् की पड़ी है! आहा...हा...! पिता का वीर्य और माता का खून – आर्त दो होकर शरीर उत्पन्न होता है, भगवान आत्मा दो से उत्पन्न नहीं होता। आहा...हा...! सन्तों को सत्य कहने में कहाँ (शर्म) है? कि यह वीर्य और खून तुम क्या बोलते हो? सुन न! हम वीतरागी सन्त हैं, मुनि हैं, हम सत्य बात को प्रसिद्ध करते हैं। हमको इसमें राग नहीं है। आहा...हा...!

वीर्य और खून को अनुसरण करके होनेवाला शरीर, वह मैं नहीं। उन्हें अनुसरण करके मैं नहीं होता। आहा...हा...! मैं तो आत्मा आनन्द और ज्ञान को अनुसरण करके होनेवाली दशावाला हूँ। आहा...हा...! गर्भ में भी भगवान समकिती ऐसा जानते हैं। भले ही ऐसी स्पष्ट बात न हो परन्तु अव्यक्तरूप से उनकी यह स्थिति है। आहा...हा...! माता का भोजन आवे, इसलिए उससे मैं जीता हूँ, नाभि से आँत में रस चढ़ता है, वह मेरा जीवन नहीं, इस प्रकार मैं होनेवाला नहीं, इस प्रकार मैं उत्पन्न होनेवाला नहीं। आहा...हा...! देखो! सम्यग्दृष्टि की द्रव्यदृष्टि! इस द्रव्यदृष्टि से जीनेवाला वह मैं। आनन्द और ज्ञान से जीनेवाला... परन्तु इस जीव को जीनेवाला वह मैं नहीं। आहा...हा...! है?

(अनुसार होनेवाला) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति हाती है। अलिंगग्रहण में ऐसे भाव की प्राप्ति होती है। ऐसा भाव इसमें है – ऐसा कहते हैं। अलिंगग्रहण एक ही शब्द है परन्तु इसमें ऐसे भाव भरे हुए हैं। ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १८० **भाद्र शुक्ल ७, बुधवार, २९ अगस्त १९७९**

(प्रवचनसार, १७२ गाथा) (चौदहवाँ बोल) **लिंग का अर्थात् मेहनाकार का...** अर्थात् यह पुरुष का जो लिंग है या स्त्री का जो लिंग है, वह तो जड़ है। आहा...हा...! यह पुरुषादि है न? इसमें स्त्री, नपुंसक सब लेना। उनका जो इन्द्रिय आदि का आकार है। आहा...हा...! शरीर की इन्द्रिय का भाग कठोर हो, वह सब जड़ की क्रिया है। आहा...हा...! अज्ञानी उसे 'यह क्रिया मेरी है' – ऐसा मानकर जड़ को अपना मानता है। ऐसी बात है, भाई! आहा...हा...!

जैसे क्रोध होने पर शरीर की स्थिति लाल आदि हो, वह तो जड़ की दशा है। इस क्रोध का भी कर्ता और शरीर लाल हुआ, उसका भी कर्ता हूँ – ऐसा मानता है, वह मिथ्यादर्शन है। आहा...हा...! यह हास्यादि भाव होने पर मुख प्रफुल्लता आदि हो, वह तो जड़ की क्रिया है। आहा...हा...! वह जड़ की क्रिया मैंने की और वह क्रिया मेरी है – यह अजीव को जीव माना, यह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! ऐसी बात है। शरीर में रोग होने पर वह तो जड़ की दशा है; क्षुधा-तृषा होने पर वह भी जड़ की दशा है। शीत-उष्ण, ठण्डी-गर्मी अवस्था (होवे), वह भी जड़ की अवस्था है।

वैसे यह पुरुष का लिंग कठिन होना, यह भी जड़ की दशा है। अरे रे! आहा...हा...! कठिन काम, भाई! अज्ञानी, मेहनाकार जो विषय का लिंग है, उस आकार का **ग्रहण जिसके नहीं....** आहा...हा...! जड़ की क्रिया आत्मा ने ग्रही नहीं और की नहीं। यह लिंग अर्थात् शरीर का आकार – अलिंग, उसे आत्मा ने ग्रहा नहीं (ऐसा वह) अलिंगग्रहण है। ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बात, बापू! आहा...हा...! मैंने हाथ से स्पर्श किया, जीभ से चखा, आँख से देखा, कान से सुना – यह सब पराधीन दशा है, अपनी मानता है। आहा...हा...!

यह तो मिट्टी की अवस्था है। यह तो शरीरपरिणाम को प्राप्त है। उसके द्वारा मैंने चखा, देखा, सुना – यह सब क्रिया जड़ की है। आहा...हा...! यह मैंने की, यह मिथ्यात्वभाव है। जिसे, चैतन्यस्वभाव ज्ञायक है – ऐसी दृष्टि हुई, उसे इस क्रिया का अपनापना मानना (होता) नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बात बहुत, भाई!

पर की दया पाल रुकता नहीं, परन्तु पर की दया पालने की शरीर की जो बचाने की क्रिया हो, (दृष्टान्त रूप से) पानी में मक्खी पड़ी है तो हाथ की क्रिया भी मैं करता हूँ और उसे बचाने की क्रिया भी मेरी है (– ऐसा अज्ञानी मानता है।) सूक्ष्म बात बहुत, भाई! अरे...! अनादि का भटकता (आया है)। ऐसे ही शरीर द्वारा लड़के-लड़कियाँ हों, वे मुझसे हुए – (ऐसा मानता है।) आहा...हा...! कठिन काम है।

यहाँ कहते हैं, **मेहनाकार...** आहा...हा...! लौकिक साधन — ये इन्द्रियाँ है, वे लौकिक साधन है। आहा...हा...! ये मुझसे होती है... आहा...हा...! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, वह लिंग की कठिन दशा को कैसे करे? जड़ की दशा को (कैसे करे)? ऐसी बातें हैं।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं यह भाषा है। भाषा को आत्मा कैसे करे? सूक्ष्म है, भाई! अरे...! इसने अनन्त काल में, अपना स्वरूप ज्ञायक, वह तो जाननेवाला है; राग और पर का करनेवाला इसका स्वरूप नहीं है, (इसने जाना नहीं।) शरीर के अवयव द्वारा लड़के हुए, यह मेरी लड़कियाँ हुई... आहा...हा...! परन्तु यह शरीर का जो अवयव है, वह क्रिया तेरी नहीं (तो फिर) इससे मेरे लड़के हुए, लड़कियाँ हुई (–यह कहाँ आया)? अरे...रे...! कठिन काम बहुत, भाई! अरे...रे...! वीतरागस्वरूपी भगवान आत्मा पर में कार्य कर नहीं सकता, उसे दूसरा कार्य करूँ – ऐसा मनवाना (यह मिथ्या भ्रान्ति है।) आहा...हा...!

सबेरे तो आया नहीं था? संयोग बहुत हों तो भी वह बन्ध का कारण नहीं है। आहा...हा...! वैसे शरीर का अवयव जो कठिन हो, वह बन्ध का कारण नहीं है; वह आत्मा से हुआ नहीं, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है, बापू! आहा...हा...! भगवान आत्मा! जानन स्वभावी आत्मा! वह इस जड़ की क्रिया करे – ऐसा मानना और उस जड़ के परमाणु की उस समय वह पर्याय जड़ में उत्पन्न होने का उसका काल है। आहा...हा...! कठिन काम बहुत! समझ में आया? वह तो अजीव है। अजीव की वह क्रिया देखकर मेरी (क्रिया) होती है (– ऐसा अज्ञानी मानता है।)

प्रश्न – प्रेरणा तो करे न ?

समाधान – प्रेरणा क्या करे ? प्रेरणा करे, तब तो कर्ता हो गया। आहा...हा... ! पक्षघात होता है, तब बहुत प्रेरणा करता है, तो भी होता नहीं, क्योंकि उसकी जड़ की क्रिया है, वह वहाँ होनी नहीं है। आहा...हा... ! यह ओठ हिलते हैं... प्रभु ! सूक्ष्म बातें बहुत ! वह इन परमाणुओं की पर्याय हिलती है, ऐसे-ऐसे होती है। वह आत्मा से नहीं। आहा...हा... !

मुमुक्षु – जीव होवे तो होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह बात ही झूठ है। जीव होवे तो जीव की पर्याय हो। जीव होवे तो जड़ की हो – ऐसा किसने कहा ? समझ में आया ? जीव होवे तो या तो अज्ञानभाव से राग-द्वेष को करे, वह उसमें हो और ज्ञानभाव से ज्ञान करे, वह उसमें हो, परन्तु जीव है, इसलिए शरीर चले और बोले (– ऐसा नहीं)। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म ! यह तो हमने इतने लड़के किये और हमारे लड़के और यह मेरी लड़की (मानता है।) दो जुड़वाँ आवे तो किसे राज्य देना – यह मुश्किल पड़े, विचारना पड़े। आया है तो जड़ के कारण। पहला आया हो, वह बड़ा और बाद में आया हो, वह छोटा... सिद्धान्तानुसार तो बाद में आया है, वह बड़ा है, क्योंकि पहला वह वहाँ उपजा है। वह जड़ की पर्याय भी उसकी उससे हुई है। आहा...हा... !

यह कल कहा था न ? भाई ! राज का कोई (एक भाई) कल बात करता था। राज में कुमार छोटे-बड़े थे। उसमें पहले आया, (वह) कहे – मैं बड़ा, बाद में आया, वह कहे – मैं बड़ा। राज्य किसे देना ? ऐसी बात की थी। आहा...हा... ! यह बात हुई थी। कुछ थी अवश्य, सुनी है। यह तो एक बार सुना हो वह कहीं अन्दर से (जाए नहीं।) आहा...हा... !

यह हास्य का भाव हो, उसका यह कर्ता हो तो वह भी अज्ञानी है। आहा...हा... ! और हास्य के काल में मुख प्रफुल्लित हो, वह तो जड़ की क्रिया है। पलक ऊँची हो, वह जड़ की क्रिया है। आत्मा से पलक ऊँची हो, (यह) तीन काल में नहीं। आहा...हा... ! ऐसा हो, ऐसा हो – यह तो जड़ की क्रिया है। वीतरागमार्ग बहुत अलग, बापू ! आहा...हा... ! जीव की जाति को अजीव का काम मानना, यह जन्म-मरण करने का उपाय है, मिथ्यात्व है। आहा...हा... !

उसमें भी आता है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में, भाई! मोक्षमार्गप्रकाशक का चौथा अध्याय; वहाँ मिथ्यादर्शन की क्रिया का वर्णन है न? 'लिंगकाठिन्यादि' शब्द है। लिंग अर्थात् शरीर की इन्द्रिय का जो अवयव, वह कठिन हो, वह क्रिया जड़ की है, आत्मा की नहीं। अररर! ऐसी बातें! इसने अज्ञानभाव से यह राग किया, उस राग का निमित्त है और शरीर की क्रिया तो स्वतन्त्र होती है। निमित्त का अर्थ कि उससे हुआ नहीं। आहा...हा...! ऐसा है!

सन्त, वीतरागी मुनि हैं, उन्हें कुछ कहने में (बाधा नहीं।) ऐसी विषय की वासना हो और लिंग कठिन हो, वह तेरा कार्य नहीं – यह मुनि के सिवाय कौन कहे? आहा...हा...! जिन्हें जगत की कुछ पड़ी नहीं है। आहा...हा...! जिन्हें सत्य है, वह अनुभव में आया है। अब उसे किसी भी प्रकार, कैसे बोलना, भाषा ऐसी (करनी) ऐसा उन्हें कुछ है नहीं। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात!

मुमुक्षु – जैनधर्म की जय बुलावे, जोर से जय बुलावे।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह बात ही खोटी है। जोर से बोलो! कौन बोले? धीरे से बोलो! कौन बोले? प्रभु! भाषा की पर्याय के काल में भाषा हो, उसे तू कैसे करे? आहा...हा...! जोर से बोलो – यह सब भाषा-व्यवहार है। आहा...हा...! खींचकर बोलो (तो) मुझे कुछ समझ में आये, अर्थात् कि ये शब्द भले ही ऐसे कहे जाएं, परन्तु खींचकर बोलना, यह जीव की क्रिया नहीं है, प्रभु! यह बहुत कठिन बात, भाई!

आहा...हा...! इस नाक का कठिन होना, यह जड़ की क्रिया है। यह तो परमाणु/मिट्टी की उस समय वह उत्पन्न होने का उत्पाद का काल है। ये जड़ के कार्य (हों), वह आत्मा के कारण नहीं। आहा...हा...! इस जीभ की लार हिलाना, (वह जड़ का कार्य है), भाई! ऐसा कहीं सुना नहीं। यह तो मिट्टी है। मिट्टी, जड़-अजीव है। वह ऐसे-ऐसे होता है, वह तो अजीव की क्रिया है। मुझसे वहाँ स्वाद लिया जाता है, जीभ द्वारा मैं स्वाद लेता हूँ (– ऐसा मानना), प्रभु! बड़ी भूल है, हाँ! आहा...हा...! जड़ के द्वारा मैं पर का स्वाद लेता हूँ... आहा...हा...! बहुत मार्ग (सूक्ष्म)! अलिंगग्रहण में से निकाला, देखो न! एक अर्थ नहीं; ऐसे बीस अर्थ निकाले हैं! आहा...हा...! यह तो चौदहवाँ बोल आया है न?

आहा...हा...! भगवान! तू चैतन्य है न प्रभु! और वह तेरा स्वभाव तो जानन-

ज्ञायकभाव है न प्रभु ! इस ज्ञायकभाव में जानने-देखने का कार्य करे, वह भी उपचार से है। जानने-देखने का कार्य और कर्ता आत्मा (है – ऐसा कहना), यह भी व्यवहार का उपचार है। आहा...हा... ! अरे... ! प्रभु ! आ...हा... ! यहाँ तो जड़ की क्रिया से मर गया भिन्न पड़कर। मैं उसका कर्ता हूँ नहीं। वह क्रिया जड़ की है। आहा...हा... !

दुकान में बैठा हो, ऐसे कपड़ा बेचता हो। आहा...हा... ! कल बात नहीं की ? ३६ वर्ष का लड़का ! एकदम पानी आया, साढ़े तीन (बजे) दुकान खोली, वहाँ पानी आया तो एक मिनिट में एक फीट, दो मिनिट में दो फीट, आठ मिनिट में आठ फीट (आया)। अब (उसमें) चलना किस प्रकार ? एकदम पाईप फूटकर मिट्टी लेकर सब पानी आया। मिट्टी... मिट्टी... मिट्टी.... इतना पानी, उसमें चले किस प्रकार ? बाहर निकलने और ऊपर चढ़ने का समय कहाँ मिले ? आहा...हा... ! वह क्रिया नहीं बन सके, कहते हैं। और होवे तो वह जड़ के कारण चलने की क्रिया होती है। आहा...हा... ! पानी का जोर आया, इसलिए चल सका नहीं – ऐसा नहीं; वह चलने की जड़ की क्रिया वहाँ होने की नहीं थी। आहा...हा... ! ऐसी बात सब !

यहाँ चौदहवें बोल में तो ओहो...हो... ! सन्त वीतरागी मुनि हैं, उन्हें क्या है ? कहते हैं कि प्रभु ! तेरी जो इन्द्रिय है – पुरुष की और स्त्री की इन्द्रिय को प्रफुल्लित करना या कठिन करना... आहा...हा... ! वह प्रभु ! तेरा अधिकार नहीं, हाँ ! आहा...हा... ! इन्हें – सन्तों को कहाँ पड़ी है ? वीतरागी मुनि है। सत्य है, उसे प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! आहा...हा... !

अरे ! उसे पता भी नहीं कि यह क्या जड़ का कार्य होता है ? मुझसे नहीं। ऐसा भी पता नहीं और ऐसा कहे कि हम पर की दया पालते हैं, हम यह कहते हैं, हम सत्य बोलते हैं। बोले कौन ? आहा...हा... ! हम परवस्तु को ऐसे हाथ से ग्रहण करते हैं और हाथ से ऐसे छोड़ते हैं। प्रभु ! कौन छोड़े और कौन ग्रहे ? सूक्ष्म बात है, भाई ! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का इस प्रकार फरमान है – पुकार है। अरे...रे ! जगत में तू लुट गया है, प्रभु ! आहा...हा... !

एक (बार) बनिये का कपड़ा जा रहा था। चोर आये तो इसने (उनसे कहा)

आओ... आओ... आओ! नाम लिखाओ। आहा...हा...! उसमें एक जंगल की बिल्ली निकली; बिल्ली की साक्षी में; वे चोर जाने कि हमें कहाँ देना है? परन्तु यह सब क्रिया जड़ की है, प्रभु! आहा...हा...! फिर जब कोर्ट में केस चला (तब वह कहे) मैंने कुछ लिया नहीं, कोई गवाही है? तो कहा – हाँ! गाँव में से बिल्ली लाये (और कहा) यह साक्षी है। यह नहीं, यह बिल्ली नहीं थी! बस हो गया। यह नहीं थी अर्थात् दूसरी थी, तो हो गया। यह नहीं थी। वे उतावले, ठिकाना बिना के। 'एक बिल्ली साक्षी में है, देखो! इसमें लिखा है' देखो! यह बिल्ली! तो कहे – 'यह नहीं' बस, हो गया। भले जंगल की बिल्ली न होवे, यह नहीं, वह थी। आहा...हा...! बोलने में भी भान नहीं होता। वह बोलने की क्रिया जड़ की है। आहा...हा...! अरे...रे! यह मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अध्याय में है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान अधिकार है, जहाँ है, वहाँ (है।) आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! हमारी बात एक बार सुन तो सही! तुझे भले निर्लज्ज जैसी बात लगे कि ऐसी बातें क्या करते हैं? बापू! सुन भाई! शरीरमात्र के परमाणु की पर्याय उसके कारण कठिन होती है और उसके कारण नरम पड़ जाती है। आहा...हा...! वीर्य निकले, इसलिए इन्द्रिय नरम पड़ जाती है... परन्तु वह तो जड़ की पर्याय है, प्रभु! तुझे पता नहीं। आहा...हा...! सन्तों ने तो अन्दर से कपाट खोल दिये हैं! प्रभु! यह क्रिया जड़ की है। नरम हुआ तो भी जड़ की, कठिन हुआ तो भी जड़ की। वीर्य गिरा तो भी जड़ की। आहा...हा...! कठिन काम है, प्रभु! वीतरागमार्ग...! आहा...हा...!

लिंग का अर्थात् मेहनाकार का.... (अर्थात्) पुरुषों और स्त्रियों की इन्द्रियों के जो आकार हों... आहा...हा...! उनका **ग्रहण जिसके नहीं हैं....** उस आकार का कार्य इसका नहीं है। आहा...हा...! कौन सुने? पूरे दिन 'हमने यह किया' (-ऐसा मानता है।) एक व्यक्ति कहता था। है न वे भाई? लीमड़ीवाले, नहीं? यहाँ पहले आया था न? महीने रहा था, वह कहता था – यह किया, लो! अरे...रे! कहा – यह क्या करता है? आहा...हा...! तूने क्या किया? उसमें तुझे अन्दर पता पड़ा? तुझे विकल्प हुआ है कि 'यह किया है' – यह तुझे पता है? कहे – देखो! यह किया मैंने! (संवत्) १९९७ की बात है। मन्दिर बनता था, (तब की बात है।) ये तो सब पागल में पागल प्रथम होते हैं। उसे बेचारे को दृष्टि

अत्यन्त मिथ्यात्व और मिथ्यात्व का इतना जोर कि अभी हम यहाँ कहते हैं कि पर की दया पाल सकते नहीं – तो यह कहे, आहा...हा... ! यह तो अनार्य की बात है ! आर्य की बात नहीं, ऐसा कहता है। कहता है पता है। वह फिर यहाँ एक बार आया था। आहा...हा... ! अभी तो वह वहाँ स्थानकवासी में बड़ों में गिना जाता है और स्वयं भी (मानता है कि) मैं सेवा करता हूँ, सेवा करना तो मेरा काम है। यहाँ कहते हैं – आत्मा तीन काल में पर की सेवा कर नहीं सकता। आहा...हा... !

यह लिंग का कठिन होना, यह तुझसे नहीं, प्रभु ! तुझे क्या करना है ? तेरा जो शरीर का अवयव कहलाता है... आहा...हा... ! उस अवयव की क्रियाएँ भी तेरे अधिकार की नहीं, प्रभु ! आहा...हा... ! ऐसी बात कहाँ हैं ? भाई ! आहा...हा... ! यह तो शान्तपने की नितरती बात है। आहा...हा... !

(ऐसे लिंग का) **ग्रहण जिसके नहीं...** ऐसा अलिंगग्रहण है। **इस प्रकार आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है....** आहा...हा... ! गजब है ! यह लौकिक साधन है। शरीर की इन्द्रिय, वह साधनमात्र आत्मा में नहीं, मात्र में जोर दिया है। आहा...हा... !

करोड़पति होता है, विषय सेवन करता हो और पुत्र होता नहीं तथा एक साधारण (मनुष्य) होता है, बीस वर्ष में – बाईस वर्ष में दो-दो वर्ष में लड़के (हो), बाईस वर्ष में तीन-चार लड़के हुए हों। यह कौन करे ? बापू ! आहा...हा... ! क्या हो ? अरे...रे ! जगत लुटता है। जड़ की क्रिया मुझसे होती है (– इस मान्यता में) प्रभु ! तू लुटता है। आ...हा... ! तुझे इसका किसका हर्ष आता है ?

मुमुक्षु – वह होशियार मनुष्य...

पूज्य गुरुदेवश्री – होशियार किसे कहना ? धूल का.... ! आहा...हा... ! तुम्हारे सेठ होशियार नहीं ? पचास करोड़ रुपये ! मुम्बई में (एक) वैष्णव है, महिलाएँ सब श्वेताम्बर जैन। पति, पुत्र, सब वैष्णव आये थे। पचास करोड़ रुपये ! आये थे, दर्शन करने आये थे। महिलायें कहें – घर में चरण करो, परन्तु यह क्या वस्तु है ? (इसका कुछ पता नहीं होता) वे कहें, कर्ता के बिना होता नहीं। भाई ! कर्ता के बिना न हो तो तुम्हारे नरसिंह मेहता क्या कहते हैं ? कि 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्यो नहीं' ईश्वर ने कराया नहीं

ऐसा वहाँ आया नहीं ? नरसिंह मेहता कहते हैं न ? 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिन्यो नहीं त्यां लगी साधना सर्व झूठी; शू कर्यूं तप ने तीर्थ करवा थकी ? शू थयु जापने जप करवा थकी ?' ये सब बंध के कारण हैं। भगवान आत्मा ! एक परमाणु को हिलावे यह भी उसमें ताकत नहीं। आहा...हा... !

श्रीमद् में आता है, (लिखते हैं) 'हमारे में तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत नहीं है' अर्थात् उसकी क्रिया आत्मा नहीं कर सकती। परन्तु लोग नहीं समझते। एक तिनका, उसके दो टुकड़े, वह तो उसकी पर्याय जब होनी हो, तब भेद से पृथक् पड़ती है। भेद संघात ! है न ? तत्त्वार्थसूत्र ! भेद संघात ! वह पृथक् पड़ने के काल में पृथक् पड़ता है और फिर वापस एकत्रित हो, वह परमाणु उसके कारण एकत्रित हुए हैं। दूसरा कहे कि मैं इन्हें एकत्रित करूँ (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! लकड़ी में कील लगाकर इकट्ठी करूँ यह कील लगाई है, यह मैंने लगाई है, यह बात अत्यन्त झूठ है।

मुमुक्षु – दर्जी कपड़ा सिल देता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – सिले, राग करे। वह कपड़े की, मशीन की क्रिया मुझसे होती है (ऐसा राग करता है)। आहा...हा... ! कपड़ेवाले व्यापारी ऐसे खोलते हैं न ? अटलस (थान) ऐसे खोलते हैं। फिर वापस ऐसे घडी बैठा देते हैं। कौन करे ? बापू ! ये क्रिया कहाँ तेरी है ? उन परमाणुओं में स्कन्ध से वह पर्याय उस प्रकार से, उस क्षण में उत्पन्न होने की थी, वह उत्पन्न हुई है। तेरे हाथ से नहीं, तेरे राग से नहीं, तेरे आत्मा से नहीं।

अरे...रे ! ऐसा (कौन माने) ? यहाँ तो जहाँ हो वहाँ अभिमान... अभिमान... अभिमान... (मैं) ऐसा बोला, मैंने ऐसा समझाया। कोर्ट में वकील के समक्ष दलील दी। वह दलील क्या आत्मा दे सकता है ? दलील की भाषा तो जड़ की है। आहा...हा... ! यहाँ तो पानी उतर जाये ऐसा है ! वकीलात और बड़े वैरिस्टर ! दो-दो हजार दिन के लेनेवाले ! वह नहीं ? बड़ा नहीं था, क्या (नाम था) ? एक दिन के दो हजार रुपये ! इसलिए मानो बहुत होशियार मनुष्य ! बड़ा लम्बा कोट पहने और... आहा...हा... ! मानो किसी को जिताया ! क्या है यह ? मार डाला है आत्मा को !

जीवित ज्योत ज्ञाता-दृष्टा को 'यह कर्ता हूँ' ऐसा करके उस जीवित ज्योति का तूने

नकार किया, प्रभु! ज्ञाता-दृष्टा है (उसे) तूने नहीं माना। आहा...हा...! अरे...रे! यह व्यापार करनेवाले सब होशियार नहीं? आहा...हा...! लड़के ऐसे दुकान में व्यापार करें और (उन्हें देखकर)... आहा...हा...! उनका बाप प्रसन्न हो! बाप किसका? बेटा किसका? बापू! अरे..रे! क्या करता है, प्रभु तू? तेरी प्रभुता लुटती है, नाथ! यह मेरा लड़का और मेरा लड़का... आहा...हा...! क्या किया प्रभु! तूने यह? आहा...हा...! क्या है यह? दुकान सब चलाते हैं न? आहा...हा...! कौन करे? भाई! (ऐसा बोले) अभी हमने दुकान अलग की है, हमारा व्यापार अलग चलता है। व्यापार अलग चलता है? या इस व्यापार की क्रिया तुझसे अलग चलती है? कठिन काम, भाई! वीतरागमार्ग में जड़ से चैतन्य भिन्न और चैतन्य से जड़ भिन्न। आहा...हा...!

एक वरनी भी आत्मा से हिलती नहीं, नाथ! तू चैतन्य प्रभु! तू भूलकर क्या करता है यह? तेरी प्रभुता तो ज्ञाता-दृष्टा में है। तेरी प्रभुता पर में काम करने में महत्ता ले (ऐसी) प्रभुता नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु - कर सकता ही नहीं न!

पूज्य गुरुदेवश्री - कर सकता नहीं, परन्तु यह मानता है न? मैंने इतने काम किये! यह तो वह अभी आया था न? (एक मुमुक्षु) मिस्त्री का (कुछ) लाये थे। डेढ़ रुपया दिन का लेता था, अभी करोड़ रुपये हैं! मिस्त्री हैं। फोटो लाये थे। वह मिस्त्री डेढ़ रुपया दिन का लेता था, अभी करोड़ रुपये हो गये हैं। इसलिए मानो ऐ...सा बड़ा फोटो था!! परन्तु यह क्या है? यह प्याला (अभिमान) क्या फटा है? बापू! पागल-पागल है। ऐसा शब्द प्रयोग किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक के चौथे अध्याय में 'पागल है' - ऐसा लिखा है। उसका हिन्दी (शब्द) 'पागल' होगा। इसमें है। तू पागल है प्रभु! आहा...हा...! इस आत्मा को तो पर से लूला-पंगु कराया। आहा...हा...!

मुमुक्षु - पंगु बनाया।

पूज्य गुरुदेवश्री - पंगु ही है। पर के कार्य के लिये (पंगु ही है।) परमात्मप्रकाश में है। परमात्मप्रकाश में यह लेख है कि अरे...! आत्मा पंगु? यह पंगु ही है। यह ज्ञाता-दृष्टा है, यह पर का करने के लिये पंगु है; कर नहीं सकता। आहा...हा...! यहाँ तो दुकान

(चलाने के लिए) बुद्धि ठीक होवे तो... आहा...हा...! हमारा (व्यक्ति) था, वह बुद्धिशाली था... ऐसा बोले... ऐसा बोले... मैं दुकान पर बैठा होऊँ, वह माल लेकर आवे, तब छत्री ऐसी लटकती (रखे) और ऐसे... आहा...! क्या है परन्तु यह? माल ले आया... तीन-चार दिन में मुम्बई जाए, मासिक पास लिया हो, महीने में बहुत बार जाना पड़े। आहा...हा...! वह भाई मरते समय... ऐसा बोला... अरे...! मुझे किसी ने नहीं कहा; मैं धन्धा बन्द करनेवाला, मुझे किसी ने नहीं कहा, ऐसा देह छूटते समय बोला। आ...हा...! मुझे किसी ने नहीं कहा। पति-पत्नी दो (व्यक्ति), लाखों रुपये! परन्तु ऐ! मैंने तुझसे कहा था न? अकेला है और तू इस (व्यापार के पीछे) मर जाता है! 'बड़े भाई आये, बड़े भाई आये...' - ऐसे ये सब कहे, फुलावे! बड़े भाई आओ... बड़े भाई आओ... आओ...! पत्र दे, पढ़े, दो घण्टे बैठे... व्यर्थ के पाप अकेले! हिस्सा निकाल दिया था तो भी, हाँ! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तेरे शरीर के अवयव भी हिला नहीं सकता, नाथ! आहा...हा...! अरे...! प्रभु! तू कौन है? कहाँ है? आहा...हा...! तू तो चैतन्यस्वरूप है न प्रभु! यह जड़ के अवयवों को हिलावे, यह इसका कार्य है? पागल है। आहा...हा...! इसमें शब्द है, हाँ! पागल है, ऐसा है। आहा...हा...! ऐसा शब्द है अवश्य कहीं। 'पागल' एक शब्द है। सब कोई याद रहता है? आहा...हा...! वह एक जगह कहीं है। यहाँ तो यह शब्द है कि **हाथ आदि से मैंने स्पर्श किया, जीभ द्वारा मैंने स्वाद लिया, नासिका द्वारा मैंने सूँघा, नेत्र द्वारा मैंने देखा, कान द्वारा सुना....** इत्यादि... है न? **मनोवर्गणारूप आठ पंखुड़ीवाले फूले हुए कमल के आकाररूप हृदयस्थान में शरीर के अंगरूप द्रव्यमन है, जो इन्द्रियगम्य नहीं है। उसका निमित्त होने पर स्मरणादिरूप ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। उस द्रव्यमन को और ज्ञान को एकरूप मानकर ऐसा मानता है कि 'मैंने मन द्वारा जाना।'**

तथा अपने को बोलने की इच्छा होती है, तब अपने प्रदेशों को जिस प्रकार बोलना बने, उस प्रकार हिलाता है। आहा...हा...! इस प्रकार स्वयं की मानी हुई क्रिया अपनी इच्छा से (हुई ऐसा) मानता है। आहा...हा...! मिथ्यात्व की क्रिया है न? ऐसा एक

जगह है। यह लिंग का आया, लो! **लिंग काठिन्यादि हो जाता है।** मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत स्पष्टीकरण किया है। **अब इन सर्व को एकरूप मानकर यह ऐसा मानता है कि – ये सब कार्य मैं करता हूँ।** ऐसा मानता है। समझे ? आहा...हा... ! वह शब्द कहीं है। तीसरे में होगा। तीसरा अध्याय है न ? है कहीं है अन्दर। पागल-पागल कहा है। हिन्दी में पागल (शब्द) होगा न ? (अर्थात् पागल कहा।) पागल है... ! आहा...हा... ! मैंने इन शरीर के अवयवों को हिलाया ! क्या हुआ ? प्रभु ! तू कोई जड़ का स्वामी है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु – आत्मा तो भावशक्तिवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री – स्वयं के लिये है। इसलिए तो यह प्रश्न हुआ है कि अनन्त शक्तिवाला है तो एक शक्ति ऐसी भी होवे कि पर का काम करे ! यह प्रश्न अभी (हुआ) था। यह 'कलश टीका' में है। अनन्त शक्ति भगवान आत्मा में है, महा प्रभु है ! आहा...हा... ! तो फिर ऐसा कि इस शरीर का भी करे। इसकी प्रभुता अनन्त शक्ति है (तो) एक शक्ति ऐसी भी होवे (कि पर का करे) तो कहते हैं कि नहीं; नहीं।

अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त के गुण का पार नहीं – ऐसे गुण हैं परन्तु कोई गुण ऐसा नहीं कि शरीर को हिलावे, शरीर के अवयव का काम करे — ऐसी कोई शक्ति नहीं। बहुत कठिन काम ! आहा...हा... ! दुकान पर बैठा हो, लोग अच्छे (हों), लो यह कपड़ा... लो, यह अमुक (-ऐसा) कहे। उसमें फिर प्रतिदिन सौ-दो सौ रुपयों की आमदनी होती हो (तो) देखो... पागल तुम्हारे... ! ऐ...ई ! कौन करे ? प्रभु ! तुझे पता नहीं। क्या हुआ है यह ? आहा...हा... !

'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है'.... जितने इन्द्रिय के, विषय के, बाहर के लौकिक साधन (हैं, उस स्वरूप आत्मा नहीं है।) यहाँ तो लौकिक साधन (अर्थात्) इन्द्रिय। इन्द्रिय का कठिन होना, इन्द्रिय का नरम होना और इन्द्रिय का जागना... आहा...हा... ! इन्द्रिय उठे, प्रभु ! यह काम तेरा नहीं है। अररर ! आहा...हा... ! इन लौकिक के साधनमात्र नहीं है। यह लौकिक साधन तेरा नहीं है। आहा...हा... ! पुकार है परमात्मा की ! सन्त-दिगम्बर मुनियों की पुकार है !! आहा...हा... ! **ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** आहा...हा... ! पौन घण्टे चला। ओहो...हो... ! पन्द्रहवाँ (बोल)।

लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है.... आहा...हा...! मेहनाकार में नहीं तो अमेहनाकार अर्थात् लोक में व्यापक है – ऐसा है ? है ? **लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है....** आहा...हा...! यह क्रिया भले ही कर नहीं, परन्तु आत्मा लोक व्यापक हो सकता है या नहीं ? असंख्य प्रदेशी है, केवलीसमुद्घात करे, तब लोकव्यापक होता है। समझ में आया ? वेदान्त के सामने दृष्टि है। आहा...हा...!

अमेहनाकार के द्वारा.... अर्थात् लौकिक साधन का इन्द्रिय के काम बिना। **जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है...** लोक में व्यापे—आत्मा लोकव्यापक हो, यह नहीं। आहा...हा...! यह तो शरीरात्मक है, वह उतना है। आहा...हा...! **लोक में व्यापकत्व नहीं है, सो अलिंगग्रहण है;....** आहा...हा...! पहले में (चौदहवें बोल में) मेहनाकार था न ? उससे (विरुद्ध) अमेहनाकार (लिया)। ऐसा कि वह भले लौकिक साधन न करे, परन्तु ऐसे व्यापक तो हो सकता है न ? कर (भले न रुके) परन्तु व्यापक (होकर) पूरे लोकप्रमाण प्रसर जाए या नहीं ? लोकप्रमाण प्रसरने की–व्यापक होने की उसकी ताकत है या नहीं ? तो कहते हैं – नहीं, नहीं।

लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है.... आहा...हा...! **सो अलिंगग्रहण है;....** अर्थात् व्यापकपने में लिंगरहित है। वह तो अपने शरीरप्रमाण रहनेवाला है। आहा...हा...!

मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत स्पष्ट किया है। चौथे (अधिकार में) मिथ्यादर्शन की व्याख्या ली है, (उसमें) बहुत स्पष्ट किया है। वहाँ तो वहाँ तक लिया है कि इसका — शास्त्र का ज्ञान हुआ हो, परन्तु यदि उसमें मान का प्रयोजन होवे तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं है। आहा...हा...! धारणा में ज्ञान आया, वह ज्ञान वास्तविक नहीं। स्वरूपसन्मुख होकर (ज्ञान) हुआ नहीं और लक्ष्य में सुन-सुनकर अपनी योग्यता से हुआ है (–ऐसा) धारणाज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं है। आहा...हा...हा...! धारणा में ज्ञान आया, वह 'मुझे ज्ञान हुआ' – ऐसा जो अभिमान, वह मिथ्यादर्शन है। आहा...हा...! समझ में आया ? यह मार्ग अलग, प्रभु! आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा, पाखण्डियों के प्रसिद्ध... भाषा देखो! आहा...हा...! वेदान्त ऐसा कहता है न कि आत्मा सर्वव्यापक है। (यहाँ) कहते हैं कि वह पाखण्डी हैं। श्रीमद् ने उन्हें निश्चयाभासी कहा है। जिन्होंने पर्याय नहीं मानी और अकेला द्रव्य ही व्यापक माना है, वे निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि हैं। आहा...हा...! कितनों को यह निश्चय की बात सुनकर ऐसा लगता है कि यह वेदान्त (कहता) है, वैसी यह बात है (परन्तु) ऐसा नहीं है।

सम्प्रदाय में तो लौकिक क्रियामात्र की बातें हैं और यहाँ निश्चय की बात (आवे) कि (आत्मा) राग का कर्ता नहीं, जड़ का कर्ता नहीं (तो कहे) 'यह तो वेदान्त हो गया!' अरे! वेदान्त नहीं; वेदान्त तो पाखण्ड है। कठोर बात है, भाई! है? '**आत्मा, पाखण्डियों के प्रसिद्ध....**' आहा...हा...! अरे...रे...! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अन्तर में शरीर प्रमाण है, उसे व्यापकपने मानना, (वह) पाखण्ड है, कहते हैं। अभी तो बहुत चलता है- सर्वव्यापक! मुसलमान में भी यह चलता है - अनहल हक्क! मैं खुदा हूँ। सूफी फकीर हुए हैं। सूफी फकीर (को) बोटाद में (संवत्) १९८० के साल में मैंने देखा है। मैं बाहर निकलता था, वहाँ खड़े थे। (मुझे आते हुए देखकर) एक ओर खड़े रह गये, परन्तु वैराग्य भी सही, किन्तु (तत्त्व का) पता नहीं। ऐसा कहे कि मैं खुदा! हम हैं खुद खुदा, यारो! हम खुदा हैं, हम परमेश्वर भगवान हैं! वह व्यापकरूप से (कहता था)। वह मिथ्या बात है।

आहा...हा...! भगवान तो शरीर प्रमाण ही है। केवली-समुद्घात हो तो भी वह तो अमुक दो-तीन समय व्यापक रहे। समझ में आया? परन्तु जीव को व्यापक, सबका काम (करे - ऐसा मानना) क्योंकि वह भी मैं हूँ, वह भी मैं हूँ, वह भी मैं हूँ; इसलिए वे सब कार्य मेरे हैं। यहाँ ऐसा कहना है। वह मैं हूँ, मेरे हैं, आ...हा...! मेरा आत्मा वहाँ भी व्यापक है न? आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध.... भाषा देखो! वीतरागी मुनियों की भाषा है। यह अनादर की (भाषा) नहीं, परन्तु विपरीत को विपरीतरूप से बतलाने के लिए भाषा है। वेदान्त का बहुत है न? आत्मा एक ही है। फिर, द्रव्य और गुण और पर्याय और यह क्या? वे तो यहाँ तक कहते हैं कि आत्मा और आत्मा का अनुभव -

दो कहाँ से आये ? अद्वैत है, वहाँ दो कहाँ से आये ? – ऐसा कहते हैं। अलिंगग्रहण में से इतना निकाला !

'पाखण्डियों के प्रसिद्ध...' क्या ? **'साधनरूप आकारवाला...' 'पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला – लोकव्याप्तिवाला नहीं है'....** लोकव्याप्तिवाला नहीं। लोक में व्याप जाए — ऐसा भगवान आत्मा है नहीं। आहा...हा... ! मोक्ष हो, केवलज्ञान हो तो भी शरीरप्रमाण रहकर केवलज्ञान होता है। वह भी शरीर के कारण से (उस) प्रमाण (रहता है) – ऐसा नहीं; स्वयं के आकार से स्वयं का इतना आकार होता है। आहा...हा... !

अलोक का आकार लिया है न ? आकाश का आकार। आकाश... आकाश... अन्त नहीं, कहीं अन्त नहीं, तो भी उसे व्यंजनपर्याय है, उसकी आकृति है। एक परमाणु है, उसे आकार है परन्तु एक छोटे से छोटा परमाणु है, उसके छह भाग हैं – छह पासा (हैं)। एक अंश से एक पर के साथ सम्बन्ध रखता है, पूरा नहीं। ऐसी बात है। आ...हा... ! उसके बदले यह कहते हैं कि आत्मा (पूरे) लोक में व्यापता है। आहा...हा... ! आत्मा तो पर के सम्बन्ध में एक समय की पर्याय के सम्बन्ध से सम्बन्ध है। द्रव्य का तो उसे सम्बन्ध है ही नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बातें !

यह तो प्रवचनसार ! भगवान का त्रिलोकनाथ का प्रवचन ! प्र अर्थात् विशेष, वचन अर्थात् दिव्यध्वनि। दिव्यध्वनि ! भगवान तीन लोक के नाथ परमात्मा सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर आये, तब यह लिखान (लिखा है।) कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह में गये थे। वह (एक साधु) कहता है कि नहीं; यह खोटी बात है। कुन्दकुन्दाचार्य महाविदेह में गये – यह खोटी बात है। अब, आचार्य स्वयं कहते हैं। पंचास्तिकाय (की) जयसेनाचार्यदेव की टीका है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। अष्टपाहुड़ में है और दर्शनसार में है। आचार्य स्वयं (कहते हैं)। देवसेनाचार्य कहते हैं कि अरे ! भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव यदि महाविदेह में न गये होते तो अरे... ! ऐसा मुनिपना हमें कैसे होता ? दर्शनसार (का) पाठ है। उसे माने नहीं और दस-दस हजार लोगों में महिमा (करे कि) कुन्दकुन्दाचार्य ऐलाचार्य थे। दिगम्बर लोग विचारे (उन्हें) भी भान नहीं होता। कुन्दकुन्दाचार्य को

ऐलाचार्य क्यों कहा ? कि वहाँ गये थे (तो) वहाँ पाँच सौ धनुष की देह है और इनकी (देह) मात्र चार हाथ की; इसलिए छोटे आचार्य – ऐसा करके कहने में आया। (इनका) चार हाथ का छोटा शरीर (और) भगवान की देह पाँच सौ धनुष की है और दूसरे कितने ही मनुष्यों की भी पाँच सौ धनुष की (देह है)। आ...हा... ! जन्में तब भी बड़ा होता है, छोटा इतना बालक हो – ऐसा नहीं। आहा...हा... ! वहाँ आठ दिन रहे थे। वहाँ श्रुतकेवली के समीप कितने ही प्रश्न (पूछकर) समागम का निर्धार किया; भगवान को सुना, वहाँ से यहाँ आये। वे थे तो समकिती, सच्चे मुनि थे, परन्तु तो भी उन्हें भगवान के पास जाने का विकल्प आया। विरह (लगा)। प्रभु ! आपका हमें यहाँ विरह पड़ा ! आ...हा... ! हम कहाँ प्रभु ! आप कहाँ रहे ? भरत में तीर्थंकर रहे नहीं, परन्तु आप जहाँ हो, वहाँ हमें विरह पड़ा। आहा...हा... ! मोरपिच्छी गिर गयी थी,... परन्तु वे तो महान... कुन्दकुन्दाचार्यदेव अर्थात् आहा...हा... !

वे यहाँ गाथा में अलिंगग्रहण कहते हैं। उसका अर्थ निकालते हैं – अमृतचन्द्राचार्य ! आहा...हा... ! कहते हैं, (संवत्) १९९९ की बात है। सुनने आवें, लोग बहुत आवें न ! १९९९ में 'कैम्प' में, बढ़वाण में, जोरावरनगर में, लीमड़ी में लोग बहुत आते थे, अर्थात् सुनने आते थे। एक वस्त्र पहिनकर (आते थे), सुनते (फिर कहे) – एक है। आहा...हा... ! वह एक है, वह तो सामान्यस्वरूप है, वह एक है। संसार में–पूरे में व्यापक हो, इसलिए एक है – ऐसा एक नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? एक तो उसका गुण है न ? भाई ! सैंतालीस शक्ति में (आता है कि) एकपना जो वस्तु का स्वरूप है, वह एक उसका गुण है और अनेक भी उसका गुण है। गुण और पर्याय अनेक हैं, वह भी उसका गुण है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

(यहाँ) ऐसा कहते हैं — **'पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप....'** पाखण्डियों का साधन एक व्यापक है। उस **'आकारवाला – लोकव्याप्तिवाला नहीं है'....** लोक में व्यापे (ऐसा नहीं है।) **ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** अलिंगग्रहण में से ऐसा भाव निकलता है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ऐसा कहना चाहते हैं। आहा...हा... ! यह पन्द्रह बोल हुए।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १८१ भाद्र शुक्ल ८ गुरुवार, ३० अगस्त १९७९

दशलक्षणी पर्व। चौथा सत्यधर्म। इसमें सत्यधर्म है, वह उसमें शौच कहलाता है। उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव, सरलता और निर्लोभता। शौच को बाद में रखते हैं। इसमें यह सत्यधर्म है। दूसरी जगह शौच आता है। चार बोल आते हैं न?

(पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक-९१) **मुनियों को सदा ही ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए...** ऐसे तो सत्य धर्म है, परन्तु वचन और विकल्प का व्यवहार करके बात की है। सत्य वस्तु जो परम सत्य है, उसका आश्रय लेकर जो स्थिरता होती है, वह सत्यधर्म है, परन्तु यहाँ व्यवहार वचन द्वारा असत्य न बोलना, सत्य बोलना - ऐसा व्यवहार रखा है। **जो अपने को और पर को भी हितकारी हो....** ऐसा बोलना, यह कहते हैं। **परिमित हो** (अर्थात्) मर्यादित हो। आहा...हा...! **और अमृत समान मधुर हो। यदि कदाचित् ऐसा सत्यवचन बोलने में बाधा ज्ञात हो... प्रविधेय** का अर्थ है न? **प्रविधेय** - इसका अर्थ है बाधा।

ऐसी हालत में बुद्धिरूप धन को धारण करनेवाले.... आ...हा...! बुद्धि (अर्थात्) ज्ञान को ज्ञान में धारण करनेवाले **मुनियों को मौन का ही अवलम्बन लेना...** ऐसा प्रसंग होवे कि सत्य न बोला जा सके और विरोध उत्पन्न हो - ऐसा होवे तो इन्हें मौन रहना। बुद्धिधन अपने में रखकर-आनन्द के सागर भगवान को अपने में रखकर मौन रहना। (कभी) बाहर में सत्य बोलने में विरोध लगे।

(पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक-९२) **सत्य वचन की स्थिति होने पर ही व्रत होते हैं...** सच्चा तो अन्दर सत्यस्वरूप शुद्ध सम्यग्दर्शन होवे... आहा...हा...! त्रिकाली ज्ञायकभाव परमसत्य का आश्रय हो, तब उसे यथार्थ धर्म होता है। सत्यधर्म तो यह है। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि उसकी स्थिति से वचन बोलना नहीं (-ऐसा) व्यवहार लिया। **इससे सज्जन पुरुष जगत पूज्य इस सत्य वचन की आराधना करते हैं।** है न? **'भारती' 'सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती'** वीतराग की जो सत्य वाणी है, उसका आराधन करे।

(पद्मनन्दि पंचविंशति, श्लोक-९३) **सत्य वचन बोलनेवाला प्राणी समयानुसार**

परलोक में उत्तम राज्य.... (शुभ) विकल्प है न ? **देवपर्याय और संसाररूपी नदी के पार की प्राप्ति अर्थात् मोक्षपदरूप प्रमुख फल...** विकल्प है, उसके (फल में) स्वर्ग और राज्य आदि मिलते हैं और बाकी अन्दर जो स्वरूप की, सत्यधर्म की दृष्टि और ज्ञान तथा शान्ति है, उससे उसे मोक्ष मिलता है।

वह तो दूर रहो... कहते हैं कि मोक्षरूप पद तो दूर रहो **परन्तु वह इसी भव में...** सत्यवादी... आहा...हा...! **चन्द्र समान निर्मल यश, सज्जन पुरुषों में प्रतिष्ठा और साधुता प्राप्त करता है; उसका वर्णन कौन कर सकता है ?** परन्तु वह परम सत्य वस्तु की स्थिति है – वैसा जानकर बोलना – ऐसा (कहते हैं।) और उसमें कोई दोष लगता हो तो उसके लिये बचाव नहीं करना – ऐसा कहते हैं। सत्य बोलना। मार्ग तो यह है – यह कहना है। आहार आदि उसके लिए (बनाये हुए) ले, वह सदोष है, वह तो मूलगुण का भंग है, तो कहते हैं, कदाचित् ऐसा होवे तो भी सत्य कह देना। जो आहार मेरे लिये आता है, वह मुझे चलता नहीं; वह मुझे दोष (रूप) है। सत्य वचन बोलने में शंका नहीं रखना। (अर्थात्) दुनिया का सन्देह नहीं रखना। सत्य है, उस सत्य को प्रसिद्ध करना।

अपने यहाँ (प्रवचनसार में अलिंगग्रहण का) सोलहवाँ बोल। इन्दौरवाले (आये) थे, वे गये लगते हैं। सबेरे आये थे न ? श्वेताम्बर होंगे। अगास से आये थे। शत्रुंजय गये होंगे।

अलिंगग्रहण का सोलहवाँ बोल **जिसके...** अर्थात् भगवान आत्मा के। **लिंगों का अर्थात्...** आहा...हा...! **स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं....** आहा...हा...! अर्थात् कि भगवान आनन्द और ज्ञायकस्वरूप है – ऐसा जो दृष्टि का अनुभव हुआ; उसे स्त्री,पुरुष, नपुंसक के लिंगों (का ग्रहण नहीं है।) नपुंसक हो, वह समकित पा सकता है। नारकी में सब नपुंसक है, तो भी समकित है। देव में स्त्री और पुरुष दो ही होते हैं। मनुष्य में तीनों होते हैं – स्त्री, पुरुष और नपुंसक। नारकी में एक ही होता है। तिर्यंच में भी तीनों होते हैं। कहते हैं कि वह नपुंसक द्रव्यवेद है, पुरुष का द्रव्यवेद है और स्त्री का द्रव्यवेद है (अर्थात् कि) आकार। उसका और भाववेद की वासना, दोनों चैतन्यद्रव्य में नहीं है।

जिसके.... अर्थात् आत्मा के यह विषय की वासना और द्रव्यलिंग-जड़, दोनों जिसके स्वभाव में हैं नहीं। आहा...हा...! उसे यहाँ आत्मा कहने में आता है। सूक्ष्म बात,

भाई ! आहा...हा... ! अवेदपना तो नौवें (गुणस्थान में) प्रगट होता है तो भी यहाँ कहते हैं... वेद है, विषय वासना आदि है, द्रव्य-लिंग भी है परन्तु चैतन्य के अखण्ड ज्ञायकभाव के ग्रहण के समक्ष, उसका ग्रहण (अर्थात्) स्वीकार नहीं, स्वभाव में उसका स्वीकार नहीं। ऐसी बात है, भाई ! आहा...हा... !

सोलहवाँ, बोल है। दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा में अकार्यकारण नाम का गुण है, जिससे इन विषय-वासना और जड़ वेद का कारण आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? क्योंकि विषय-वासना और जड़ (वेद का) यहाँ ज्ञान हुआ... आहा...हा... ! उसे नहीं - ऐसा कहा न ? द्रव्य-वेद और भाव-वेद जिसे नहीं ऐसा जो आत्मा। द्रव्य-वेद और भाव-वेद, उनका तो ग्रहण नहीं अर्थात् उनका वह कारण नहीं। आहा...हा... ! परन्तु वास्तव में तो उसका जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान होता है, उस ज्ञान में भी विषय-वासना और द्रव्य (वेद का) ज्ञान हो परन्तु उस ज्ञान में वह कारण नहीं है। समझ में आया ?

ज्ञान — ज्ञातादृष्टा ऐसा भगवान आत्मा ! उसे द्रव्य और भाव-वेद का अभाव है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! इस द्रव्य और भाववेद का वह द्रव्यस्वभाव कारण नहीं है। आहा...हा... ! तथा द्रव्य और भाववेद, भगवान का ज्ञान होने पर, यह वस्तु ज्ञानी को आवे, होवे परन्तु उसका ज्ञान करता है, वह ज्ञान उसके कारण नहीं। वासना और द्रव्य-वेद का ज्ञान, वह वासना और द्रव्य-वेद के कारण नहीं (होता) - ऐसी बातें हैं। समझ में आया ? क्योंकि भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। वह स्व की सामर्थ्य से स्व-पर को जानने की पर्याय को करता है। आहा...हा... ! कहा न ? यह (वेद आत्मा को) नहीं (- ऐसा) निर्णय भी पर्याय करती है न ? यह क्या कहा ? जिसके (अर्थात्) आत्मा के द्रव्य और भाव-वेद नहीं, यह निर्णय कौन करता है ? समझ में आया ? सूक्ष्म बात, भाई !

अलिंगग्रहण की बातें अलौकिक हैं ! आहा...हा... ! भगवान सत्यसाहेब ! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर ! उसे जिसने अनुभव किया और पकड़ा... आहा...हा... ! ऐसे ध्रुवस्वभाव की जिसे दृष्टि और अनुभव हुआ, उसे 'द्रव्य को तो (द्रव्य और भाववेद) नहीं परन्तु उन्हें जाननेवाले को भी द्रव्यभाव-वेद का कारण नहीं और द्रव्यभाव वेद के कारण ज्ञान हो, यह भी नहीं। आहा...हा... ! अरे ! ऐसी बातें हैं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा! ज्ञान की मूर्ति! ज्ञान का पुंज! ज्ञान का गंज है। आहा...हा...! उसका जिसे ज्ञान हुआ, उसे अर्थात् आत्मा को-उस आत्मा को। जिसे ज्ञान हुआ — ऐसे आत्मा को; द्रव्य और भाववेद का जिसमें अभाव है। आहा...हा...! क्या शैली!

आज फिर विरोध आया है। ऐसा कि (एक दिगम्बर साधु) आये थे। सामने गये, अपन सामने गये थे, परन्तु फिर आये तब उन्होंने पूछा कि तुमने यह श्वेताम्बर का क्यों छोड़ा? तो घण्टे भर तक जवाब नहीं दिया। कहो! (ऐसा कोई उन्होंने) पूछा ही नहीं। ऐसे...! उन्हें फिर लगा कि यह कुछ बोले। फिर ऐसा लगा कि यह बोलेंगे तो हमारा सब तत्त्व विरुद्ध है। मन्दकषायवाले और नरम व्यक्ति थे, भले वस्तु का पता नहीं (उन्हें ऐसा लगा कि) यह प्रश्न किया है और एक घण्टे तक पूछा तो भी जवाब नहीं दिया (ऐसा लिखा है)। श्वेताम्बर क्यों छोड़ा? यहाँ तो पुकार करते हैं। (दूसरे एक विद्वान ने) जवाब दिया है कि यह बात खोटी है क्योंकि हमें जब (परिस्थिति) बतानी थी, तब कोई श्वेताम्बर के पक्ष के पण्डित बोलते तो विरोध करते। लिखा है। मार्ग तो यही है - यह तो पहले से अन्दर में है। श्वेताम्बर मार्ग हो तो श्वेताम्बर में (तो) हम थे, हमारा मान वहाँ बहुत था। लोग प्रभुरूप से पूजते थे! क्योंकि क्रिया ऐसी थी। छोटी उम्र में दुकान अच्छी थी, वह छोड़कर (दीक्षा ली थी) इसलिए लोग तो गाँव में, शहर में जावें तो प्रभुरूप से पूजते, परन्तु कहा मार्ग यह नहीं, भाई!

६६ वर्ष पहले की बात है। बड़ी दीक्षा, हाथी के हौदे पर (ली थी)। भाई को हमारे प्रति बहुत प्रेम था (संवत्) १९८७ में बीछिया में कहा मार्ग यह नहीं है। यह वेश साधुपना नहीं है, भाई! मैं छोड़ देनेवाला हूँ। बड़े भाई को हमारे प्रति बहुत प्रेम था। फिर दुकान छोड़ी, तो बोले कि महाराज! तुम्हारी प्रतिष्ठा बहुत है, धीरे-धीरे छोड़ना। नाम बड़ा था। आहा...हा...! फिर तो अन्तर में से जब बात बाहर आयी... आहा...हा...! तब कहा, भाई! यह जैन का साधुपना भी ऐसा नहीं होता और यह मार्ग - श्वेताम्बर का जो मार्ग है, वह जैनधर्म ही नहीं। भाई! १९८७ की बात है। बीछिया में! नया उपाश्रय है न? वह क्या कहलाता है? कठोड़ो... कठोड़ो! बाहर होता है न? वहाँ बुलाकर एकान्त में कहा था, भाई! यह मार्ग नहीं, मैं छोड़ देनेवाला हूँ। भाई ने ऐसा कहा - महाराज! (स्वयं) बहुत

सरल थे, भद्र थे, भले ही व्यापार करते परन्तु भद्र थे। और मनुष्य मरकर मनुष्य हुए हैं – ऐसा ख्याल है। वह तो बहुत सरल थे। (उनसे कहा) भाई! मैं इसमें रहनेवाला नहीं हूँ। अठारह सौ रुपये का खर्च करके (संवत्) १९६६ में हाथी के हौदे पर दीक्षा ली थी। ६६ वर्ष पहले अठारह सौ (रुपये खर्च किये थे) अभी तो तीस गुने (होते) हैं। मार्ग नहीं, भाई! यह मार्ग नहीं। हमें तो अन्दर से दूसरी बात आयी है। १९७८ में ॐ की ध्वनि ही अन्दर से आयी, वहाँ सुनी थी। (फिर) १९८७ में कह दिया – मैं इसमें नहीं रहूँगा, यह जैनधर्म नहीं है।

अब, इस प्रकार छोड़ा (उसकी) वे मशकरी करते हैं कि (साधु ने) पूछा कि तुमने क्यों छोड़ा? तो जवाब नहीं दिया, एक घण्टे मौन रहे। ऐसी बातें! आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ है? दिगम्बर सन्त के सिवाय कहीं है ही नहीं – ऐसा अन्तर से आया। समझ में आया? आहा...हा...! और पूर्व के संस्कार तो थे ही न!

यहाँ कहते हैं — द्रव्य और भाववेद... आहा...हा...! वह जिसके नहीं अर्थात् आत्मा में नहीं। अर्थात्? कि जिसे आत्मा का ज्ञान और दर्शन तथा अनुभव हुआ, उसे भी उसकी पर्याय में द्रव्य और भाववेद का अभाव है। पर्याय में होने पर भी! समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा मार्ग!

तीन लोक का नाथ अन्दर निर्विकारी प्रभु विराजता है! जिसकी पर्याय अन्तर में झुकी है, जिसकी वर्तमान पर्याय, द्रव्य में ढली है उसे... यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा को नहीं, परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य और भाववेद आत्मा को नहीं परन्तु आत्मा जिसने जाना, उसकी पर्याय में भी वह भाव उसके नहीं। आहा...हा...! उसका ज्ञान करे, परन्तु वह ज्ञान करे, उसका कारण वेद नहीं। स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का स्वभाव होने के कारण स्वयं को जानते, पर की अपेक्षा रखे बिना जानना, उसके कारण में द्रव्य और (भाव) वेद कारण नहीं है। तथा वह जानने की पर्याय द्रव्यवेद और भाववेद का कारण नहीं है। आहा...हा...! मार्ग बहुत (गम्भीर)! ऐसा मार्ग है, भाई!

स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसक। नपुंसक को भी समकित होता है। सभी नारकी नपुंसक हैं। श्रेणिक राजा अभी पहले नरक में हैं; हैं नपुंसक परन्तु फिर भी क्षायिक

समकित है और तीर्थंकर गोत्र प्रतिसमय वहाँ बाँधते हैं। इस कारण यहाँ तो ऐसा कहते हैं, प्रभु! आत्मा में द्रव्य और भाववेद तो नहीं परन्तु आत्मा को जाननेवाले की पर्याय में द्रव्य और भाववेद का आदर नहीं। आहा...हा...! गजब बातें हैं! भाई! पैसे की कीमत इसमें है? लड़का चार लाख, पाँच लाख, लॉटरी में (कमावे) धूल! मिथ्यात्व आया 'मुझे यह मिला' यह भाव मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...!

मुमुक्षु - भले ही मिथ्यात्वभाव है परन्तु अभी तो मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री - कहाँ मिले हैं इसे? इसे तो ममता मिली है। आहा...हा...! यह तो एक दृष्टान्त है। हमारे यह सब हैं न? बड़ा व्यापार करते हैं, बड़ी लाखों की आमदनी... यह और यह... धूल-धाणी है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन। आहा...हा...! वस्तु जो भगवान आत्मा, जिसका द्रव्यस्वभाव अनादि शुद्ध और चैतन्यघन है, अविकारी स्वभाव का वह पिण्ड है, उसे द्रव्य और भाववेद (नहीं है)। आहा...हा...! नपुंसक का वेद या पुरुष का द्रव्यवेद (नहीं है)। आ...हा...! यह आ गया था कि जिसे द्रव्यवेद का ग्रहण नहीं, यह तो आ गया है। द्रव्य लिंग जो है, उसका कार्य आत्मा का नहीं है, वह तो जड़ का है। आ गया है न? लिंग कठिन हो... आहा...हा...! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! तेरी बातें... सन्तों ने जगत को प्रसिद्ध करने, जगत को लज्जा आवे - ऐसी बातें लिख डाली हैं। वे तो ब्रह्मचारी हैं, उन्हें क्या है? आहा...हा...!

एक तो ऐसी बात है, आदिपुराण के कर्ता नहीं? जिनसेनाचार्य! उसमें कथा में एक (बात आती) है। जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण बनाया, उसमें एक बात, विषय की, भोग की ऐसी व्याख्या लिखी। स्वयं तो महाब्रह्मचारी! परन्तु ऐसी बात लिखी कि सुननेवाले लोगों के वीर्य छूट गये!! आहा...हा...! अखण्डानन्द ब्रह्मचारी मैं हूँ। मुझमें विषय और द्रव्यवेद है ही नहीं। मेरी पर्याय में भी द्रव्यवेद और (भाव) वेद का आदर नहीं है। द्रव्य में नहीं, इसलिए पर्याय में आदर नहीं और फिर विषय ऐसा लेना और ऐसा करे... ऐसी उन्होंने सभा में लगायी... ऐसी लगायी... लगायी... स्वयं तो अन्दर (अतीन्द्रिय स्वरूप में है)। आहा...हा...! सुननेवाले लोगों के वीर्य छूट गये।

यह इसमें नहीं आया ? भाई ! समयसार में ! बालस्त्री (आया है) उन्हें तो सत्य कहना है। बालस्त्री, पुरुष को भोग और योग नहीं परन्तु युवा होती हुई वह पुरुष को बाँधती है। आता है ? यह तो सत्य प्रसिद्ध करना है। इसमें (क्या) ? आहा...हा... ! समझ में आया ? भाई ! वहाँ मुम्बई में मिले ऐसा नहीं है। वहाँ तो सब होली है। आहा...हा... ! वाह प्रभु !

यहाँ तो भगवान का अवेदी स्वभाव (है, उसे) पुरुष, नपुंसक और स्त्रीवेद का ग्रहण नहीं... ग्रहण नहीं अर्थात् उसे पकड़ता नहीं। उसे जानने का कार्य भी स्वयं से करता है। आहा...हा... ! सम्यग्दृष्टि जीव, जिस जीव में द्रव्यवेद और भाववेद नहीं — ऐसे द्रव्य का जहाँ अन्दर स्वीकार और सत्कार हुआ है तो उसकी पर्याय में भी विषय की वासना का आदर नहीं। द्रव्यवेद का आदर नहीं। आहा...हा... ! पहला स्त्री लिया, नहीं ?

जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है,... पकड़ नहीं, आदर नहीं। **ग्रहण नहीं है, वह अलिंगग्रहण है;...** आहा...हा... ! जिसे लिंग का ग्रहण नहीं, वह अलिंगग्रहण है। पुरुषवेद की वासना, स्त्रीवेद की वासना, नपुंसक (वेद की) वासना और द्रव्य (वेद) — जिसे इनकी पकड़ नहीं, जिसे इनका आदर नहीं, वह अलिंगग्रहण है। वह लिंग से रहित अलिंगग्रहण है। आहा...हा... !

इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से...' आहा...हा... ! वास्तव में तो अकार्य-कारणस्वभाव है, इसलिए राग और निमित्त, द्रव्य का कारण नहीं तथा उससे उसका आत्मा का ज्ञान हुआ, वह कार्य उनसे नहीं (हुआ)।

दूसरा, आत्मा में दृष्टि की अपेक्षा से अभोक्ता नाम का गुण है, वैसे तो नय की अपेक्षा से कर्ता और अकर्ता, भोक्ता और अभोक्ता दोनों गुण हैं। यह क्या कहा ? कि भगवान आत्मा में दृष्टि के विषय की शक्ति की अपेक्षा से एक अकर्ता और अभोक्ता नाम का गुण है, तो इस विषय की वासना का कर्ता भी नहीं तथा उसका भोक्ता भी नहीं; तो जड़ की इन्द्रियों का कर्ता और भोक्ता तो होगा कहाँ से ? आहा...हा... ! समझ में आया ? परन्तु जब ज्ञान की बात चले, तब उसे वेद-वासना का परिणमन पर्याय में है - ऐसा ज्ञान जानता है। 'यह मेरा है' — ऐसा द्रव्य की दृष्टि है, इसलिए मानता नहीं परन्तु पर्याय में वासना का ज्ञान होता है, इसलिए पर्याय में वासना है, उसके कर्तारूप से भी परिणमनेवाला मैं हूँ -

ऐसा जानता है, ऐसा जानता है ! अरे...अरे... ! ऐसी बातें ! एक ओर (कहे) इसे नहीं और एक ओर कहे, इसकी पर्याय में है; द्रव्य में नहीं। समझ में आया ? आहा...हा... ! परन्तु पर्याय में जो राग का, विषय की वासना का परिणमन है, उतना कर्तारूप से जानता है और उतना भोक्ता का, वासना का दुःख का वेदन है, यह भी जानता है। समझ में आया ?

नय अधिकार में कर्ता और अकर्ता, भोक्ता और अभोक्ता दो लिये हैं। परन्तु दृष्टि के विषय और अधिकार में समयसार में अकर्ता और अभोक्ता दो ही लिये हैं। कर्ता-भोक्ता नहीं लिया, क्योंकि दृष्टि का विषय अभेद है। परन्तु ज्ञान जो हुआ वह ज्ञान, त्रिकाली में (वासना) नहीं — ऐसा भी जानता है और पर्याय में राग की वासना है, वेद है - ऐसा जानता है - ऐसी बातें ! क्षण में हाँ ! क्षण में ना ! क्या अपेक्षा है ? बापू ! समझ में आया ?

इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है'.... आहा...हा... ! **इस अर्थ की प्राप्ति होती है।** इसका अर्थ यह है, द्रव्य में यह नहीं, इसलिए द्रव्यदृष्टिवान को ही पर्याय में उसका वेदन और भोक्तापना निश्चय से नहीं है। आहा...हा... ! पर्यायदृष्टि में है, वह व्यवहार है। अरे... अरे... ! समझ में आया ? ऐसा मार्ग। यह सोलह बोल हुए।

१७, **लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है....** आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? धर्मात्मा-जो द्रव्य धर्मी हुआ, उस द्रव्य में, द्रव्यलिंग का नग्नपना और द्रव्यलिंग के अट्ठाईस मूलगुण द्रव्य में नहीं है। आहा...हा... ! अन्दर यति का जो लिंग है — विकल्प आदि, अट्ठाईस मूलगुण, पंच महाव्रत (आदि का) विकल्प।

आहा...हा... ! **लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का....** मुनि का धर्मचिह्न अर्थात् रागादि और नग्नपना द्रव्य में नहीं है, आत्मा में वह नहीं है और इस कारण उसकी आत्मा की पर्याय में भी द्रव्यलिंग और भावलिंग का आदर नहीं है। उसका ज्ञान करता है, समझ में आया ? पहले वेद का (आया) था और साधुपने का यह द्रव्यलिंग और भावलिंग जो चिह्न है। यहाँ तो समकिती की बात है न ? यह धर्म समकिती के लिये है। जिसे द्रव्यदृष्टि हुई है... उसके आत्मा को - ऐसा (कहना है) और उसे - आत्मा को यति के बाह्य लिंग उसमें नहीं है। यह व्यवहार के पंच महाव्रत के विकल्प उठे और नग्नपना, यह सब वस्तु

में नहीं और वस्तु में नहीं; इस कारण वस्तु की दृष्टिवन्त की पर्याय में भी (उनका) आदर नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

एक व्यक्ति कहता था... ब्रह्मचारी, नहीं? उदयपुर का! स्वाध्यायमन्दिर में प्रश्न किया था कि मुनि यह वस्त्र उतारे या नहीं? और वहाँ उदयपुर गये थे तो भी एकान्त में पूछता है कि परन्तु पर्याय तो उनकी है या नहीं? भाई! सुन, बापू! यहाँ तो पर्याय में है, यह बात ज्ञान जानता है परन्तु दृष्टि के द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि में वे लिंग हैं ही नहीं। आहा...हा...! पहले दृष्टि के विषय का स्वीकार किये बिना पर्याय का ज्ञान यथार्थरूप से कर नहीं सकता - ऐसा कहते हैं। क्या कहा यह?

द्रव्य में, यह जो लिंग हैं — मुनिपने के पंच महाव्रत के या नग्नपना तो वस्तु में है ही नहीं; वह तो जड़ है, विकल्प भी जड़ है और नग्नपना तो एकदम जड़ है। वह आत्मा में तो नहीं परन्तु आत्मा जिसकी दृष्टि में आया, उसकी पर्याय में भी उनका आदर नहीं। आहा...हा...! ऐसा काम है। यहाँ तो बाहर में वेष लेकर (बैठ जाते हैं)। अभी तो मूलगुण का भी कहाँ ठिकाना है? उनके लिये चौका बनाकर लें और ये सब सेठ दें (और मानें कि) आहार-पानी का दान दिया... पाप किया है। आहा...हा...! बहुत कठिन काम, बापू! प्रभु का मार्ग कोई सरलपने का है। आहा...हा...!

कहते हैं कि **लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का....** यह धर्म के चिह्न हैं। पंच महाव्रत आदि विकल्प और नग्नपना - चिह्नों का **ग्रहण जिसके नहीं है...** आहा...हा...! इसके द्रव्य में नहीं और द्रव्य की दृष्टिवन्त की पर्याय में भी उनका आदर नहीं। आहा...हा...! यति का जो अन्तर और बाह्य लिंग (है उन) दोनों का ज्ञानी-धर्मात्मा को आदर नहीं। आहा...हा...! उसके बदले अभी तो बाह्य नग्नपना (ले और) पंच महाव्रत के कोई परिणाम हों तो, ओ...हो...हो...! (हो जाता है)। समझ में आया? ऐसी बातें!

अमृतचन्द्राचार्य सन्त मुनि दिगम्बर आचार्य पुकार करके कहते हैं कि वेद के, लिंग के, यति के आचरण का राग हमारे में नहीं है। हमारे में तो वह परज्ञेयरूप से जानने में आता है। समझ में आया? आहा...हा...! एक भी न्याय बदले तो पूरा तत्त्व बदल जाता है, बापू! यह तो भगवान तीन लोक के नाथ, केवलियों के पथानुगामी सन्तों की कथनी है। आहा...हा...!

धर्म के चिह्न ऐसा कहा न? भाई! व्यवहार क्रिया, नग्नपना, पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण, उनके लिये (बना हुआ) आहार न लेना (– ऐसा) विकल्प, इन सब धर्म के चिह्नों का **ग्रहण जिसके नहीं है....** जिसके ज्ञान, जिसके द्रव्य में उनकी पकड़ नहीं है। आहा...हा...! **वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के बहिरंग'...** अर्थात् नग्नपना आदि... आहा...हा...! **'बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'...** यह बाह्य कृत है। नग्नपना और पंच महाव्रत के परिणाम भी बाह्य हैं। आहा...हा...! है? **'बहिरंग (बाह्य) यतिलिंगों का अभाव है'...** आहा...हा...!

समाधिशतक में एक (बात) आती है। (एक व्यक्ति कहता था कि) देखो! इसमें ऐसा लिंग हो, इसके आग्रह से इनकार करते हैं। यह तो 'इससे मुझे लाभ होगा' इस आग्रह का निषेध करते हैं। परन्तु लिंग तो यही होता है। सच्चे मुनि हों, उन्हें तो नग्नपना ही होता है और अट्ठाईस मूलगुण का ही विकल्प होता है। होवे तो यही होता है। इसका वह आग्रह नहीं करे कि इससे मुझे लाभ होगा और धर्म होगा। यह प्रश्न आया था (कि) समाधिशतक में ऐसा कहा है। 'चाहे जैसा लिंग हो, लिंग का आग्रह नहीं करना'... परन्तु लिंग का आग्रह नहीं करने का अर्थ क्या? नग्नपना है वह मेरा है, धर्म है, और धर्म का साधन है – ऐसा आग्रह नहीं करना। समझ में आया? सच्चे भावलिंगी मुनि सन्त हों, उन्हें अन्तर आनन्द की घूँटें आती हों तो भी उन्हें बाह्य में विकल्प और नग्नपना होता ही है। समझ में आया? तथापि उससे कल्याण होगा – ऐसा नहीं है। अरे... अरे...! ऐसी बातें! समाधिशतक में है। ऐसा आग्रह न करना (लाकर के कहा कि) देखो! इसमें आग्रह से इनकार किया है। कहा – क्या कहा है? वहाँ तो उसे परिग्रह है ही नहीं और संयोग की विशेषता से अन्दर में ममता विशेष है – ऐसा है ही नहीं। आहा..हा...! चक्रवर्ती का राज हो तो भी एकत्वबुद्धि और ममता (तोड़) देते हैं, अस्थिरता का भाव रह गया है; और मुनि होकर कोई संयोग नहीं होता, नग्न होकर ही घूमते हैं तो भी अन्दर में राग की एकता से धर्म है – ऐसा मानते हैं, उसे अन्दर में सब भाव पड़े है, परिणाम में सब भाव पड़े हैं। आहा...हा...! भले संयोग छूट गया है परन्तु संयोगीभाव है। संयोग – चीज छूट गयी है परन्तु संयोगी–रागादि का भाव संयोग है, उसका जहाँ आग्रह है, वह पूरा मिथ्यादृष्टि है। यह क्या कहा, समझ में

आया ? मुनि हो उसे पंच महाव्रत के विकल्प आवें, उसका ज्ञान हुआ परन्तु पर्याय में उनका आदर नहीं। अरे... अरे... ! ऐसी बातें ! कहाँ अन्तर पड़ता है ?

धर्म चिह्नों का ग्रहण... अर्थात् पकड़ **जिसके नहीं है....** मेरे हैं — ऐसा जो माननेवाला नहीं है। आहा...हा... ! इसलिए चाहे जैसा लिंग हो, ऐसा कहते हैं - ऐसा नहीं है। होवे तो ऐसा ही होता है परन्तु उसके द्रव्य में नहीं और अनुभव की पर्याय में भी उसका आदर नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? **इस प्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'....** बाह्य जो यतिलिंग-पुण्य के, दया-दान के, पंच महाव्रत के परिणाम, वह बाह्यलिंग है; अन्तर का नहीं। आहा...हा... !

'लिंगेण' आया था न ? भिन्न-भिन्न प्रकार के लिंग से आत्मा ज्ञात होता है। लिंग अर्थात् गुण। वहाँ लिंग अर्थात् गुण है। प्रवचनसार में आया है। पहले सामान्य द्रव्य की बात की, फिर जीव-अजीव लोकालोक, फिर क्रियावती और भाववती शक्ति, फिर लिंग से बात की है। 'लिंगेण' — प्रत्येक द्रव्य उसके लिंग से ज्ञात होता है अर्थात् उसके गुण से ज्ञात होता है। वहाँ वह लिंग अर्थात् गुण। यहाँ लिंग अर्थात् विकल्प और नग्नपना। समझ में आया ? ऐसा मार्ग है भाई ! इससे कम, अधिक और विपरीत माने (तो मिथ्यात्व होता है) समझ में आया ?

अरे... ! जन्म-मरणरहित की बातें, बापू ! आहा...हा... ! भव के अन्त की बात ! वस्तु में भव है नहीं और वस्तु में (भव) नहीं, उसका भान हुआ, उसे अब भव नहीं। एकाध-दो भव हों, परन्तु वह ज्ञान के ज्ञेयरूप से जानता है। समझ में आया ? थोड़ा समझना सूक्ष्म पड़े, न समझ में आवे तो रात्रि को पूछना। आहा...हा... !

दो बातें क्या की, समझ में आयी ? प्रवचनसार में कहा है प्रत्येक द्रव्य अपने लिंग से ज्ञात होता है। वह लिंग अर्थात् गुण। ज्ञान से आत्मा ज्ञात होता है; वर्ण-गन्ध से जड़ ज्ञात होता है - ऐसे उसके गुण से (ज्ञात होता है।) वह लिंग अलग और यह लिंग अलग। आहा...हा... ! यह लिंग तो अन्दर जो पंच महाव्रत का विकल्प है, और नग्नपना है, उसे यहाँ बाह्य लिंग कहा। वस्तु के स्वरूप में नहीं, इसलिए उसे बाह्यलिंग कहा। पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण जो हैं, वे बाह्य हैं; वस्तु के स्वरूप में नहीं। आहा...हा... !

तब कितने ही ऐसा कहते हैं न ? देखो ! लिंग इसमें नहीं तो फिर चाहे जैसा (लिंग) हो। भरत चक्रवर्ती काँच भवन में गहने, वस्त्र थे और केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए हैं; (यह) मिथ्या बात है। मुनिपने का भाव प्रगट हुए बिना केवलज्ञान आता ही नहीं। काँचभवन में तो उन्होंने नवकोटि का त्याग किया था। वस्त्र और गहने पहने हैं और मुनि हो गये हैं या केवली हुए हैं — यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आ...हा...! यहाँ तो जो न्याय है, वह रहेगा; उल्टा-सीधा कुछ (चलेगा नहीं)। ऐसा कहते हैं। हमारी दीक्षा में भी ऐसा गाया था। भरत चक्रवर्ती वस्त्रसहित केवल पाये... आहा...हा...! ऐसी बात ६६ वर्ष पहले (बोलते थे), सब मिथ्या बातें ! केवल (ज्ञान) हो, उसे मुँहपट्टी होती ही नहीं और वस्त्र होते ही नहीं। आहा...हा...! परन्तु तो भी वह वस्त्ररहितपना और पंच महाव्रतपना, स्वभाव में नहीं; वह जाननेयोग्य चीज है। आहा...हा...! ऐसा है। यह सत्रह बोल हुए।

१८, **लिंग अर्थात् गुण....** देखा ? **ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थ ज्ञान) जिसके नहीं है,....** आहा...हा...! क्या कहते हैं ? आत्मा को गुण - ऐसा भेदपना नहीं। आत्मा, गुणी और ज्ञान, गुण-ऐसा भेदपना वस्तु में नहीं। आहा...हा...! १८-१९-२० (ये) तीन बोल कठिन हैं।

लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण.... अर्थात् कि गुणी का गुण का भेद, उसकी पकड़, यह अर्थावबोध। शब्द तो ऐसा है - अर्थावबोध (अर्थात्) अर्थात् अर्थ का ज्ञान; परन्तु वह अकेला ज्ञान नहीं लेना, सभी गुण लेना। शब्द तो ज्ञानप्रधानता (से) कथन है। अर्थावबोध - पदार्थ का बोध, अर्थात् पदार्थ के गुण - ऐसा लेना। समझ में आया इसमें ? यह ज्ञानप्रधानता से कथन किया, परन्तु उसके जितने गुण हैं, उन गुण का गुणी में भेद नहीं; वह तो अभेद चीज है। आहा...हा...! ऐसी बातें !

लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण.... अर्थात् ? ग्रहण अर्थात् ? अर्थावबोध (अर्थात्) पदार्थ का-गुणी का गुण। **जिसके नहीं है,...** (अर्थात्) ऐसा भेद नहीं। आहा...हा...! समझ में आया ? गज़ब बातें हैं ! जिसके स्वभाव में पंच महाव्रत आदि के विकल्प (और) जड़ की पर्यायें तो नहीं परन्तु यह आत्मा गुणी है और यह गुण है - ऐसा भेद भी जिसकी दृष्टि में नहीं। वस्तु में ऐसा भेद नहीं। समझ में आया ?

लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थ ज्ञान).... अर्थात् पदार्थ का गुण। पदार्थ तो गुणी है; उसका गुण। **जिसके नहीं है,...** गुणी को गुण नहीं। अरे रे! ऐसी बातें! (यहाँ) शब्द तो ज्ञान लिया, परन्तु यहाँ तो गुणी को गुण का विशेषपना नहीं; वह तो सामान्य है। आहा...हा...! धीरे से समझना, भाई! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वर की वाणी है। मुनि कहते हैं, वह केवली की वाणी है।

क्या कहा यह? **लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात्....** गुणी और गुण का ग्रहण अर्थात् गुणी और गुण की विशेषता, **जिसके नहीं है,....** गुणी, ऐसा जो सामान्य द्रव्य, उसमें गुण, ऐसा जो विशेष, वह उसमें नहीं है। आहा...हा...! धीरे से समझना, तीन बोल बहुत सूक्ष्म आयेंगे। यह अठारहवाँ सूक्ष्म है, उन्नीसवाँ सूक्ष्म और बीसवाँ बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा...! ऐसे पर्यूषण के काल में... अलौकिक बात है, बापा!

लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थ ज्ञान) जिसके नहीं है,.... आहा...हा...! गुणी को गुण का भेद नहीं; सामान्य को विशेषपना नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? **लिंग अर्थात् गुण, ऐसा जो ग्रहण....** अर्थात्? ग्रहण अर्थात्? पदार्थ के गुण, वह जिसे नहीं। सामान्य और विशेष गुण – ऐसा भेद नहीं। सामान्य में गुण का विशेषपना, वह उसमें नहीं। आहा...हा...!

राग तो नहीं, जड़ की क्रियाएँ तो उसमें नहीं, परन्तु उस गुणी में गुण का विशेषपना, वह भी सामान्य में नहीं। फिर से ध्यान रखो, भाई! ये तो वीतराग के मन्त्र हैं। यह कोई वार्ता-कथा नहीं; यह तो तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान के पास गये और यह बात लाये थे। मुनि को अन्तर अनुभव तो था, वे तो चारित्रवन्त (थे) परन्तु ऐसी स्पष्टता लाये। अमृतचन्द्राचार्य गये भी नहीं, परन्तु अन्दर में जाकर लाये। अन्दर इस भगवान के पास गये थे। आहा...हा...!

कहते हैं कि **लिंग अर्थात् गुण....** जिसके नहीं – ऐसा आया न? **गुण – ऐसा जो ग्रहण अर्थात्....** पदार्थ है, उसके गुण। पदार्थ है, उसके गुण। **जिसके नहीं है,....** आहा...हा...! अर्थात्? कि, **'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित'....** भगवान आत्मा त्रिकाली सामान्य वस्तु है, वह गुण विशेष को स्पर्श नहीं करता। आ...हा...! समझ में आया? यह अन्तिम तीन बोल बहुत कठिन है। आहा...हा...! अमृत की धारा (बहती है!)

कहते हैं कि वस्तु सामान्य जो है — गुणी, उसे गुण विशेष का स्पर्श नहीं, विशेष को वह स्पर्शता भी नहीं। इसमें है न सामने ? पाठ है या नहीं अन्दर ? आहा...हा... ! इस प्रकार लिंग अर्थात् कि पदार्थ के विशेष गुण, यह जो लिंग **जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है;....** गुणी, ऐसा जो भगवान आत्मा द्रव्य, उसे गुण — ऐसे जो विशेष, ऐसा विशेषपना सामान्य को नहीं। आहा...हा... ! द्रव्यस्वभाव, जो त्रिकाल, उसे गुण का-विशेष का आलिंगन नहीं, गुण के भेद का स्पर्श नहीं। आहा...हा... ! राग का स्पर्श तो कहीं गया। महाव्रत के परिणाम, वे तो उसकी पर्याय में भी नहीं और उसमें (स्वरूप में) भी नहीं; यह तो गुण है, परन्तु यह द्रव्य, जो वस्तु है, वह द्रव्य सामान्य जो है, इस विशेष को द्रव्य स्पर्शता नहीं। वह गुण, ऐसे विशेष भेद को वह अभेद स्पर्शता नहीं। आहा...हा... ! ऐसा है !

तीसरी गाथा में ऐसा कहते हैं - समयसार (की) तीसरी गाथा ! प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म को स्पर्शता है। वह दूसरी बात है। तीसरी गाथा ! **एयत्तणिच्छयगदो** - वहाँ क्या कहा ? कि प्रत्येक वस्तु अपने गुण-पर्याय को स्पर्शती है, परन्तु पर को स्पर्शती नहीं - यह वहाँ सिद्ध करना है। पर को स्पर्शती नहीं - यह सिद्ध करना है और यहाँ सामान्य, जो त्रिकाल वस्तु है, वह विशेष को स्पर्शती भी नहीं, छूती भी नहीं। बात जमती है ? भाई ! आहा...हा... ! वीतरागता का प्रवाह बहाया है ! प्रवाह भले बहाया वीतरागता का, हाँ ! आहा...हा... ! यह तो बापू ! लड़कों के (पास) बोले न ? 'वेणला भले वाव्या रे...'

यह तो कहते हैं कि गुणी, गुण को-विशेष को स्पर्शता नहीं - ऐसा उसका स्वरूप है। दृष्टि का विषय जो सामान्य (है)... आहा...हा... ! विशेष, ऐसे गुण - उन्हें वह अड़ता नहीं - स्पर्शता नहीं, आलिंगन करता नहीं। आहा...हा... ! यहाँ जो पर को आलिंगन करे, वह आलिंगन तो करता ही नहीं, यह उसे छूता भी नहीं। समझ में आया ? फिर राग हो, उसे भी छूता नहीं, इस अपेक्षा से। वरना अपने गुण-पर्याय को स्पर्शता है। यह पर से पृथक् करने की अपेक्षा से (बात है)। समझ में आया ? आहा...हा... !

अब, अन्दर में वस्तु जो है वस्तु, अभेद... जो गुण पी गयी है। अभेद में भेद दिखता नहीं - यह आ गया है। भाई ! सातवीं (गाथा में) ! अभेद में भेद दिखता नहीं, क्योंकि अभेद, वह भेद में आता नहीं। आहा...हा... ! दृष्टि जहाँ अन्दर में पड़ती है, वहाँ

अभेद पर दृष्टि पड़ती है। यह गुण है और यह गुणी है – ऐसे भेद, दृष्टि में आते नहीं। आहा...हा...! है ?

जिसके नहीं है.... गुण की विशेषता जिसके नहीं। **'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित नहीं....'** आहा...हा...! **'ऐसा शुद्ध द्रव्य है'...** ऐसा शुद्ध द्रव्य है। **ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १८२ भाद्र शुक्ल ९, शुक्रवार, ३१ अगस्त १९७९

प्रवचनसार, १७२ गाथा। अलिंगग्रहण (का) अठारहवाँ बोल चला न ? स्वप्न में ऐसा आया, कोई पूछता था कि अठारहवाँ बोल फिर से लेना। ऐसा स्वप्न में आया था। कोई वृद्ध व्यक्ति था, याद नहीं। नींद कम न! एक वृद्ध व्यक्ति आया था, (उसने कहा) महाराज! यह गुण का बोल फिर से लो। कहा, लेंगे, हाँ भाई! वह कोई ६५-७० वर्ष का वृद्ध आदमी था, परिचित था। उसने पूछा कि यह गुण का बोल फिर से अधिक लो! कहा लूँगा, भाई, हाँ!

मुमुक्षु – सबेरे आपने कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री – कहा था। आहा...हा...!

भाई! भगवान! तेरी चीज ऐसी है प्रभु! अभी क्या करना ? अभी प्रवाह पूरा फेरफार हो गया। आहा...हा...! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! तू कौन है ? तू तो द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् वस्तु है। आहा...हा..! वह वस्तु, पर को तो स्पर्शती नहीं, पर को तो छूती नहीं – ऐसी बातें हैं। वह कर्म को स्पर्शती नहीं। आहा...हा...! वह राग को स्पर्शती नहीं, प्रभु! बात ऐसी है (अभी) भक्तिवालों को देव-गुरु की भक्ति करे तो मानो कल्याण होगा, क्रियाकाण्डियों को (ऐसा लगता है कि) यह राग और दया, व्रत हम पालते हैं तो (कल्याण होगा) अरे...रे! भाई! मार्ग कोई अलग है। आहा...हा...!

यहाँ तो वहाँ तक कहा **लिंग अर्थात् कि....** है ? **गुण...** लिंग अर्थात् गुण। वैसे तो कल कहा था कि लिंग जो गुण है, उससे वह ज्ञात होता है, यह जानने की अपेक्षा से

बात हुई। परन्तु यहाँ गुण जो है... आहा...हा... ! **ऐसा जो ग्रहण....** गुण ऐसा जो... है ? **गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध....** अर्थात् गुणस्वभाव। (इसमें इतना समझना कि) यह कथन ज्ञान से किया है। अर्थावबोध – पदार्थ का ज्ञान वह जिसे नहीं। आहा...हा... ! अर्थात् ? भगवान आत्मा ! सच्चिदानन्द प्रभु ! ऐसी जो चीज है, वह गुण को ग्रहण नहीं करती। गुण का भेद है, उसे वह ग्रहण नहीं करती। आहा...हा... ! सूक्ष्म है, भाई ! आहा...हा... ! जन्म-मरण के अन्त की बातें कोई अलौकिक है, भाई !

कहते हैं प्रभु ! तुझमें जो गुण है न ? ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता – ऐसे जो अनन्त गुण हैं... आहा...हा... ! उसे... आहा...हा... ! **वह जिसके नहीं है....** गुण जिसके नहीं है। आहा...हा... ! क्या कहा ? भाई ! यह तो धर्म की बातें हैं। तीन लोक के नाथ की आज्ञा का यह फरमान है... आहा...हा... ! कि तुझमें जो गुण है न ? ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता... यह गुणी ऐसा जो द्रव्य, ज्ञान आदि अनन्त गुण को वह छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। शान्ति से समझने जैसी बात है बापू ! आहा...हा... !

गुण ऐसा जो ग्रहण.... ग्रहण अर्थात् ? **अर्थावबोध जिसके नहीं है,....** ऐसा। वस्तु जो भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसे गुण की विशेषता, गुण उसका विशेष भाव है, वह उसे नहीं। जो विशेष भाव है, वह उसे नहीं। आहा...हा... ! यहाँ तो अभी पुण्य को अधर्म कहाँ कहा ? वह हमें कहो नहीं तो हम (नहीं मानेंगे) । अर..र..र ! प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! ८३ गाथा में नहीं कहा ? पुण्य, वह जैनधर्म नहीं... भाई ! भावपाहुड़ ! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव हो, वह जैनधर्म नहीं, वह वस्तु का धर्म नहीं। भाई ! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहा...हा... ! अरे...रे ! दुनिया को यह बात कहने पर ऐसा लगता है कि यह एकान्त है। प्रभु ! सुन, भाई ! (यह) सम्यक् एकान्त है। नय है न ? सम्यक् एकान्त है।

जिसकी दृष्टि – धर्मी की दृष्टि जिस द्रव्य पर पड़ी है, वह द्रव्य, गुण को स्पर्शता नहीं ऐसी (वस्तु) दृष्टि में है। धीमे से समझना, भाई ! अनन्त काल से यह दु:खी प्राणी है, चौरासी के दु:ख में (पिल रहा है) आहा...हा... ! देखो न, यह मोरबी की (बात नहीं आयी) ? एक सिनेमा में से तीन सौ पचास मुर्दे निकले। क्योंकि शनिवार का दिन (था, इसलिए) पैसा खर्च करके (फिल्म) देखने गये होंगे। साढ़े तीन बजे, शनिवार और

शनिवार को सिनेमा खुला (रहे) आहा...हा... ! बापू ! कितने उत्साह से गये होंगे ? और पैसा खर्च करके सिनेमा देखने (गये होंगे), उसमें पानी आया, बीस फीट ! एक मिनिट में एक फीट, दो, आठ-दस मिनिट में दस फीट वहाँ हो गया.... ! अरे ! पाँच-छह फीट होवे तो हो गया। आहा...हा... ! और उस पानी के दल का जोर आता हो, वहाँ उसके सामने बाहर निकलना भी नहीं हो सकता। बाहर कहाँ निकले ? वहाँ भी पानी का जोर (होता है)। ऐसे मरण के समय उसे क्या होता होगा ? आहा...हा... ! तड़फड़ा कर देह छूटती है परन्तु यह देह इसकी है नहीं, कहते हैं। देह इसकी नहीं परन्तु कर्म जो है, वह इसके नहीं। भगवान ! तू कर्म तो नहीं परन्तु इसे राग भी नहीं, भाई ! कहा न ? पुद्गल परिणाम कहा... पुण्य को पुद्गल परिणाम कहा... प्रभु ! आहा...हा... ! और जीव अधिकार में उन्हें अजीव कहा, पुण्य परिणाम वह जीव नहीं, बापू ! आहा...हा... ! वह जीव को लाभ करता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, आहा...हा... ! यह तो सब युवक, वृद्ध, बालक, माता-बहिनें, लड़कियों सबको समझने जैसी बात है, बापू ! आहा...हा... ! अभी प्रवाह चलता नहीं, इसलिए लगता है कि यह तो एकान्त निश्चय... निश्चय... निश्चय है। भाई ! निश्चय अर्थात् सत्य। यह नये आते हैं न ? श्रीमद्वाले आवें, उन्हें ऐसा लगता है कि पर की भक्ति-वक्ति करना वह धर्म नहीं !

यहाँ तो (कहते हैं) वह तो नहीं परन्तु प्रभु ! एक बार सुन ! तेरा नाथ अन्दर पूर्णानन्द से भरपूर प्रभु, वह द्रव्य है, वह गुण को छूता नहीं। सामान्य जो वस्तु है, वह विशेष में आती नहीं, विशेष को छूती नहीं। आहा...हा... ! प्रभु... प्रभु... ! तेरी बातें दूसरी हैं, बापू ! आहा...हा... ! परन्तु विशेष का लक्ष्य जाये, तब तो राग हो। दृष्टि में उसे वह (अभेद) विषय नहीं आता, उसके लिये कहते हैं। क्या कहा यह ?

सामान्य जो गुणी है, गुण के लक्ष्य में यदि आवे, लक्ष्य करनेवाला गुण के भेद के लक्ष्य में आवे, तब तो राग उठे। आहा...हा... ! समझ में आया ? अरे...रे ! आहा...हा... ! देव-गुरु की भक्ति, परद्रव्य की भक्ति तो राग है, और प्रभु ने तो यहाँ तक कहा कि **'परदव्वादो दुग्गई'** प्रभु ! आहा...हा... ! तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं - मेरी भक्ति (का भाव आवे) वह तेरी दुर्गति है। मोक्षपाहुड़, सोलहवीं गाथा है न ? आहा...हा... !

दुर्गति है, प्रभु! चैतन्य भगवान! इस राग में आया वह चैतन्य की गति नहीं, वह चैतन्य की परिणति / दशा नहीं। आहा...हा...! वह तो नहीं... आहा...हा...! परन्तु भगवान आत्मा वस्तु है न? चिदानन्द सच्चिदानन्द प्रभु, वह वस्तु है, वह गुण के विशेष को स्पर्शता नहीं। सामान्य जो ज्ञायक त्रिकाली वस्तु है, वह विशेष-गुण के भेद को स्पर्शता नहीं है। अरे..रे!

एक ओर तीसरी गाथा में ऐसा कहे,.. वह कल कहा था कि प्रत्येक वस्तु (अर्थात्) भगवान आत्मा और यह परमाणु जड़, मिट्टी। यह एक परमाणु नहीं, अनन्त परमाणु है, (उसके) टुकड़े करते-करते अन्तिम POINT रहे वह परमाणु है। परम-अणु (अर्थात्) छोटे से छोटा भाग, उसमें भी परमाणु के अनन्त गुण हैं। आहा...हा...! वह द्रव्य उस (दूसरे परमाणु) द्रव्य को छूता नहीं। वह तो नहीं छूता परन्तु यहाँ द्रव्य जो वस्तु है, वह अपने गुण के विशेष भाग को स्पर्श नहीं करता। अरे...रे...! ऐसी बातें! भाई! है? यह सोनगढ़ का है? वे कहते हैं कि सोनगढ़िया! परन्तु प्रभु! क्या करता है तू? आहा...हा...!

इसकी दृष्टि द्रव्य पर जाये तब उसे सम्यग्दर्शन हो, यह कहने के लिये कहते हैं कि यह द्रव्य है वह गुण के विशेष को स्पर्शता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? बहुत काम (कठिन)! आहा...हा...! स्वप्न में आया, कहा न वह? किसी ने पूछा, क्योंकि नींद कम है न? पूरी रात नींद नहीं, कौन जाने क्या हुआ अन्दर? फिर पड़े रहते हैं ऐसे के ऐसे, (उसमें) यह कुछ आया करता है। धर्म की रथयात्रा निकली है और... तथा यहाँ एक व्यक्ति आकर खड़ा रहा (और कहा) महाराज! यह अठारहवाँ गुण का बोल फिर से लेना, हाँ! स्वप्न में (आया)। आहा...हा...! कहा, हाँ भाई! फिर से लूँगा, हाँ! आहा...हा...!

यह बाहर का थोथा शरीर, वाणी, मन को कहीं (रह गये) वह तो पुद्गल की चीज है परन्तु तुझमें राग हो, वह भी पुद्गल का परिणाम है, क्योंकि तेरी जाति की वह जाति नहीं है, इस कारण वह राग, अजीव और पुद्गल का परिणाम है, प्रभु! उसका लक्ष्य करना नहीं। अरे...! उसका तो नहीं परन्तु द्रव्य जो वस्तु है, उसमें अनन्त गुण अभेद में पड़े हैं, तथापि उस भेद पर तू लक्ष्य करना नहीं। यह सातवीं (गाथा में) आ गया है, नहीं? भाई! अभेद को देखने से भेद नहीं दिखते। उसमें आ गया है। आहा...हा...! अभेद चीज एक वस्तु-द्रव्य है, भाई! तू तत्त्व है, प्रभु है, परमेश्वर है, भाई! इसे कैसे जँचे? आहा...हा...! दो बीड़ी ठीक से पीवे तब तो दस्त-जंगल उतरे। ऐसे अपलक्षण! अब इसे ऐसा कहना

कि तू परमात्मा है, प्रभु! तू बीड़ी को तो छूता नहीं, बीड़ी पीता भी नहीं। यह तो आया न? भाई! इन्द्रिय के विषयों को भोगता नहीं, इसमें आ गया। आहा...हा...! बारहवें बोल में (आ गया) भगवान आत्मा, इन्द्रिय के विषयों को भोगता ही नहीं। आहा...हा...! क्योंकि राग को भोगे वह तो अनात्मा है। आहा...हा...! भगवान आत्मा, राग के भोग को भोगता नहीं। आहा...हा...! इस मूल सम्यग्दर्शन के बिना सब त्याग की और बाहर की बातें, एक के बिना शून्य हैं।

भावपाहुड में तो यह कहा है न? भाई! भाव की भावना बिना... परन्तु वह भाव कौन? जैनभाव। जैनभाव अर्थात् वीतरागीभाव। जिनभावना के बिना तू अनन्त बार मर गया, प्रभु! आहा...हा...! जिनभावना यह कि त्रिकाली ज्ञायकभाव है, उसे दृष्टि में लेकर वीतरागी पर्याय प्रगट करना, वह जिनभाव है, अष्टपाहुड़ में है। चारों ओर से देखो तो एक ही सिद्धान्त खड़ा होता है। आहा...हा...!

कल अर्थावबोध कहा था। यहाँ अर्थ का अवबोध ज्ञान लिया है। ज्ञान की प्रधानता से बात की है। वरना तो अनन्त गुण वे भेद हैं, उन्हें द्रव्य छूता नहीं। सामान्य, विशेष को छूता भी नहीं। आहा...हा...! अभी गुण-विशेष है, पर्याय विशेष बाद में आयेगा। आहा...हा...!

भले ही थोड़ा हो परन्तु सत्य होना चाहिए। बड़ी-बड़ी विद्वत्ता की बातें करे और लोक को रंजन करे! भाई! उसमें तेरा जन्म-मरण नहीं मिटेगा, प्रभु! तेरी देह छूटने का समय आयेगा, इसी भव में आयेगा। आहा...हा...! इसी भव में आयेगा - ऐसा कहा। फिर चाहे जिस समय (आवे)। (देह) छूटेगी ही। देह और (आत्मा) दोनों भिन्न चीजें हैं। एक क्षेत्रावगाह में हैं तो भी भिन्न चीज है। परन्तु एक क्षेत्रावगाह से भिन्न पड़े, तब लोगों को ऐसा लगता है कि यह भिन्न हुई। एक क्षेत्र में रही हुई भिन्न चीजें हैं। आहा...हा...!

पुण्य का राग हो, उसे व्यभिचार कहा है। निर्जरा अधिकार में, भाई! अनियत आया है न? एक, अनेक, व्यभिचारी... आहा...हा...! तेरे नाथ को तूने देखा, अनुभवा नहीं और तूने राग को अनुभवा तो तूने व्यभिचार किया। आहा...हा...! संयोगी भाव का वेदन किया और उसमें तू अटका है, प्रभु! तूने व्यभिचार किया। जैसे, व्यभिचारी स्व स्त्री को छोड़कर परस्त्री का संग करता है; वैसे यह राग परवस्तु है। आहा...हा...! तीन लोक का नाथ

सच्चिदानन्द प्रभु! आनन्द की मूर्ति, उस दु:ख को वेदे और दु:ख में आवे... आहा...हा...! यहाँ तो (कहते हैं) यह बात तो छोड़ दे! आखिर में आखिर का तत्त्व है यह!

यह अर्थावबोध अर्थात् पदार्थ के गुण, वे जिसके नहीं हैं। पदार्थ के गुण, वे जिसके नहीं हैं... यह क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर! कहते हैं कि यह द्रव्य जो है, वह आनन्द आदि विशेषों को स्पर्शता नहीं। अरे...रे! ऐसी बातें! (समयसार की) तीसरी गाथा में ऐसा कहा कि प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म को स्पर्श करता है - ऐसा शब्द है। परमाणु भी उसके द्रव्य-गुण और पर्याय को स्पर्श करता है; आत्मा भी अपने गुण-पर्याय को (स्पर्श करता है) फिर भले राग आदि हो परन्तु वह अपना धर्म है; इसलिए अपने में है। उसे वह स्पर्शता है परन्तु पर को स्पर्शता नहीं।

अब, यहाँ तो अभी वहाँ से आगे ले गये। आहा...हा...! वहाँ तो दूसरे से भिन्न करने की बात की। अब यहाँ तो गुणी के गुण का भेद उससे - भेद से भी तू रहित है। आहा...हा...! ऐसी बातें! ऐसा उपदेश, बेचारे छोटे बालक हों, (उसने) सुना भी न हो, सुनने के लिये कभी निवृत्त न (हो)। अरे...रे! भाई! तेरे घर की बातें हैं। भाई! आहा...हा...!

कहते हैं कि वस्तु जो गुणी-द्रव्य है, वह पदार्थ विशेष जो है, उसे स्पर्शती नहीं। **वह जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है;...** लिंग अर्थात् गुण, उन्हें स्पर्शता नहीं, ग्रहता नहीं; इसलिए अलिंगग्रहण है। लिंग अर्थात् गुण, उन्हें ग्रहता नहीं; इसलिए अलिंगग्रहण है। आहा...हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु! आहा...हा...! देव-गुरु की भक्ति करें तो ऐसा हो जाये, देव की भक्ति करें तो (कल्याण हो जाये - ऐसे माननेवाले को) यह कैसे जँचे ? और उसे ऐसा लगे कि यह एकान्त है, यह अनेकान्त मार्ग नहीं है, वह ऐसा कहे। अनेकान्त अर्थात् यह कि द्रव्य, विशेष को-गुण को स्पर्शता नहीं, इस प्रकार है और स्पर्शता है - ऐसा नहीं। स्पर्शता है - ऐसा नहीं, स्पर्शता नहीं - ऐसा है। आहा...हा...!

आहा...हा...! (गुण विशेष से) **नहीं आलिंगित ऐसा शुद्धद्रव्य है...** ज्ञायक स्वभाव शुद्ध द्रव्य है। वह द्रव्य सामान्य है, वह उसके गुणविशेष हैं, उन्हें छूता नहीं, ग्रहता नहीं। वह गुण, उस गुणी में नहीं। आहा...हा...! भगवान! यह तेरे घर की बातें हैं, प्रभु! ऐसी बातें सुनने को मिलना मुश्किल पड़े ऐसा है। आहा...हा...! जैन वीतराग तीन लोक के नाथ

पुकार करके कहते हैं, वह सन्त जगत को जाहिर करते हैं, ये सन्त आढ़तिया हैं। आहा...हा...!

प्रभु! तू द्रव्य है न? यह द्रव्य जो वस्तु है; द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हाँ! आहा...हा...! यह प्रश्न आया था न? 'द्रव्यदृष्टि, वह समकित दृष्टि' है न अन्दर? एक मन्दिरमार्गी (व्यक्ति) आया था, वह कहता था महाराज! यह 'द्रव्यदृष्टि, वह सम्यग्दृष्टि' (अर्थात्)? वह जाने कि यहाँ पैसेवाले बहुत आते हैं; इसलिए (उसे ऐसा लगा कि यह द्रव्यदृष्टि-पैसेवाले वे सम्यग्दृष्टि)। भाई! यहाँ पैसेवाले का क्या काम है? लिखा हुआ था न? पहले ऊपर था अब ऐसे आया। द्रव्यदृष्टि वह समकित दृष्टि-द्रव्य अर्थात् वस्तु, प्रभु! उसकी दृष्टि वह सम्यग्दृष्टि है, उसकी दृष्टि सच्ची है। आहा...हा...! द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं। आहा...हा...! द्रव्य अर्थात् कर्म द्रव्य नहीं। आहा...हा...! यह तो चैतन्य द्रव्य भगवान! ऐसी परिपूर्ण अभेद चीज है, उसकी दृष्टि करनेवाले को भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसमें भेद है नहीं। आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें हैं।

इस प्रकार 'आत्मा.... है? **गुणविशेष से नहीं आलिंगित....** गुणविशेष से (लिखा है) देखा? गुणविशेष है न? द्रव्य है, वह सामान्य है और गुणविशेष भेद पड़ा। **गुणविशेष से नहीं आलिंगित....** सामान्य ऐसा जो भगवान आत्मा, गुण के भेद के विशेष से नहीं आलिंगित। गुण के भेद के विशेष से नहीं स्पर्शता — **ऐसा शुद्ध द्रव्य है...** अभी ऐसा सब सुनने को मिले ऐसा नहीं है, बापू! ऐसा फेरफार हो गया है, क्या करें? आहा...हा...! तीन लोक के नाथ की पुकार है! आहा...हा...! उसे सन्त जाहिर करते हैं।

प्रभु! तू द्रव्य है न! वह द्रव्य है, उसके गुण के भेदों का विचार करके छूए, वह तुझमें है नहीं, कहते हैं। ओहो...हो...! इस गुण विशेष से (नहीं आलिंगित)... आहा...हा...! राग-विशेष से, निमित्त के विशेष से तो प्रश्न है ही नहीं। आहा...हा...! गुण विशेष से नहीं स्पर्शित... आलिंगित अर्थात् नहीं स्पर्शता। गुण के भेद के विशेष को नहीं छूता, नहीं आलिंगन करता। आहा...हा...! यहाँ तो अभी (ऐसा मानते हैं कि) शरीर को आलिंगन करता हूँ, लड़के को चुम्बन करता हूँ... अरे प्रभु! क्या करता है तू? यह चुम्बन (करने में) तेरा मुँह उसके गाल को स्पर्श भी नहीं करता। समझ में आया? आहा...हा...! तुझे भ्रम होता है कि मैं इस लड़के को ऐसे चुम्बन करता हूँ।

यहाँ तो प्रभु जो द्रव्य-वस्तु है... आहा...हा... ! वह गुण के विशेषों को आलिंगन – स्पर्श नहीं करता। आहा...हा... ! क्योंकि दृष्टि जहाँ द्रव्य पर पड़ी, तब उसके गुणभेद है, वे दिखते नहीं। आहा...हा... ! भाषा तो सादी है, प्रभु ! तेरे घर की बात है, नाथ ! आहा...हा... ! द्रव्य से तो सभी साधर्मी हैं। आहा...हा... ! तू किसे ऊँच-नीच गिनेगा ? कहते हैं। आहा...हा... ! यह द्रव्य है, वह गुण के विशेष को स्पर्शता नहीं, ऐसा इसका द्रव्य है, ऐसा तेरा द्रव्य है। आहा...हा... !

ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। लो ! क्या कहा ? **इस प्रकार 'आत्मा गुणविशेष से...** (अर्थात्) गुण के भेदों को **आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है'...** आहा...हा... ! दृष्टि में अकेला शुद्ध द्रव्य तैरता है, कहते हैं। भाई ! ऐसी बातें हैं। आहा...हा... ! यह अठारहवाँ बोल (पूरा) हुआ।

१९, **लिंग अर्थात् पर्याय...** अब यह दूसरा बोल आया... पहला गुण था। अब लिंग अर्थात् पर्याय। आहा...हा... ! **ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोधविशेष....** अर्थात् सभी गुणों की पर्याय विशेष। सभी गुणों की पर्यायविशेष, **वह जिसके नहीं है,...** आहा...हा... ! अनन्त गुणों की निर्मल पर्याय, वह जिसके नहीं। अर..र ! यहाँ तो अभी स्त्री मेरी, पुत्र मेरे (– ऐसा मानता है)। कहाँ पिल गया ? प्रभु ! यह क्या हुआ तुझे ? आहा...हा... !

लिंग अर्थात् पर्याय-अवस्था। **ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध....** पदार्थ की, गुण की विशेषता। अर्थावबोध अर्थात् अर्थ का – पदार्थ का अवबोध अर्थात् ज्ञान आदि विशेष। अनन्त गुण की विशेष पर्यायें, जिसे नहीं। राग जिसे नहीं, शरीर जिसे नहीं, कर्म जिसे नहीं, स्त्री-पुत्र जिसे नहीं... आहा...हा... ! परन्तु जिसे पर्याय नहीं। क्योंकि पर्याय, द्रव्य को स्पर्शती नहीं; पर्याय ऊपर-ऊपर रहती है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बातें, भाई ! अभी तो यह भक्ति करो और दया पालो, व्रत करो और उपवास करो... आठ दिन किया करो। इस दिगम्बर में दस दिन गड़बड़ उठे। यह व्रत पाले और इतने यह किये और यह किया और प्रतिमा ली तथा दीक्षा ली है न... किसकी दीक्षा ? बापू ! आहा...हा... ! अभी अन्तर द्रव्य / वस्तु जो है, वह भेदरहित चीज है, उसकी दृष्टि हुई नहीं, इसके बिना तेरे व्रत और तप आये कहाँ से ? आहा...हा... ! वे तो बालव्रत और बालतप हैं।

यहाँ कहते हैं, **लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण,....** ग्रहण अर्थात् ? कि गुणों

की जो पर्याय विशेष। **वह जिसके नहीं...** आहा...हा... ! गुण जिसके नहीं परन्तु गुण की पर्याय है, वह जिसके नहीं, आहा...हा... ! **वह अलिंगग्रहण है;....** पर्याय, द्रव्य में नहीं आहा...हा... ! ऐसा वीतराग जैनधर्म, बापू ! (यह बात) जैनधर्म के सिवाय कहीं है नहीं। आहा...हा... ! और वह भी अभी तो सम्प्रदाय में बहुत फेरफार हो गया, क्या हो ? नास्ति से ऐसी बात है, वरना अस्ति से कहें तो यह है। आहा...हा... !

वस्तु है, पूर्णानन्द का तत्त्व है न ? आत्मतत्त्व पदार्थ है न ? वह पदार्थ जो द्रव्य है, वह उसकी वर्तमान अवस्था निर्मल आदि, हाँ ! आहा...हा... ! परन्तु वह पर्याय, द्रव्य में नहीं। आहा...हा... !

प्रश्न – वह कहाँ से आती है ?

समाधान – आती है अध्धर से ! व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि द्रव्य में से आती है। वास्तव में द्रव्य में से पर्याय आवे तो समान पर्याय आनी चाहिए। यह क्या कहा ? द्रव्य है, वह तो त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु पूर्ण है, उसमें से पर्याय आवे तो पर्याय समान आनी चाहिए परन्तु (एक) सरीखी नहीं आती, इसलिए उसमें से नहीं (आती) परन्तु पर्याय स्वतन्त्र आती है। आती है तो उसमें से परन्तु पर्याय की हीनाधिक अवस्था (होती है)। एकरूप अवस्था नहीं इसका अर्थ क्या ? वस्तु तो एकरूप त्रिकाल है तो त्रिकाली एकरूप में से पर्याय आवे तो उसके समान आनी चाहिए और यह तो हीनाधिक आती है – इसका अर्थ क्या ? अर्थात् वास्तव में तो पर्याय, द्रव्य को स्पर्शती नहीं, वह पर्याय स्वतन्त्र आती है। ऐसी बातें ! अरे... प्रभु ! आहा...हा... ! भविभागन जोग वीतराग की वाणी आती है ! आहा...हा... !

बापू ! वास्तविकता तो यह है। अरे ! देह छूट जायेगी, यह भटकता-भटकता कहाँ जायेगा ? आहा...हा... ! मिथ्यात्वभाव है, वहाँ आँधी का तिनका उड़कर कहाँ गिरेगा ? ऐसे जिसे मिथ्यात्वभाव है कि पर्याय जितना मैं, राग वह मैं... आहा...हा... ! ऐसा मिथ्यात्वभाव, वह उड़कर कहाँ भटकेगा बापू ! कहाँ जायेगा ? चौरासी की पाठ पड़ी है। आहा...हा... ! इसे उघड़ना हो तो नाथ ! द्रव्य को पर्याय छूती नहीं – ऐसा निर्णय कर ! आहा...हा... !

आ...हा... ! **अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है,....** (अर्थात्) पर्याय जिसके नहीं। आहा...हा... ! पर्याय, पर्याय में है; पर्याय, द्रव्य में नहीं। आहा...हा... !

मुमुक्षु – पर्याय, द्रव्य में से आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री – भले आती है द्रव्य में से परन्तु यदि वास्तव में द्रव्य में से (आती हो तो सभी पर्यायें) समान आनी चाहिए। इस अपेक्षा से पर्याय स्वतन्त्र होकर आती है। दूसरी भाषा से कहें तो पर्याय कर्ता की स्वतन्त्ररूप से पर्याय होती है। पर्याय में षट्कारक हैं या नहीं ? कर्ता स्वतन्त्ररूप से पर्याय करता है। वह द्रव्य का आश्रय (ले), इसलिए वह परावलम्बी नहीं। लक्ष्य जाता है वहाँ (द्रव्य पर) समझ में आया ? निर्मल पर्याय होने में (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होने में लक्ष्य द्रव्य पर जाता है परन्तु वह पर्याय स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य जाता है। आहा...हा... ! पर्याय को द्रव्य का आश्रय है; इसलिए पराधीन है – ऐसा नहीं है। अरे... ! ऐसी बातें हैं। (अभी तो लोगों ने) मार्ग को बाड़े में बाँध दिया है। बकरा बाड़े में बँधता है। सिंह का वाड़ा होता है ? आहा...हा... ! सिंह का पैर टूट गया हो तो भी गौशालावाले उसे नहीं रखते। आहा...हा... ! वैसे ही अन्दर तीन लोक का नाथ गरजता सिंह ! द्रव्यस्वभाव जो पूर्णानन्द से भरपूर ! कहते हैं कि वह द्रव्य, पर्याय को स्पर्शता नहीं। आहा...हा... ! अभी इससे उल्टी बात आयेगी, हाँ ! आहा...हा... ! १८, १९, २० (बोल में तो) गजब बात है ! यह १८, १९ और २० तीन बोल (गजब है।) आहा...हा... !

अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं.... जिस द्रव्य को पर्यायविशेष नहीं। **जिसके नहीं है, सो अलिंगग्रहण है;....** पर्याय, लिंग है वह, जिसके नहीं, वह अलिंगग्रहण है। आहा...हा... ! पकड़ में आता है पर्याय से; समझ में आया ? परन्तु पकड़नेवाली चीज में पर्याय नहीं। आहा...हा... ! क्या कहा ? पर्याय से (द्रव्य) पकड़ में आता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय से द्रव्य को पकड़ते हैं तो भी वह पर्याय, द्रव्य में नहीं है। आहा...हा... ! सामान्य है, उसे अन्दर पर्याय विशेष कहाँ आयी ? विशेष, विशेष में रहा; सामान्य, सामान्य में रहा। आहा...हा... ! कहो भाई ! ऐसा है बापू ! 'रसिक ज्यों रैन का सपना, प्रभु तेरा कोई नहीं अपना, रसिक ज्यों रैन का सपना, प्रभु तेरा कोई नहीं अपना।' पर्याय तेरी नहीं, नाथ ! आहा...हा... !

जिसे दृष्टि द्रव्य पर पड़ी है, वह दृष्टि (की) पर्याय भी उसमें नहीं है। पानी के दल पर जैसे तेल की बूँद ऊपर-ऊपर रहती है, अन्दर प्रवेश नहीं करती। आहा...हा... !

वैसे आनन्द का नाथ पूर्णानन्द का दल अन्दर है, उसमें पर्याय का प्रवेश नहीं है। भाई! ऐसा वहाँ सुनने का नहीं, भावनगर में (अभी) निश्चिन्त पड़े हैं। बापू! मार्ग यह है भाई! आहा...हा...!

पर्याय जिसके नहीं अर्थात् कि **इस प्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेष से....** पहला (अठारहवाँ बोल) गुण विशेष से था (यहाँ) पर्याय भेद से **आलिंगित न....** पर्याय के विशेष से प्रभु आलिंगित है ही नहीं। आहा...हा...! पर्याय को द्रव्य छूता नहीं, आलिंगन करता नहीं। आहा...हा...! (समयसार की) तीसरी गाथा में ऐसा कहते हैं कि अपने धर्म को स्पर्श करता है। वह तो पर से पृथक् करने की अपेक्षा से (कहा है)। अब, इसी इसी में जहाँ (कहना) है (वहाँ ऐसा कहते हैं) कि द्रव्य, पर्याय को आलिंगन नहीं करता। आहा...हा...! भाई! यह कोई बातों से बड़ा हो ऐसा नहीं है। अन्दर यह वस्तु है। आहा...हा...!

इस प्रकार अलिंगग्रहण है। **इस प्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है'....** दोनों में ऐसा लिया। **'गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है'.... 'पर्याय-विशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है'....** गुण के भेद को नहीं छूता — ऐसा शुद्धद्रव्य है, पर्याय के विशेष को नहीं स्पर्शता – ऐसा द्रव्य है। आ...हा...!

एक कुल्हाड़ी, लकड़ी को छोलती है न? तो वह कुल्हाड़ी, लकड़ी को छूती नहीं, यह कैसे जँचे? वह कुल्हाड़ी भिन्न है, लकड़ी छिलती है, वह अपनी पर्याय से छिलती है। (कुल्हाड़ी) उसे छूती भी नहीं। अब, यह बात न जँचे, उसे पर्याय, द्रव्य को छूती नहीं (यह कब जँचेंगी)? आहा...हा...!

यह हाथ है, देखो! ऐसा होता है यह कहते हैं, इस गाल को हाथ छूता भी नहीं। ऐसा गड्ढा पड़ा न? देखो न! ऐसा... ऐसा... तो कहते हैं अंगुली उसे छूती नहीं और खड्डा पड़ा है। उसकी अपनी पर्याय का वह काल है तो उस प्रकार हुआ है, अंगुली के कारण नहीं, अंगुली तो उसे छूती भी नहीं, प्रभु! (यह) स्थूल बात न जँचे, उसे द्रव्य, पर्याय को छूती नहीं (यह कैसे जँचे)।

ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। अब इससे उल्टा लेंगे। (यह) तीन बोल बहुत सूक्ष्म हैं। आहा...हा...!

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण.... बीसवाँ बोल, यह अन्तिम बोल है। **लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण....** प्रत्यभिज्ञान अर्थात्? यह है, कल था, वह यह है और यह है, वह यह रहेगा – ऐसा जो ध्रुव। **प्रत्यभिज्ञान का कारण....** प्रत्यभिज्ञान अर्थात् अभी है, वह पहले था और रहेगा — ऐसा प्रत्यभिज्ञान अर्थात् था, वह यह है – ऐसा जो **प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य...** आहा...हा... ! जिसे पर्याय के वेदन में द्रव्य का सामान्य, वहाँ छूता नहीं।

पहले ऐसा कहा था कि द्रव्य, पर्याय को छूता नहीं। अब यहाँ पर्याय में द्रव्य सामान्य वह स्वयं पर्याय को स्पर्शता नहीं। आहा...हा... ! यहाँ वेदन की अपेक्षा से बात लेनी है। क्या कहना है? कि जो **लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य....** अर्थात् द्रव्य। अर्थात् कि पर्याय में – वेदन में वह द्रव्य नहीं है। आहा...हा... ! दृष्टि द्रव्य के ऊपर है, तथापि वेदन में वह द्रव्य नहीं आता; वेदन में पर्याय वेदन में आती है। ध्रुव का वेदन हो? दृष्टि ध्रुव पर है तो भी यहाँ वेदन की अपेक्षा से बात ली है। दृष्टि ध्रुव पर होने पर भी वेदन में ध्रुव नहीं आता। समझ में आया? आहा...हा... !

जिनेश्वर के पन्थ में यह बात है। बापू! अन्यत्र कहीं है नहीं। आहा...हा... !

मुमुक्षु – कुन्दकुन्दाचार्यदेव के पन्थ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री – आहा...हा... ! भले दूसरे सन्तों ने भी गौणरूप से (बात की है) मुख्यरूप से यह कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य। दूसरे आचार्यों ने भी गौणरूप से करणानुयोग, चरणानुयोग में बात डाली है। आहा...हा... !

प्रश्न – पर्याय किसे वेदती है?

समाधान – पर्याय, पर्याय को वेदती है।

यहाँ तो यह कहते हैं... आहा...हा... ! **लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण...** अर्थात् कायम रहनेवाली चीज – ध्रुव द्रव्य, **ऐसा जो ग्रहण...** अर्थात् कायम रहनेवाली ध्रुव चीज। यह **अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है,** उस पर्याय में द्रव्य नहीं। समझ में आया?

पहले (आया) था कि द्रव्य में पर्याय नहीं। अब यहाँ कहते हैं पर्याय में द्रव्य नहीं आता। जो वेदन है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन जो सम्यग्दर्शन में है, समकित का वेदन है, ज्ञान का वेदन है, अनन्त गुण का जो प्रगट-व्यक्त वेदन है, उस पर्याय में द्रव्य आता नहीं। उस द्रव्य का वेदन होता नहीं। आहा...हा...! गजब काम किया है न!! यह वेदन कौन सा? यहाँ निर्मल पर्याय की बात है, हाँ! आहा...हा...! राग और पुण्य की बातें यहाँ है ही नहीं। आहा...हा...! निर्मल पर्याय वेदन है वह आत्मा है - ऐसा कहते हैं। देखा?

लिंग अर्थात् प्रत्यभि अर्थात् कायम रहनेवाले ज्ञान को जाननेवाला-कायम रहनेवाले को जाननेवाला ज्ञान, ऐसा जो ग्रहण वह अर्थावबोध सामान्य अर्थात् द्रव्य। (अर्थावबोध अर्थात्) अर्थ — पदार्थ का अवबोध, सामान्य अर्थात् द्रव्य। **वह जिसके नहीं....** आहा...हा...! पहले ऐसा कहा था कि द्रव्य में पर्याय नहीं। अब, इस वेदन की पर्याय में द्रव्य नहीं आता। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन-ज्ञान धर्म का वेदन जो है, वह वेदन पर्याय का वेदन है। पर्याय के वेदन में ध्रुव नहीं आता; ध्रुव का वेदन नहीं हो सकता। आहा...हा...! भाई! वहाँ कलकत्ता में सुना है? रुपयों का सुना है। आहा...हा...! यह तो तेरे घर की बातें हैं, प्रभु! आहा...हा...! आठ वर्ष का बालक हो, (वह) भी ऐसा अनुभव कर सकता है, उसे उम्र की कुछ आवश्यकता है नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं द्रव्य, वह जिसे नहीं। द्रव्य, वह जिसे नहीं। पर्याय के वेदन में द्रव्य उसे नहीं। आहा...हा...! दृष्टि द्रव्य पर होने पर भी, दृष्टि की पर्याय के वेदन में द्रव्य आता नहीं। आहा...हा...! क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन की पर्याय का ध्येय तो द्रव्य है, तथापि उस पर्याय के वेदन में द्रव्य आता नहीं। पर्याय में उसका जो सामर्थ्य है, उसका ज्ञान होता है और वेदन में वह पर्याय वेदन में आती है। अनुभव में पर्याय वेदन में आती है। अनुभव में द्रव्य अनुभव में आता है - ऐसा नहीं। आहा...हा...! गजब बात की है न?

देखो! यहाँ (ऐसा कहा) पर्याय जिसे नहीं... द्रव्य सामान्य जो ध्रुव है, वह पर्याय में आता नहीं अर्थात् वेदन में द्रव्य आता नहीं अर्थात् अनुभव में ध्रुव आता नहीं। दृष्टि ध्रुव के ऊपर है। आहा...हा...! तो भी ध्रुव वेदन में नहीं आता। आहा...हा...! त्रिकाली भगवान

पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु, वह दृष्टि का विषय है और दृष्टि वहाँ है, तथापि वह दृष्टि वहाँ होने पर भी उसका वेदन पर्याय में नहीं आता। पर्याय का वेदन पर्याय में होता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू!

यह तो प्रवचनसार है, वीतराग की दिव्यध्वनि का सार! तीन लोक के नाथ परमात्मा! आहा...हा... ! वे सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं कि त्रिकाली वस्तु जो ध्रुव है, अभेद है, दृष्टि और ज्ञान की पर्याय का वहाँ लक्ष्य है, तथापि वह लक्ष्य वेदन में नहीं आता। लक्ष्य को वेदता नहीं। आहा...हा... ! वेदन में तो पर्याय आती है। अतीन्द्रिय आनन्द आया, समकित आया, अनन्त गुण की दृष्टि द्रव्य पर पड़ने पर द्रव्य (में) जितने गुण हैं, उनका एक अंश व्यक्तरूप से पर्याय में आया। उस पर्याय का वेदन है, ध्रुव का नहीं। आहा...हा... ! ध्रुव तो मात्र दृष्टि का विषय है परन्तु ध्रुव का वेदन नहीं। आहा...हा... !

प्रश्न – पर्याय तो क्षणिक है न ?

समाधान – पर्याय क्षणिक है, उसका ही वेदन है। ध्रुव का वेदन होगा ? ध्रुव कहाँ पर्याय में आता है ? आहा...हा... ! पर्याय क्षणिक है, वही वेदन है। यहाँ तो अभी विशेष कहेंगे।

क्या कहते हैं ? देखो! **लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात्....** सामान्य द्रव्य, **जिसके नहीं है,....** वह पर्याय में नहीं, वेदन में नहीं। आहा...हा... ! अरे ऐसी बातें!

यहाँ तो कहते हैं कि दृष्टि द्रव्य के ऊपर-ध्रुव के ऊपर होने पर भी, वेदन में ध्रुव नहीं आता, वेदन में पर्याय आती है – इतनी भिन्नता बतलानी है। पहले उन्नीस (वें बोल में) ऐसा था कि पर्याय, द्रव्य में नहीं है। यहाँ कहते हैं कि द्रव्य, पर्याय में नहीं आता, द्रव्य का वेदन नहीं; वेदन पर्याय का है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो प्रगट हुए, वह पर्याय प्रगट हुई है द्रव्य के आश्रय से, परन्तु वे द्रव्य के आश्रय से होने पर भी, उस पर्याय का वेदन है; द्रव्य का वेदन नहीं। ऐसी बातें हैं।

आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई! किस प्रकार कहते हैं ? यह बीसवाँ बोल है। फिर नय का लेंगे, हाँ! पाँच बोल (के लिये) किसी का पत्र था नय लेना है, ४७ नय। उसमें विशेष है। भले ही अभी बारह महीने पहले आ गया है, बारह महीने पहले नय,

शक्ति, अलिंगग्रहण सब आ गया है। चार महीने के व्याख्यान में (आ गया है)। परन्तु जब करो तब कुछ नवीन चीज-बात आती है! समझ में आया? अब तो पाँच दिन रहे न? आज पाँचवाँ दिन है। क्या कहा?

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण अर्थात् द्रव्य। ऐसा जो द्रव्य का ग्रहण अर्थात् द्रव्य का ग्रहण पर्याय में नहीं; वेदन में द्रव्य का वेदन नहीं। आहा...हा...! द्रव्य पर दृष्टि होने पर भी वेदन द्रव्य का नहीं। कितनी स्वतन्त्रता! ओ...हो...हो...! अर्थावबोध ऐसा जो द्रव्य, वह पर्याय में नहीं। जिसे अर्थात् पर्याय को नहीं, वह अलिंगग्रहण है। आहा...हा...! क्या कहा?

लिंग अर्थात् द्रव्य। लिंग अर्थात् द्रव्य, वह पर्याय में नहीं। अलिंगग्रहण! लिंग अर्थात् द्रव्य - ऐसा आया न? लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा द्रव्य। ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध द्रव्य, वह पर्याय में नहीं। वेदन में (द्रव्य) नहीं, वेदन में तो पर्याय का वेदन है। आहा...हा...! केवली को भी वेदन है, वह पर्याय का वेदन है। आहा...हा...! ऐसे धर्मी जीव को दृष्टि द्रव्य पर होने पर भी पर्याय का वेदन है, द्रव्य का नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। लोगों को कठिन लगती है।

अरे... भाई! जन्म-मरण के दुःख... आहा...हा...! वादिराज (मुनि) तो कहते हैं - मुनि हैं, भावलिंगी सन्त हैं। शरीर में कुष्ठ था न? फिर प्रभु से कहते हैं प्रभु! इसकी क्या बात करूँ? अतीत काल के दुःखों को याद करता हूँ तो छर्रे की चोट लगी ऐसा लगता है। आहा...हा...! अनन्त... अनन्त दुःख! नरक के निगोद के अनन्त काल (निकाला), उसमें तू वर्तमान में कहाँ भ्रमा गया? प्रभु! त्रिकाली ज्ञायक भगवान को भूलकर तू क्या करता है? परन्तु इस भगवान को दृष्टि में लेने पर भी उस द्रव्य का वेदन नहीं। पर्याय के वेदन में द्रव्य का वेदन नहीं... पर्याय के वेदन में द्रव्य आता नहीं। जिसके नहीं (अर्थात्) पर्याय में द्रव्य जिसके अर्थात् पर्याय के नहीं। आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित.... भाषा देखो! आत्मा, द्रव्य को नहीं छूता, ध्येय होने पर भी, पर्याय, द्रव्य को नहीं छूती और द्रव्य, पर्याय में नहीं आता। आहा...हा...! पर्याय में, द्रव्य का जितना है, उतना ज्ञान पूरा आया, प्रतीति में पूर्ण आया परन्तु उस पर्याय में द्रव्य आया नहीं; वेदन में द्रव्य आता नहीं। आहा...हा...!

इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं.... स्पर्शता। आहा...हा...! यह आत्मा, द्रव्य से नहीं स्पर्शता (ऐसा) **शुद्ध पर्याय है....** आत्मा, द्रव्य से नहीं स्पर्शता (– ऐसी) शुद्ध पर्याय आत्मा है। समझ में आया? ऐसी बातें हैं बापू! **'आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित....** भगवान आत्मा, द्रव्य को नहीं छूता, नहीं स्पर्शता; ध्येय होने पर भी (नहीं स्पर्शता), पर्याय का ध्येय वहाँ होने पर भी वह द्रव्य, पर्याय को नहीं छूता; पर्याय में नहीं आता। वह द्रव्य नहीं आता। आहा...हा...! जितना द्रव्य है, उतनी सामर्थ्य का ज्ञान आया, वह ज्ञान उसके कारण नहीं आया। समझ में आया? जो स्व-पर प्रकाशक पर्याय प्रगट हुई, (उसका) ध्येय तो ध्रुव द्रव्य का है तो भी ध्रुव उस पर्याय में नहीं आया। जो प्रगट पर्याय हुई है, वह वेदन की है, वह आत्मा, शुद्धपर्यायरूप है, वेदन में वह द्रव्यरूप नहीं। भाई! ऐसा कभी वहाँ सुना नहीं... गजब की बात है! तीन लोक के नाथ की पुकार है।

तुझे दृष्टि में अभेद द्रव्य ही है तो भी दृष्टि है, उसमें द्रव्य नहीं आता... दृष्टि के वेदन में, ज्ञान के वेदन में द्रव्य नहीं आता। आहा...हा...! **'आत्मा, द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है'....** आत्मा, शुद्धपर्याय है! वेदन में आया उतना आत्मा, शुद्धपर्याय है। **ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**

विशेष आयेगा.....

प्रवचन नं. १८३ भाद्र शुक्ल १०, शनिवार, ०१ सितम्बर १९७९

यह बीसवाँ बोल थोड़ा (फिर से लेते हैं।) बीसवाँ बोल है न? सूक्ष्म है। कल चला था, परन्तु (एक भाई ने) कहा कि थोड़ा (फिर से) लेना। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह आत्मा जो है, यह ध्रुव जो द्रव्य है द्रव्य, आहा...हा...! उसका ध्येय करके दृष्टि होने से दृष्टि का विषय द्रव्य को बनाकर... आहा...हा...! जिस पर्याय (में) द्रव्यदृष्टि हुई तो पर्याय में आनन्द का वेदन आये बिना रहता नहीं। आहा...हा...! जहाँ वस्तु एक समय में परिपूर्ण है, उसकी दृष्टि हुई, शुरुआत (हुई) – यह धर्म की शुरुआत है। ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वे कहीं धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। आहा...हा...!

देखो! कैसे कहते हैं? वे नियतवाद स्थापते हैं। यह सब वस्तु छूट गयी (और)

अकेला शरीर रहा, इतनी आकुलता घट गयी – ऐसा नहीं है। संयोग नहीं, इसलिए आकुलता घट गयी – ऐसा नहीं है। अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान की दृष्टि होने पर, उसका ज्ञान होने पर, उसमें एकाग्रता होने पर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान पर्याय प्रगट हो, उसमें कहते हैं कि जो ध्रुव का ध्येय किया तो उसका परिणाम पर्याय में क्या आया? कठिन बात, भाई! जैनधर्म बहुत सूक्ष्म है।

आहा...हा...! आत्मा वस्तु द्रव्य है। है? बीसवाँ बोल फिर से लेते हैं। **लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण.....** अर्थात् कि त्रिकाली ध्रुव। आहा...हा...! उत्पाद-व्यय की जो पर्याय है, उससे रहित ध्रुव। वह **प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य....** अर्थात् कि द्रव्य, जो ध्रुव वस्तु है, उसकी जिसने दृष्टि की है, उसे वह द्रव्यस्वभाव जो है, वह वेदन में नहीं आता। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत, भाई!

अभी तो यह बाहर का छोड़ो... बाहर का छोड़ो (-यही उपदेश चलता है), परन्तु बाहर का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। बाहर का त्याग और बाहर का ग्रहण, वह तो स्वरूप में है ही नहीं। आहा...हा...! यह वस्तु... कहते हैं, प्रभु! ध्रुव है और उस ध्रुव का ध्यान होकर, ध्येय बनाकर जब पर्याय में सम्यग्दर्शन हुआ, तब उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् आननद का वेदन हुआ, वह आत्मा है। आहा...हा...!

ध्रुव का ध्येय बनाया, सम्यग्दर्शन। प्रथम त्रिकाली द्रव्य को ध्येय बनाया, तब पर्याय में क्या हुआ? कि पर्याय में आनन्द आया; पर्याय में, अनन्त गुण जो हैं, उनकी शक्ति में से प्रत्येक गुण का अंश व्यक्ति/व्यक्तता प्रगट हुई और वह प्रगट हुई, उसमें आनन्द आया। उस ध्रुव का ध्येय किया तो उसके परिणाम में उसे आनन्द आना चाहिए। ऐसे के ऐसे ध्रुव को पकड़ा, ज्ञायक है... ज्ञायक है... ऐसे नहीं, कहते हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई!

लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, ऐसा जो ग्रहण अर्थात् द्रव्य-वस्तु, ज्ञायकभाव परमपारिणामिक ध्रुव नित्यानन्द प्रभु भाव, उसका ध्येय बनाकर जो दृष्टि हुई और ज्ञान हुआ, उसमें उसे आनन्द का वेदन हुआ, वह आत्मा उसे छूता भी नहीं। आनन्द के वेदन में आत्मा का द्रव्य आता नहीं। आहा...हा...! बहुत (कठिन) बात, बापू!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि भाई! द्रव्य-वस्तु भगवान है, उसका आदर किया, स्वीकार किया, सत्कार किया, अस्ति की रुचि हुई, परम अस्ति तत्त्व है, उसकी दृष्टि हुई तो दृष्टि के परिणाम में आवे क्या? आहा...हा...! समझ में आया? वह **अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं....** आहा...हा...! आत्मा को वेदन में अर्थावबोध द्रव्य है नहीं। अरे...! अरे...! ऐसी बातें हैं। समझ में आया?

जो वर्तमान पर्याय है, उसे द्रव्य की ओर ढालने पर, द्रव्य की ओर झुकाने पर, कहते हैं कि वह द्रव्य है, वह वेदन में नहीं आता। वेदन में तो उसकी पर्याय आती है। शान्त, आनन्द, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति, चारित्र, आनन्द की पर्याय वेदन में आती है। आहा...हा...! यह चौथे गुणस्थान की बात है। अभी तो समकित किसे कहते हैं, इसका पता नहीं होता और समकित होवे तो कहते हैं कि उसकी दृष्टि का ध्येय वह वहाँ द्रव्य पर है, परन्तु द्रव्य पर दृष्टि हुई, उसे परिणाम में कुछ अन्तर पड़ा या नहीं? अनादि का राग और पुण्य-पाप के विकल्प का वेदन था; उसे द्रव्य पर दृष्टि हुई तो वेदन में कुछ अन्तर पड़ा या नहीं? और वेदन में अन्तर न पड़े तो दृष्टि ध्रुव पर है ही नहीं। आहा...हा...! भाई! आहा...हा...! वस्तु ऐसी है।

अभी तो सब गड़बड़ ऐसी चली है। वह नियतवाद स्थापित करते हैं। बड़ा लेख (आया है)। सब नियत है, नियत है अर्थात् कि यह जो सब चीजें हैं, इनसे रहित हो जाना, एक शरीरमात्र परिग्रह रहे... परन्तु वह शरीर रहित ही है। जो चिदानन्द ज्ञायकमूर्ति प्रभु, वह तो परद्रव्य से रहित ही त्रिकाल है। उसे रहित होना है, यह है ही नहीं। आहा...हा...! मात्र उसे राग का-विकल्प का जो वेदन है, उस वेदन में अन्तर कब पड़े? कि उसकी द्रव्य पर दृष्टि पड़ने से वेदन में आनन्द का वेदन आवे। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा ऐसा वर्णन करते हैं, वह सन्त वर्णन करते हैं। आहा...हा...! कहते हैं कि मैं धर्म पाया, (उसमें) उसे क्या हुआ? धर्म पाया... धर्मी जीव है, उसे दृष्टि में लेकर धर्म पाया तो धर्म पाया तो वहाँ क्या हुआ? आहा...हा...! जो धर्म पाया और धर्म हुआ, उसकी दृष्टि तो धर्मी पर है। आहा...हा...! परन्तु उसके परिणाम में जो धर्म हुआ, उसमें आनन्द का वेदन आया; राग का वेदन छूटकर आनन्द का वेदन (आया)। आहा...हा...! समझ में आया?

कल तो बहुत चला था। आज तो फिर (एक भाई ने) कहा कि थोड़ा लेना। वीतरागमार्ग का पार नहीं, बापू! प्रभु! अन्दर वह चीज है, जिसमें परद्रव्य के ग्रहण और त्याग से तो त्रिकाली शून्य है। आहा...हा... ! यहाँ (अज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि) परद्रव्य से हट जाये तो मानों अन्दर त्याग हो गया! परन्तु परद्रव्य से तो त्रिकाल हटा हुआ ही है। अज्ञानी का आत्मा भी परद्रव्य से तो अभावस्वभावरूप ही है। आहा...हा... !

यहाँ तो अस्ति जो त्रिकाली आनन्द का नाथ प्रभु! भाई! मार्ग अलग प्रकार का है। आहा...हा... ! अस्तिस्वभाव की रुचि करके, अस्तिस्वभाव, एक समय में परिपूर्ण स्वभाव, सत्ता चैतन्यतत्त्व, अखण्ड ध्रुव! उसकी दृष्टि नहीं थी, तब पर्याय में राग और विकार का वेदन था; अब उसकी दृष्टि हुई अर्थात् पर्याय का स्वीकार था, राग का स्वीकार था तो दुःख का-राग का वेदन था। समझ में आया ? आहा...हा... ! परन्तु दृष्टि जहाँ द्रव्य पर जाती है, परमानन्द के नाथ को जहाँ दृष्टि / श्रद्धा में लेता है, ज्ञान की पर्याय में उसका (पूरा) ज्ञेय कितना है, वह सब ज्ञान में आता है, तब उसकी पर्याय में आनन्द का, शान्ति का, स्वच्छता का, प्रभुता का... आहा...हा... ! वेदन आता है। उस आनन्द आदि का वेदन न हो तो उसे ध्रुव की दृष्टि हुई है, यह बात मिथ्या है। भाई! ऐसा मार्ग है, प्रभु! क्या हो ?

अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन (होवे), फिर चारित्र होता है। आहा...हा... ! यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-सम्यक्-सत्यदर्शन। सत् स्वरूप जो भगवान पूर्णस्वरूप, उसका जहाँ आदर होकर सतकार हुआ और स्वीकार हुआ, तब उसे ध्रुव की दृष्टि हुई, उसने पूर्णानन्द के नाथ को स्वीकार किया। यह स्वीकार किया, तब उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान शान्ति, आनन्द आदि दशा हुई, उसका वेदन आनन्द का है। कहा न यहाँ ? **अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं....** अर्थावबोधसामान्य दृष्टि में है परन्तु उसके वेदन में नहीं - ऐसी बात है बापू! ऐ...ई... ! भाई! ऐसी बातें हैं। इसमें विवाद में और बाहर के संघ में कहाँ खड़े रहना ? बाहर में बात ऐसी आती है कि भावनगर में विरोध है, ट्रस्टियों में विरोध है। अर..र...र! अरे भाई! ऐसी चीज मिली बापू! आहा...हा...! उसे विरोध किसके साथ ? आहा...हा... !

प्रभु ऐसा कहते हैं, तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं कि तू धर्म पाया

और धर्म हुआ, यह किस अपेक्षा से हुआ ? कि यह धर्म हो, वह द्रव्य की दृष्टि हो, तब धर्म होता है। धर्म होवे तो पर्याय में क्या अन्तर पड़ा ? भाई ! ऐसा है, बापू ! आहा...हा... ! यह दिगम्बर सन्तों का हृदय है ! आहा...हा... ! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य ऐसा कहना चाहते हैं।

प्रभु ! एक बार सुन ! तूने जो आत्मा जितना और जैसा है, वैसा यदि दृष्टि में और ज्ञान में जाना और माना... आहा...हा... ! तो उस जानने और मानने की पर्याय में वह द्रव्य आता नहीं। आहा...हा... ! कहा न ? **अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं....** आहा...हा... ! यह क्या कहते हैं ? गजब बात है ! बीसवें बोल का सारांश है। कोई कहता था न ? पूरा सारांश है। आहा...हा... ! यह तो तीन लोक के नाथ ने जो कहा, वह अनुभवा, उसे अनुभव कर कहते हैं कि प्रभु ! एक बार सुन। आहा...हा... !

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ ! एक समय में सत् ! अभी अपने नय के अधिकार में आयेगा। आहा...हा... ! जो त्रिकाली सत् ज्ञायकभाव नित्यानन्दभाव ध्रुवभाव, सामान्यभाव, सदृशभाव, कारणपरमात्माभाव, कारणजीवभाव... आहा...हा... ! दूसरे से दृष्टि हटाकर जिसने द्रव्य पर दृष्टि की है, उस जीव को पर्याय में द्रव्य का वेदन नहीं आता। द्रव्य का ज्ञान आया, द्रव्य की श्रद्धा आयी परन्तु द्रव्य का वेदन उसमें - वेदन में नहीं आता। आहा...हा... ! क्या कहा समझ में आया इसमें ? आहा...हा... ! उसका (द्रव्य का) वेदन नहीं आया। वेदन पर्याय का आता है। आहा...हा... ! यह तो वीतराग के मार्ग की मूल चीज है। इसमें कोई उल्टा-सीधा करने जाये तो दृष्टि खो बैठे ऐसा है। आहा...हा... !

क्या कहा ? लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह है... है... है... है... है... है... है... है... ऐसी जो नित्य ध्रुव वस्तु भगवान ! **ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधसामान्य जिसके नहीं....** आहा...हा... ! जिसकी दृष्टि द्रव्य पर पड़ी परन्तु द्रव्य की पर्याय में-वेदन में वह द्रव्य नहीं आता। आहा...हा... ! क्या कहा ? भाई ! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई ! यह कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहा...हा... !

पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा की प्रतीति-श्रद्धा में (पूरा) ज्ञेय जितना है, जैसा है; वैसी प्रतीति हुई और जितनी जैसी वस्तु है, उतना यहाँ ज्ञान में उतना यह है — ऐसा ज्ञान

आया परन्तु उस ज्ञान की पर्याय और श्रद्धा की पर्याय के साथ जो आनन्द की पर्याय (हुई), उसमें वह द्रव्य (नहीं आता)। समकित की श्रद्धा हुई, उस श्रद्धा में द्रव्य नहीं आया। द्रव्य की सामर्थ्य जितनी है, वह प्रतीति में आयी; द्रव्य उसमें नहीं आया। वैसे ही ज्ञान की पर्याय में तत्त्व की जितनी सामर्थ्य है, उतना ज्ञान आया परन्तु उस ज्ञान में ज्ञेय नहीं आया। आहा...हा...! ऐसी बातें बापू! अरे...रे! जगत में सत्य का विरह पड़ गया। आहा...हा...! यह सत्य बात कहे तो भी (ऐसा कहते हैं कि) यह तो निश्चय की (बातें) हैं, यह तो निश्चय की (बातें हैं) अर्थात् सत्य की है। ऐसा कि पूजा, व्रत, तप, और भक्ति करो, यह तो कहते हैं कि यह धर्म नहीं, यह तो राग है, वह धर्म का कारण भी नहीं।

धर्म की पर्याय का कारण, द्रव्यस्वभाव है। धर्म की पर्याय का कारण वस्तुस्वभाव है। उस कारण की दृष्टि होने पर भी उसकी श्रद्धा में पूरी चीज जितनी है, वह प्रतीति में आयी, ज्ञान की पर्याय में जितना ज्ञेय जैसा है, वैसा ज्ञान आया तो भी उस श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय में द्रव्य नहीं आया। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं; तथा साथ में जो सम्यग्दर्शन का वेदन, ज्ञान का वेदन, शान्ति का वेदन, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन आया, उस वेदन में द्रव्य नहीं आया। वेदन में द्रव्य नहीं आता, वेदन में वह आत्मा है ही नहीं। आहा...हा...! भाई! ऐसा कभी सुना नहीं, ऐसी बात है यह तो!

प्रश्न – वेदन में द्रव्य आवे तो क्या नुकसान हो?

समाधान – परन्तु वेदन में आवे किस प्रकार? पर्याय में द्रव्य आवे किस प्रकार? वेदन में द्रव्य आवे किस प्रकार? यह तो यहाँ कहा — **अर्थावबोधसामान्य जिसके नहीं....** प्रभु! यह तो शान्ति का मार्ग है बापू! आहा...हा...! बाहर से (सब) छोड़कर बैठे और शरीर अकेला रहे, इसलिए सम्यग्दर्शन हुआ – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अभ्यन्तर के मिथ्यात्व के त्याग बिना बाह्य का त्याग निमित्तरूप भी नहीं कहा जा सकता। इस अभ्यन्तर के राग के और मिथ्यात्व के त्याग में भगवान पूर्णानन्द के नाथ (का) स्वीकार होता है, तब उसे मिथ्यात्व और राग का त्याग हो जाता है। राग और मिथ्यात्व का त्याग होने पर रहता क्या है तब? आहा...हा...! त्याग तो नास्ति से (बात) हुई परन्तु वहाँ होता क्या है?

वर्तमान पर्याय में धर्म होने पर क्या होता है? कि दृष्टि द्रव्य पर होने पर भी वह द्रव्य

उस पर्याय में जिसे नहीं है। है ? **अर्थावबोधसामान्य जिसके नहीं....** जिसके अर्थात् वेदन में नहीं है। आहा...हा... ! जरा सूक्ष्म है परन्तु अब (क्या हो) ? यह सब समझने जैसा है, हाँ ! कमावे, उसमें धूल में कुछ नहीं है। आहा...हा... ! बाह्य त्याग करके बैठे तो उसमें भी कुछ नहीं है। स्त्री छोड़ी, वस्त्र छोड़े परन्तु अभी वस्तु जो है, उसे पकड़ा नहीं तो राग का, मिथ्यात्व का त्याग उसमें कहाँ से हो ? और मिथ्यात्व के त्याग बिना अव्रत का त्याग किस प्रकार हो ? कुछ समझ में आया इसमें ? सही मौके पर (आये हो) यह सही मौका है। आहा...हा... !

आहा...हा... ! लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, अर्थात् ध्रुव है... है... है... है... है... ऐसा जो ग्रहण अर्थात् उसका आदर होने पर भी, उसकी आदर की पर्याय में वह द्रव्य नहीं आता। अर...र...र ! आहा...हा... ! पर्याय में उसका आदर किया, स्वीकार किया परन्तु उस आदर की पर्याय में द्रव्य की जितनी सामर्थ्य है, वैसा आया परन्तु वह द्रव्य है, वह पर्याय में-आदर में आया नहीं। ऐसा मार्ग है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

यह तो जिसे अन्दर आत्मा की पड़ी हो... आहा...हा... ! भव-भ्रमण का अभाव करना हो, वह अभाव कब होता है ? उसके स्वभाव में पर के अभावस्वभावरूप गुण है, उसका अभाव करना नहीं पड़ता; अभावस्वभावरूप गुण है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

अर्थावबोधसामान्य अर्थात् द्रव्य। अर्थावबोधसामान्य अर्थात् ध्रुवतत्त्व **जिसके नहीं है....** इस वेदन की पर्याय में वह द्रव्य नहीं है। कहो, भाई ! अब तो यह बहुत स्पष्ट हुआ। यह तो बापू ! घर की बातें हैं। यह तो अन्दर की बातें हैं। आहा...हा... ! **वह अलिंगग्रहण है....** यह अलिंगग्रहण ! अर्थात् ? आहा...हा... ! लिंग अर्थात् द्रव्य, वह जिसकी पर्याय में वेदन में नहीं आता, वह अलिंगग्रहण है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इस प्रकार 'आत्मा, द्रव्य से नहीं आलिंगित.... आहा...हा... ! इस प्रकार आत्मा, द्रव्य को नहीं छूता, नहीं स्पर्शता **ऐसी शुद्ध पर्याय है'....** आहा...हा... ! कहो भाई ! समझ में आता है या नहीं यह ? ऐसी बात है प्रभु ! आहा...हा... ! कहते हैं कि प्रभु की प्रभुता का जिसे स्वीकार हुआ तो उस स्वीकार की पर्याय में प्रभु का ज्ञान, श्रद्धा आ जाते हैं, वह प्रभु स्वयं पूर्ण परमात्मा परमेश्वर आत्मा है, वह पर्याय में-वेदन में नहीं आता। समझ में आया ?

वैसे तो हम बहुत बार कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय ज्ञेय है, उसे जाने तो भी उस पर्याय में ज्ञेय आता नहीं परन्तु यहाँ तो वेदन की मुख्यता से बात करनी है। ज्ञान की पर्याय का वेदन है, उस ज्ञान में पूर्ण ज्ञेय ज्ञात हुआ है परन्तु ज्ञान की पर्याय का वेदन है, उसका जो ज्ञान है, उसकी जो श्रद्धा है, उसमें द्रव्य नहीं आता... अरे... अरे...! ऐसी बातें! वीतराग के सिवाय यह बात कहीं नहीं होती। आहा...हा...! समझ में आया?

इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से.... अर्थात् वस्तु से... **नहीं आलिंगित....** (अर्थात्) आत्मा वस्तु को नहीं छूता, नहीं स्पर्शता। **ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।** लो, यह पूरा हुआ। आधा घण्टा हुआ। (इन भाई ने कहा था कि) विषय थोड़ा (फिर से लो) बात में पार नहीं पड़ता, बापू! ऐसी वस्तु है। आहा...हा...!

अब नय है? ४९३ पृष्ठ है, अब विषय बदलता है। ४९३ (पृष्ठ) **अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से...** (अर्थात्) अन्तिम साररूप से कुछ कहते हैं। (टीका) पूर्ण करके (परिशिष्टरूप से कहते हैं) भगवान अमृतचन्द्राचार्य मुनि, दिगम्बर मुनि! एक हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में चलते सिद्ध थे!! आहा...हा...! वे कुन्दकुन्दाचार्यदेव के भाव को अर्थ में-टीका में लेकर वह पूरा किया। अब (कहते हैं) कि मैं कुछ विशेषरूप कहता हूँ।

यह आत्मा कौन है?.... यह आत्मा कैसा है? ऐसा जिसका प्रश्न हो, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहा...हा...! भाई! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का पंथ है, यह कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। सौ इन्द्र जिनके तलिया चाटे! जो एकावतारी इन्द्र भी जिनकी सभा में कुत्ती के बच्चे... क्या कहलाता है वह? पिल्ला... पिल्ला... आहा...हा...! वह वाणी और वे प्रभु कैसे होंगे! आहा...हा...! जिसके बत्तीस लाख विमान, उनका स्वामी सकेन्द्र एकावतारी है, एक भव में मोक्ष जानेवाला है, समकिती है। वह महाविदेह में परमात्मा के पास दर्शन करने जाता है। शान्ति से, पैर पर पैर चढ़ाये बिना सुनता है, वह बात कैसी होगी? भाई! सकेन्द्र तीन ज्ञान का धनी! समकिती-क्षायिक समकिती! एक भव में मोक्ष जानेवाला! परमात्मा की वाणी में (आया) है। वह इन्द्र सुनता है बापू! वह वाणी कैसी होगी? आहा...हा...!

यहाँ शिष्य का यह प्रश्न है, प्रभु! आपने बात तो बहुत की परन्तु हमें अधिक स्पष्ट चाहिए कि आत्मा कौन है ? कैसा है ? वह है कैसा भगवान अन्दर ? आहा...हा...! अन्दर आत्मा, राग और पर रहित - ऐसा आत्मा है कैसा ? एक बात; **और कैसे प्राप्त किया जाता है....** और किस उपाय से उसकी प्राप्ति होती है ? दो प्रश्न हैं। **ऐसा प्रश्न किया जाय...** भाषा देखी ? ऐसा जिसे जिज्ञासा का प्रश्न किया जावे, उसे यह उत्तर दिया जाता है। सुनने के लिये सुनने आया हो, उसे यह उत्तर नहीं मिलता, कहते हैं। आहा...हा...!

अन्तर में से जिसे प्रश्न उठा, प्रभु! आत्मा कौन है ? और कैसा है ? कैसा है अन्दर ? उसमें क्या है ? उसमें क्या भरा हुआ है ? वह कैसा है ? और उसकी प्राप्ति किस उपाय से होती है ? ऐसा है, भाई! उसने ऐसा पूछा नहीं कि भगवान! आपकी भक्ति कैसे हो ? पूजा कैसे हो ? व्रत कैसे पालें ? ऐसा नहीं पूछा। आहा...हा...!

आत्मा कैसा है ? अन्दर वस्तु भगवान परमेश्वर! वह परमेश्वर आत्मा है कैसा ? आहा...हा...! यह (समयसार की) ३८ गाथा में आ गया था। अपना परमेश्वर आत्मा, उसे भूल गया, परमेश्वर स्वयं है, प्रभु! तुझे पता (नहीं) आहा...हा...! भगवद्स्वरूप है। भगवान स्वभाव उसका है। यदि भगवान स्वभाव न हो तो पर्याय में भगवानपना आयेगा कहाँ से ? आहा...हा...! अरे! ऐसी बातें, लो!

यह आत्मा कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त किया जाता है ? उसे प्राप्त करने की विधि क्या है ? भगवान! तुझे कैसे प्राप्त होओ ? भक्ति कैसे प्राप्त हो ? ऐसा उसका प्रश्न नहीं। आहा...हा...! **ऐसा प्रश्न किया जाये तो...** ऐसी जिज्ञासा से जिसे प्रश्न हुआ हो, उसे **इसका उत्तर पूर्व में कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं:**- आहा...हा...! गजब है।

प्रथम तो, आत्मा.... अब उत्तर देते हैं। पहले में पहली बात यह है कि **आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य द्वारा...** आहा...हा...! भगवान चैतन्य ज्ञायकस्वभाव वह सामान्य द्वारा व्याप्त **अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता....** है। आहा...हा...! आत्मा कैसा है ? वास्तव में चैतन्यसामान्य द्वारा वहाँ अनन्त धर्म परिणमे हैं। उसमें अनन्त धर्म हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, राग, राग का करनापना, राग का भोगनापना, राग का अकरनापना, राग का

अभोक्तापना – ऐसे अनन्तधर्म उसमें हैं। आहा...हा...! दृष्टि के विषय में यह ज्ञान (की) बात नहीं आती। ज्ञान की (पर्याय) स्व-परप्रकाशक द्रव्य को भी जाने और रागादि पर्याय है, उसे भी जाने। इस सब राग को, अरागी सम्यग्दर्शन आदि और अनन्त गुण, उनका जो अधिष्ठाता है (अर्थात्) आत्मा उनका आधार है। ईश्वर अधिष्ठान है, वह नहीं।

यह अधिष्ठान पहले कहीं आ गया है, भाई! ४८१ पृष्ठ पर, ४८१ पृष्ठ है इसमें, २६८ गाथा। है टीका? **१. विश्व का वाचक सत् लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण शब्दब्रह्म...** क्या कहते हैं? पूरे जगत को-लोकालोक को सत् शब्द से कहा जा सकता है, वह वाणी-शब्द है। सत् (कहने से) पूरा लोकालोक सत् है – ऐसा शब्दवाचक कहा, विश्व का कहनेवाला (ऐसा जो कहा) वह पहले वाणी की बात है। **सत् लक्षणवाला ऐसा जो सम्पूर्ण शब्दब्रह्म....** सत् यह शब्द ब्रह्म... सारे लोकालोक को बतलानेवाला शब्द है। उसे भी जाननेवाला भगवान है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यह क्या कहा?

(यहाँ) यह अधिष्ठान कहा न? विश्व का वाचक सम्पूर्ण लोकालोक को कहनेवाला सत्। सत् लक्षण (वाला है) सत् है। '**है' ऐसा जो सम्पूर्ण शब्दब्रह्म...** शब्दब्रह्म। पूर्ण सत् **और उस शब्दब्रह्म का वाच्य...** यह शब्दब्रह्म शब्द और शब्द का वाच्य लोकालोक – **विश्व।** क्या कहते हैं? **शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म का वाच्य सत् लक्षणवाला जो सम्पूर्ण विश्व....** पहले (कहा कि) विश्व को कहनेवाला शब्दब्रह्म और अब (कहते हैं) पूरा विश्व जिस शब्दब्रह्म से कहा जाता है, वह परचीज। आहा...हा...! **सम्पूर्ण विश्व इन दोनों के ज्ञेयाकार...** आहा...हा...! सारे लोकालोक को सत् कहनेवाला, उसका भी ज्ञान, ज्ञेयाकाररूप से ज्ञात होता है। आहा...हा...! उन ज्ञेयों का ज्ञान यहाँ ज्ञेयाकार ज्ञान में होता है और विश्व जो ज्ञेय है, उसका भी ज्ञान में ज्ञानाकार होता है। सारे शब्दब्रह्म का और विश्व-दोनों का ज्ञानाकार आत्मा जाननेवाला होता है। २६८ गाथा है। २६८ की टीका है?

यहाँ तो अधिष्ठान सिद्ध करना है। अधिष्ठान अर्थात् क्या? विश्व को कहनेवाला सत्। सामान्य सत् सब है, सारा विश्व-लोकालोक को कहनेवाला सत् शब्द, वह शब्दब्रह्म और शब्दब्रह्म से कहनेवाला जो वाच्य है... समझ में आया? वह सत् लक्षणवाला पूरा

विश्व। सत् लक्षणवाला विश्व। सत् को कहनेवाला शब्दब्रह्म और सत् वस्तु। **सम्पूर्ण विश्व इन दोनों के....** एक शब्द ब्रह्म सत् और शब्दब्रह्म से कहा गया विश्व है, वह सत् – दोनों सत्। पहली पाँच गाथाओं से इसमें विशेष है। पाँच में तो मात्र मोक्षमार्ग ऐसा है (यह कहा है)। यह तो दूसरी बात है।

कहते हैं कि तू आत्मा कैसा है? कितना है? शब्दब्रह्म सत् ऐसे शब्द से कहा जानेवाला सारा जगत् और उसका वाच्य सारा लोकालोक (–ऐसे) दोनों। लोकालोक और विश्व। विश्व में अलोक भी आ गया और शब्द में भी सारे लोक–अलोक को कहने की वाणी की ताकत है। इस शब्द को और शब्द के वाच्यभूत पदार्थ को **दोनों के ज्ञेयाकार अपने में युगपत् गूँथ जाने से...** आहा...हा...! भगवान आत्मा! विश्व अर्थात् लोकालोक का ज्ञान (करता है), उसमें अनन्त सिद्धों का ज्ञान... आहा...हा...! अनन्त निगोद जीव का ज्ञान, सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान और शब्द का ज्ञान। जो शब्दब्रह्म कहा कि पूरा विश्व ऐसा सत् है, उस शब्द का ज्ञान और विश्व वस्तु, उसका ज्ञान। आहा...हा...!

यह तो अलौकिक बातें हैं बापू! पाँच (दिन पूरे हुए)। फिर यह लेना (ऐसा) विचार था। (एक मुमुक्षु ने) कहा, नय लेना... विचार में यह आया था, सुनें तो सही! चाहे जो अधिकार हो, वह सामान्य नहीं है। आहा...हा...!

कहते हैं कि तू कितना आत्मा? शब्द से कहा जाता सारा विश्व, ऐसे शब्द का भी ज्ञान होनेवाला और इस सारे विश्व का भी ज्ञान होनेवाला। आहा...हा...! अनन्त सिद्धों का भी ज्ञान होनेवाला, अनन्त निगोद का भी ज्ञान होनेवाला... क्योंकि विश्व अर्थात् सत्, तो सत् में तो लोकालोक (सब) आया। अनन्त सिद्ध आये, अनन्त निगोद के जीव आये; अनन्त जीव की संख्या से अनन्तगुने परमाणु आये; परमाणु की संख्या से तीन काल के समय आये; समय की अपेक्षा आकाश के प्रदेश अनन्तगुने आये – यह विश्व सत् है। भाई! सूक्ष्म बात है। बापू! इस सब सत् के शब्द का ज्ञान करनेवाला प्रभु और सारा विश्व जितना है, उसका यहाँ ज्ञान करनेवाला, ऐसा यह आत्मा है। आहा...हा...! उसका अपने में युगपत् गूँथ जाना, एक समय में! आ...हा...! लोकालोक (कहा), उसमें अनन्त सिद्ध,

तीर्थंकर... ओ...हो...हो... ! भूत-भविष्य के अनन्त तीर्थंकर... आहा...हा... ! भूत-भविष्य के अनन्त सन्त, यह सब विश्व में आ जाता है। आहा...हा... !

णमो अरिहंताणं में यह आता है। णमो अरिहंताणं में अन्तिम शब्द आता है - णमो लोए सव्व साहूणं... तो वहाँ ऐसा है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं - ऐसा पद आता है। णमो लोए सव्व सिद्धाणं... परन्तु इससे आगे जाकर ऐसा आता है कि णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं - ऐसा धवल में पाठ है। यह तो संक्षिप्त शब्द करके समझाया है। वरना धवल में तो णमो लोए सव्वं त्रिकालवर्ती अरिहंताणं (ऐसा आता है)। आहा...हा... ! विगत काल में अरिहंत हुए, अभी अरिहंत विराजते हैं, भविष्य में अनन्त अरिहंत होंगे ***यह आत्मा भी भविष्य में अरिहंत होगा, उसे नमस्कार करता हूँ।*** आहा...हा... ! गजब बात है प्रभु ! आहा...हा... ! इसे अभी से कहते हैं कि णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं। आहा...हा... ! भविष्य में होनेवाले को भी मैं अभी नमस्कार करता हूँ। यह तो बातें, बापू ! आहा...हा... !

णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं ! स्वयं भी भविष्य में सिद्ध होनेवाला है। तो उसे भी मैं अभी नमस्कार करता हूँ। णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं। आचार्यपद तो आवे, न आवे परन्तु अरिहन्त और केवलपद तो आवें ही। समझ में आया ? णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उवज्झायाणं और णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहूणं। आहा...हा... ! यह णमोकार की बात है ! धवला में लेख है। लोगों ने सुना न हो तो (क्या) ? यह तो भगवान के घर की अनादि की बात है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं त्रिकालवर्ती अरिहंत, त्रिकालवर्ती सिद्ध, त्रिकालवर्ती आचार्य, उपाध्याय, साधु और त्रिकालवर्ती निगोद तथा सिद्ध-ये सब विश्व में आते हैं। उनका यहाँ ज्ञानाकार में सब इसे ज्ञात होता है। इतनी ज्ञान की ताकत है ! ऐसा भगवान जाननेवाला सारे विश्व को भी ज्ञान (में) जानता है और शब्द भी ज्ञानरूप में ज्ञात होता है। सूक्ष्म पड़े (तो) रात्रि में थोड़ा-थोड़ा पूछना... भाई ! मार्ग ऐसा है। भाई ! आहा...हा... ! है ?

ये ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञेय ! अनन्त सिद्ध, अनन्त परमाणु, तीन काल के समय, आकाश आदि और एक-एक द्रव्य के अनन्त गुण - ये सब ज्ञेय हैं। विश्व अर्थात् ज्ञेय है। शब्द जो है - सत् ऐसा जो शब्दब्रह्म, उसका यहाँ ज्ञान (होता है) और वाच्य जो वस्तु है,

उसका यहाँ ज्ञान (होता है) । ऐसा यहाँ कहते हैं कि उनका वह जाननेवाला-देखनेवाला भगवान है । आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

अपने में युगपत् गूँथ जाने से.... एक समय में ! शब्दब्रह्म सत् पूरा लोकालोक - ऐसा शब्द और विश्व-सारा लोकालोक, दोनों का एक समय में गूँथ जाना (ऐसा) ज्ञान । आत्मा में एक समय में दोनों का ज्ञान हो जाता है । कब ? केवलज्ञान हो तब नहीं । आहा...हा... ! प्रभु ! तेरी बलिहारी है । भाई ! ऐसा कहकर त्रिकाली द्रव्य, जो जगत् की वस्तु है — सर्वज्ञ, आचार्य, उपाध्याय, निगोद, उनका तू जाननेवाला है । तेरा ज्ञान उस रूप परिणमे, वह जाननेवाला तू है । वे मेरे हैं - ऐसा माननेवाला नहीं । पंच परमेष्ठी भी मेरे हैं — ऐसा माननेवाला नहीं तथा अनन्त निगोद के जीव मेरे हैं - ऐसा माननेवाला नहीं । आहा...हा... ! और स्त्री-कुटुम्ब, परिवार यह सब मेरे हैं — ऐसा माननेवाला नहीं परन्तु उनका ज्ञान हो, उसके ज्ञानाकार होनेवाला तू है । भाई ! यह चैतन्य हीरे की बातें हैं, बापू ! अरे...रे ! अभी तो बाहर की धमाधम (चली है) ; व्रत करो, भक्ति करो, यात्रा करो... यह तो सब राग है । आहा...हा... ! आहा...हा... ! कहते हैं कि आत्मा कैसा ? और (कितना) है ? कौन है ? और कैसा है ? यह आत्मा ऐसा है कि शब्दब्रह्म-एक शब्द से कहा जानेवाला पूरा जगत्-लोकालोक सत् का भी ज्ञान करनेवाला है और विश्व लोकालोक है । सत् पदार्थ का भी ज्ञान करनेवाला है । एक आत्मा एक समय में शब्दब्रह्म और उसका वाच्य - दोनों का ज्ञान करनेवाला भगवान है । आहा...हा... ! किसी की दया पालनेवाला, किसी की हिंसा करनेवाला - वह आत्मा नहीं है, कहते हैं । आहा...हा... ! समझ में आया ? और इस वाणी का करनेवाला तथा दूसरों को समझानेवाला, वह आत्मा नहीं है । आहा...हा... ! समझाने में जो वाणी आवे और अन्य समझें, इन दोनों का जाननेवाला है । ऐसी बात है प्रभु !

आहा...हा... ! यह तो सन्तों की वाणी, बापू ! आहा...हा... ! वे केवली के मार्गानुसारी हैं । अल्पकाल में केवल (ज्ञान) लेनेवाले हैं, उन्हें केवलज्ञान निकट ही है । इस हाथ की बेंत यह ! वह बाहर से लेना है ? आहा...हा... ! इन सन्तों के निकट में केवलज्ञान है । प्रभु ! ऐसे सन्तों की यह बातें हैं ऐसा कहते हैं । परमात्मा के बदले स्वयं कहते हैं, केवली के पथानुगामी हैं, ये आढ़तिया हैं । आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं । आहा...हा... ! कहते हैं कि ज्ञेय

और ज्ञेय को बतलानेवाला सत् शब्द – इन दोनों का ज्ञान एक समय में गूँथ जाये, ज्ञात हो जाये – ऐसा आत्मा है। है ? **गूँथ जाने से (ज्ञातृतत्त्व में एक साथ ज्ञात होने से) इन दोनों के अधिष्ठानभूत....** (अर्थात्) दोनों का आधारभूत। है नीचे (फुटनोट में) ? ज्ञातृतत्त्व का स्वभाव, शब्दब्रह्म को और उसके वाच्यरूप विश्व को युगपत् जानने का है; इसलिए इस अपेक्षा से ज्ञातृतत्त्व को शब्दब्रह्म का और विश्व का अधिष्ठान (आधार)... आहा...हा... ! आधार का अर्थ यह – उसका जाननेवाला है। आहा...हा... !

राग को करनेवाला भी नहीं और राग को टालनेवाला भी नहीं। बन्ध को करनेवाला भी नहीं और बन्ध को मिटानेवाला भी नहीं। वह तो बन्ध को और मोक्ष को – सारे ज्ञेय को जाननेवाला है। आहा...हा... ! यह (समयसार) ३२० (गाथा में) आया न ? भाई ! ३२० गाथा। आत्मा, उदय और निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को कर्ता नहीं। आहा...हा... ! अर्थात् ? कि वे तो ज्ञेय हैं, उनका जाननेवाला भगवान है। आहा...हा... ! राग, दया, दान आदि के विकल्प हैं, वे ज्ञेय में हैं। उस ज्ञेय में – विश्व के भाव में ये सब भाव आये। उसे अपने ज्ञानरूप जाननेवाला है। आहा...हा... ! गजब बात, भाई !

आहा...हा... ! कैसा है आत्मा ? ऐसा यदि तूने प्रश्न किया हो तो उसका उत्तर कहते हैं। इतना वह है कि सत् शब्द से शब्दब्रह्म जो वाणी और उससे कही जाती वाच्य वस्तु – पूरी दुनिया-लोकालोक (इन दोनों का जाननेवाला है)। किसी द्रव्य को मदद दे या किसी द्रव्य से मदद ले, वह आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! आत्मा तो उसे कहते हैं; परमात्मा उसे आत्मा कहते हैं कि शब्दब्रह्म में पूरी दुनिया – लोकालोक वाच्य आ गया, उस शब्दब्रह्म को भी जाने और लोकालोक विश्व है, उसे जाने। आहा...हा... ! त्रिकाली सिद्ध, त्रिकाली अरिहन्त... आहा...हा... ! यह सब विश्व में जाता है तो उस विश्व को स्वयं ज्ञान में जाने। भविष्य के, भूत के, वर्तमान के जो तीर्थंकर, केवली, निगोद के जीव... आहा...हा... ! उन्हें एक समय में युगपत्-शब्द का ज्ञान और विश्व का ज्ञान एक समय में युगपत्, गूँथ गया ज्ञान, वह ज्ञानाकार, वह आत्मा है। भाई ! ऐसा बापू ! कहीं सुना नहीं। अभी छोड़कर आये हैं न ! ऐसी बात है भाई ! भाग्यशाली है, छोड़कर आये और यहाँ पड़े हैं। आहा...हा... ! बापू ! यह तो घर की बातें हैं भाई !

यहाँ तो (लोग कहते हैं कि) व्रत पालो और यह पालो... तो कहते हैं कि व्रत का जो विकल्प है, वह विश्व में-ज्ञेय में जाता है। भगवान की भक्ति का राग है, वह विश्व में - ज्ञेय में जाता है। उसका (अर्थात्) विश्व का और वाणी का एक समय में गूँथ गया ज्ञानाकाररूप आत्मा है, वह आत्मा है। आहा...हा...! अरे! ऐसे पर्यूषण... भगवान!

मुमुक्षु - सोने में सुगंध है।

पूज्य गुरुदेवश्री - आत्मा की गंध आयी, कहते हैं। कैसी गंध आवे ? कि विश्व को और विश्व को कहनेवाले शब्द को - दोनों को ज्ञानरूप जाने, ऐसा वह गंधवाला आत्मा है! आहा...हा...! थोड़े शब्द में बहुत समा दिया है! मुनिराज अमृतचन्द्राचार्यदेव....!

अन्तर का अनुभव और उनकी चारित्र की दशा, वीतरागी आनन्द, आनन्द का अनुभव, वह चारित्र। वह कहते हैं कि यह सब मेरा चारित्र, मेरा आत्मा और मेरे गुण, पर का आत्मा, पर के गुण, परद्रव्य और परद्रव्य के गुण - यह सब विश्व में जाता है। आहा...हा...! मेरे आत्मा के गुण और पर्याय को भी विश्व में डालकर, उनका मैं जाननेवाला हूँ। आहा...हा...! एक ओर भगवान ज्ञाता तथा एक ओर सर्व ज्ञेय और वाणी। आहा...हा...! ऐसा कहीं कलकत्ता में नहीं। आहा...हा...!

आ...हा...! प्रभु ये तो मन्त्र हैं, बापू! आहा...हा...! ओ...हो...! कितना है ? कौन है ? प्रभु! कौन है ? लोग नहीं कहते ? ये कौन आया ? ख्याल में न हो तो ऐसा कहते हैं न ? कौन है यह ? वैसे ही यह आत्मा कौन है ? प्रभु! आहा...हा...! प्रभु! इतना है। कौन है और कितना है ? प्रभु! इतना है कि शब्द में पूरी दुनिया कही जाये - ऐसा शब्दब्रह्म और सारा विश्व-लोकालोक का ज्ञान करनेवाला, ज्ञेयाकाररूप जाननेवाला ऐसा है।

विशेष कहा जायेगा।

गाथा - १७३

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति -

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं।।१७३।।

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योयैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म।।१७३।।

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्य-बन्धोऽवधार्यते एव। आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते; मूर्तस्य कर्म पुद्गलस्य रूपादि-गुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात्।।१७३।।

अथामूर्त शुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्तजीवस्य मूर्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बंधो भवतीति पूर्वपक्षं करोति - **मुत्तो रूवादिगुणो** मूर्तो रूपरसगन्धस्पर्शत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणः **बज्झदि** अन्योन्यसंश्लेषण बध्यते बंधमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति। कैः कृत्वा। **फासेहिं अण्णमण्णेहिं** स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसंयोगैः। किंविशिष्टैः। अन्योन्यैः परस्पर निमित्ते। **तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं-** तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्मेति। अयं परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बंधकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभाव-परिणामरहितत्त्वादमूर्तत्त्वाच्च। पौद्गलं कर्म कथं बध्नाति, न कथमपीति पूर्वपक्षः।।१७३।।

अब, अमूर्त ऐसे आत्मा के, स्निग्ध-रूक्षत्व का अभाव होने से बन्ध कैसे हो सकता है ? ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं -

रूपादि गुणयुत मूर्त पुद्गल, बँधें परस्पर स्पर्श से।
कैसे अमूर्तिक आत्मा, इन कर्म-पुद्गल से बँधे ?॥

अन्वयार्थ : [मूर्तः] मूर्त (ऐसे पुद्गल) तो **[रूपादिगुणः]** रूपादिगुणयुक्त होने से **[अन्योन्यैः स्पर्शैः]** परस्पर (बन्धयोग्य) स्पर्शों से **[बध्यते]** बँधते हैं; (परन्तु) **[तद्विपरीतः आत्मा]** उससे विपरीत (अमूर्त) ऐसा आत्मा **[पौद्गलिकं कर्म]** पौद्गलिक कर्म को **[कथं]** कैसे **[बध्नाति]** बाँधता है ?

टीका : मूर्त ऐसे दो पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होने से यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष (बन्धयोग्य स्पर्श) के कारण उनका पारस्परिक बन्ध अवश्य समझा जा सकता है; किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गल का बन्ध होना कैसे समझा जा सकता है ? क्योंकि मूर्त ऐसा कर्मपुद्गल रूपादिगुणयुक्त है, इसलिए उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का सम्भव होने पर भी अमूर्त ऐसे आत्मा को रूपादिगुणयुक्तता नहीं है इसलिए उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का असम्भव होने से एक अंग विकल है। (अर्थात् बन्धयोग्य दो अंगों में से एक अंग अयोग्य है – स्पशगुणरहित होने से बन्ध की योग्यतावाला नहीं है।) ॥ १७३ ॥

प्रवचन नं. १८३ (A*) **कार्तिक कृष्ण १०, रविवार, १० नवम्बर १९६३**

'प्रवचनसार' ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार, १७२ गाथा पूरी हुई। १७२ (गाथा) निश्चय का वास्तविक ज्ञायकस्वरूप अलिंगग्रहण द्वारा प्रसिद्ध किया। अब, जड़कर्म और आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है – ऐसे व्यवहारनय का ज्ञान कराते हैं।

मुमुक्षु – व्यवहारनय अभूतार्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री – अभूतार्थ है तो (ज्ञान) नहीं करायें ? दोनों का सम्बन्ध कैसे हैं ? भावबन्ध और द्रव्यबन्ध अथवा जीव अमूर्त और द्रव्यबन्ध निमित्तरूप क्या है – उसका व्यवहारनय से ज्ञान कराते हैं। कितने ही कहते हैं न ? कि अमूर्त आत्मा को फिर मूर्त का बन्ध क्या ? व्यवहार क्या ? और सम्बन्ध क्या ? इतना भी सम्बन्ध क्या ? – ऐसी किसी को शंका होवे (तो उसका समाधान कहते हैं।) यह तो अभी आया है न ?

***सूचना – यहाँ से आगामी तीन प्रवचन १८३ A*, १८३ B* १८३ C* में आवाज अस्पष्ट होने से जहाँ स्पष्ट सुनायी नहीं देता, वहाँ .... करके वाक्य छोड़ दिया गया है।**

कल-परसों के दिन लेख में आया था। ले गये? अमूर्त का, मूर्त का कल पत्र आया था, प्रश्न आया था।

अब, अमूर्त ऐसे आत्मा के,.....

मुमुक्षु – कहते हैं कि आत्मा मूर्तिक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह तो निमित्त के कारण कहा। मूर्त तीन काल में (नहीं)। जहाँ द्रव्य का वर्णन किया, वहाँ कहा न कि एक (द्रव्य) मूर्त है और पाँच (द्रव्य) अमूर्त है। पाँच के अमूर्त गुण हैं, एक पुद्गल के मूर्त गुण हैं। यह सब पहले शुरुआत में १२५-१२६ गाथाओं में आ गया है।

यहाँ कहते हैं **अमूर्त ऐसे आत्मा के,.....** प्रश्न तो यह उठाया है।

मुमुक्षु – वे कहते हैं कि अमूर्त जो लिखा है, वह खोटा लिखा है। आत्मा अमूर्त है ही नहीं; मूर्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह तो व्यवहारनय से (कहते हैं।)

प्रश्न – दो नय है न?

समाधान – परन्तु वे तो जानने के लिये हैं। अरे... ! जैसा है, वैसा जानना चाहिए या नहीं? या उससे विपरीत जाना हो तो सम्यग्ज्ञान कहलाये? ज्ञान का विषय यथार्थ होगा या अयथार्थ होगा?

अमूर्त ऐसे आत्मा के, स्निग्ध-रूक्षत्व का.... तो भगवान आत्मा में अभाव है। इतना तो सिद्ध किया है। एक तो अमूर्तपना (कहा) और अमूर्तपने में क्या नहीं? कि जिसमें स्निग्ध और रूक्षपने का अभाव है – यह दो बातें सिद्ध की। ऐसा होने से **बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं** – यहाँ दो बातें तो सिद्ध करते हैं।

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं।।१७३।।

रूपादि गुणयुत मूर्त पुद्गल, बँधें परस्पर स्पर्श से।
कैसे अमूर्तिक आत्मा, इन कर्म-पुद्गल से बँधे?॥

शिष्य का प्रश्न है, देखो! कल एकदम निर्मल बात वहाँ तक ली थी कि भगवान आत्मा निश्चय से उसे कहना कि जिसे अनुभूति की शुद्धपर्याय परिणमित (हो – ऐसी) अनुभूति, वही आत्मा है। वहाँ तक अन्तिम बात ले गये। एकदम अन्तिम बात वापस! समझ में आया?

भगवान आत्मा, एक समय में शुद्ध आनन्द, ज्ञानानन्दस्वरूप ध्रुव द्रव्य है। उसका जो अनुभव (हो), पुण्य और पाप तथा कर्म के सम्बन्ध रहित अपने चैतन्य को अनुसरण कर, शुद्धता को अनुसरण कर भावना (अर्थात्) जो होना, अनुभवरूप दशा होना, आत्मा की अनुभूति, वह धर्म है और उसे ही यहाँ, वह आत्मा शुद्धपर्यायरूप है – ऐसा अन्तिम कहा है। ऐसे उस आत्मा को कर्म के निमित्त का सम्बन्ध 'अमूर्तधारी हूँ' (– ऐसे) व्यवहार का ज्ञान कराने के लिये प्रश्न उठाया है। समझ में आया?

व्यवहार का विषय नहीं? नय है; नय है, वह विषयी है। विषयी हो, उसे विषय होता ही है। नय है, वह विषयी है। निश्चय हो या व्यवहार हो, विषयी का विषय होता है। वह आदरणीय है या अनादरणीय है – इतना प्रश्न है। जानने का तो विषय नहीं? व्यवहारनय का कर्म के साथ कितना संबंध है, वह ज्ञान करता है, आदर में तो अन्दर (शुद्ध आत्मा है वह है)। शुद्ध आत्मा आनन्दकन्द का निर्मल परिणमन होना, वही आत्मा शुद्ध अनुभव से (पूर्ण) है। ऐसा कहकर वहाँ पूर्ण किया और अब साधकजीव को अमूर्त होने पर भी मूर्त का थोड़ा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बाकी है, उसका ज्ञान कराते हैं। समझ में आया?

टीका : मूर्त ऐसे दो पुद्गल.... मूर्त ऐसे दो पुद्गल अर्थात् दोनों मूर्त हैं। अमूर्त को मूर्त के साथ किस प्रकार व्यवहार सम्बन्ध लगा देते हो? **मूर्त ऐसे दो पुद्गल तो रूपादिगुणयुक्त होने से....** एक पुद्गल में रूपादि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श (और) दूसरे पुद्गल में भी रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। वह **यथोक्त....** यथा-उक्त — यथा कहा हुआ। **स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष के कारण....** स्पर्श विशेष (अर्थात्) खास। दो अधिक हैं। दो अधिक ऐसे विशेष के कारण **उनका पारस्परिक बन्ध अवश्य समझा जा सकता है;....** शिष्य प्रश्न करता है।

एक पुद्गल में स्पर्श की अधिकता, दूसरे में दो स्पर्श की हीनता। उनका भी स्निग्धता-स्निग्धता, रूक्षता-रूक्षता इत्यादि दो पुद्गलों में रूपादि गुणपना है तो **उनका पारस्परिक....** पारस्परिक (अर्थात्) इसका उसमें और उसका इसमें ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध **अवश्य समझा जा सकता है; किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गल का बन्ध होना कैसे समझा जा सकता है?....** यह प्रश्न है। आत्मा अरूपी-एक पक्ष लूला... आगे कहेंगे कि एक अंग विकल है। आत्मा में स्निग्धता-रूक्षता नहीं (और) पुद्गल में स्निग्धता-रूक्षता। एक अंग तो विकल है (तो) दोनों का मेल-सम्बन्ध किस प्रकार होगा? समझ में आया?

बहुत प्रश्न चलते हैं, हाँ! (संवत्) १९८४ के साल में एक स्थानकवासी साधु आया था। यहाँ आया था। उसने प्रश्न किया था कि इस आत्मा को और पुद्गल को सम्बन्ध क्या? वह तो जड़ है, कर्म का बन्ध क्या? साधु अभी इसकी शंका (होवे)। (कुछ) ठिकाना नहीं होता, बहुत वर्ष हुए, हाँ! फिर घड़ी का दृष्टान्त दिया था। यहाँ बैठे थे और प्रश्न किया था कि यह क्या?

(मैंने) कहा, ज्ञान अरूपी है या नहीं? वह रूपी घड़ी को जानता है या नहीं? जानता है अपनी पर्याय, परन्तु यह है... यह काँटा अभी यहाँ है, साढ़े आठ और नौ, ऐसा यहाँ ज्ञान अपने से अपने में हुआ तो यह ऐसा है - ऐसा यहाँ ज्ञात हुआ या नहीं? तो इस अरूपी को रूपी कैसे ज्ञात हुआ? सम्बन्ध कैसे हुआ? जैसे अरूपी और रूपी को जानने में ऐसा सम्बन्ध है, वैसे यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सम्बन्ध में रूपी के साथ बिल्कुल सम्बन्ध ही न हो, तब तो ऐसा हो परन्तु रूपी के साथ सम्बन्ध तो दिखता है (कि) यह ठीक साढ़े आठ और दस हुई। ज्ञान हुआ अपना, अपने में, अपने से; किसी के कारण नहीं।

प्रश्न - घड़ी के कारण नहीं?

समाधान - नहीं।

प्रश्न - यह भाई उठा ले तो?

समाधान - कौन उठाये? रखे कौन? और उठाये कौन? वहाँ ज्ञान की पर्याय ख्याल में आयी कि साढ़े आठ और दस (हुई है), वह स्व को जाननेवाला और पर को

जाननेवाला ज्ञान है, उसमें ज्ञात हुआ कि साढ़े आठ और दस हुआ परन्तु साढ़े आठ और दस वहाँ है या नहीं ? अपने ज्ञान में ज्ञान के कारण उसका ख्याल आया या नहीं ? कितना सम्बन्ध हुआ। यह कहेंगे, अभी दृष्टान्त देंगे। १७४ में उत्तर में यही देंगे।

मुमुक्षु – यह तो सरल है, इसका दृष्टान्त देंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री – सरल है, तब सम्बन्ध बताते हैं; सम्बन्ध कुछ है या नहीं ? शरीर ज्ञात होता है या नहीं ? लो, पहले (यह कहो)। यह ज्ञान तो अरूपी है। यह शरीर कोमल है, कर्कश है, आज रोग है (ऐसा) ख्याल आता है या नहीं ? तो इसका स्वाद तो रूपी है। इसका ख्याल ज्ञान में कैसे आया ? (ख्याल) आता है ज्ञान में ज्ञान के कारण। इस रूपी का ख्याल क्यों आया ? यदि इतना सम्बन्ध न हो तो रूपी का ख्याल आना (नहीं चाहिए)।

आत्मा प्रमाणरूप है, यह (रूपी द्रव्य) प्रमेय है। आत्मा प्रमाण और प्रमेय दोनों रूप है। यह प्रमाण और यह प्रमेय इतना सम्बन्ध है या नहीं ? ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है या नहीं ? बस ! ऐसे बंध्य-बंधक सम्बन्ध है। यह व्यवहार है, यह भी व्यवहार है, वह भी व्यवहार है।

अब कहते हैं कि एक आत्मा अरूपी और यह कर्म रूपी; तो पुद्गल-पुद्गल दो का सम्बन्ध तो समझा जा सकता है। **किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गल का बन्ध होना कैसे समझा जा सकता है ? क्योंकि मूर्त ऐसा कर्मपुद्गल रूपादिगुणयुक्त है,....** पुद्गल परमाणु तो वर्ण, गन्ध, रस, (वाला है)। रूपी अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस। यह जड़ परमाणु वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाला है।

उसके यथोक्त स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का सम्भव होने पर भी... पुद्गल में स्पर्श का, रूक्ष-स्निग्धता का स्पर्शविशेष अर्थात् जो कुछ बन्ध होने के योग्य (होवे) वह। (ऐसा) **होने पर भी अमूर्त ऐसे आत्मा....** आत्मा तो अरूपी है, ज्ञानघन है; उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श का बिल्कुल अंशरहित है, किंचित् नहीं। वह **रूपादिगुणयुक्तता नहीं है इसलिए उसके यथोक्त....** यथा अर्थात् जैसा कहा (वैसा)। दो की, चार की, स्निग्धता आदि। **स्निग्धरूक्षत्वरूप स्पर्शविशेष का असम्भव होने**

से... भगवान आत्मा में तो स्पर्श है नहीं। बिल्कुल स्पर्श नहीं और फिर यह दो अधिक और चार अधिक का तो सम्भव है ही कहाँ?

एक अंग विकल है।... देखो, भगवान को कहते हैं न कि प्रभु! मैं रागी और तू वीतरागी... मेरा आपके साथ किस प्रकार मेल करना? यह देवचन्दजी के स्तवन में आता है। 'हूँ करमें फंदियो तू वीतरागी अबंध...' प्रभु! तू तो वीतराग... वीतराग है। मैं राग, मेरा तेरे साथ किस प्रकार मेल करना? प्रभु! तेरे साथ मेल तब हो कि रागरहित अन्तर अनुभव की दृष्टि हुई (तो) तेरे साथ मेल हुआ। समझ में आया? यह तो दूसरी रीति है। राग का लक्ष्य पर के ऊपर जाये, उसमें वीतराग के साथ मेल नहीं खाता।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि **बन्धयोग्य दो अंगों में से....** दो अंग अर्थात् एक आत्मा और एक पुद्गल। **एक अंग अयोग्य है....** अर्थात् आत्मा में तो स्निग्धता-रूक्षता भी नहीं तो फिर दो अधिक और चार अधिक विशिष्ट खास बन्ध का कारण तो उसमें है नहीं (जहाँ) स्निग्धता-रूक्षता नहीं, (वहाँ) फिर खास बन्ध का कारण जो है, वह तो है नहीं।

स्पर्शगुणरहित होने से बन्ध की योग्यतावाला नहीं है। आत्मा में स्निग्धता-रूक्षता की बन्ध की योग्यता नहीं तो आत्मा और कर्म दो का - मूर्त और अमूर्त का संयोग किस प्रकार हुआ? वह किस प्रकार हो? लो, भाई! कैसा प्रश्न है! यह भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं और अमृतचन्द्राचार्यदेव ने (उपोद्घात) बाँधा है, देखो!

गाथा - १७४

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बंधो भवतीति सिद्धान्तयति :-

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।।१७४।।

रूपादिकै रहितः पश्यति जानाति रूपादीनि।
द्रव्याणि गुणांश्च यथा तथा बंधस्तेन जानीहि।।१७४।।

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्‌गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्‌गलै किल बध्यते; अन्यथा कथममूर्तो मर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथाहि - यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबंधः, विषयभावावस्थितबलीवर्द-निमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबंधो बलीवर्दसंबंध-व्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्‌गलैः सहासित संबंधः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्‌गल-निमित्तोपयोगाधिरूरागद्वेषादिभावसंबंधः कर्मपुद्‌गलबंध व्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव।।१७४।।

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बंधौ भवतीति प्रत्युत्तरं ददाति - **रूवादिएहिं रहिदो** अमूर्तपरमचिज्ज्योतिः परिणतत्त्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहितः। तथाविधः सन् किं करोति। **पेच्छदि जाणादि** मुक्तावस्थायां युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसंबंधो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षण संबंधेन पश्यति जानाति। कानि कर्मतापन्नानि। **रूवमादीणि दव्वाणि** रूपरसगंधस्पर्शसहितानि मूर्तद्रव्याणि। न केवलं द्रव्याणि **गुणे च जधा** तद्‌गुणांश्च यथा। अथवा यथा कश्चित्संसारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहितः सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमां दृष्टा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते। यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसंबंधो नास्ति तथापि परिच्छेद्य परिच्छेदकलक्षणसंबंधोऽस्ति। यथा वा

समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वरं दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति। तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसंबंधो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसंबंधोऽस्ति। तह बंधो तेण जाणीहि तथा बंधं तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि। अयमत्रार्थः - यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबंधवशाद्व्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यबंधनिमित्तभूतं रागादि विकल्परूपं भावबंधोपयोगं करोति। तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसंबंधो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसंबंधोऽस्तीति नास्ति दोषः।।१७४।।

अब, ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा अमूर्त होने पर भी उसको इस प्रकार बन्ध होता है —

आत्मा अरूपी देखता अरु जानता, द्रव्य रूपी को।
त्यों बन्ध भी जानो अरे!, रूपी-अरूपी द्रव्यों का॥

अन्वयार्थ : [यथा] जैसे **[रूपादिकैः रहितः]** रूपादिरहित (जीव) **[रूपादीनि]** रूपादि को- **[द्रव्याणि गुणान् च]** द्रव्यों को तथा गुणों को (रूपी द्रव्यों को और उनके गुणों को) - **[पश्यति जानाति]** देखता है और जानता है **[तथा]** उसी प्रकार **[तेन]** उसके साथ (अरूपी का रूपी के साथ) **[बंधः जानीहि]** बन्ध जानो।

टीका : जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता है, तथा जानता है, उसी प्रकार रूपादिरहित (जीव), रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बँधता है; क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने-जानने के सम्बन्ध में भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त, मूर्त को कैसे देखता-जानता है?

और ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपी का रूपी के साथ बन्ध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिए उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबाल-गोपाल सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाए इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा - बालगोपाल का पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल को अथवा (सच्चे) बैल को देखने और जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है, तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है; इसी प्रकार आत्मा अरूपीपने के कारण स्पर्शशून्य है, इसलिए उसका कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले

कर्मपुद्‌गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों के साथ का सम्बन्ध कर्मपुद्‌गलों के साथ के बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

भावार्थ – 'आत्मा अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिककर्मपुद्‌गलों के साथ कैसे बँधता है ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यदेव ने कहा है कि – आत्मा के अमूर्तिक होने पर भी वह मूर्तिक पदार्थों को कैसे जानता है ? जैसे वह मूर्तिक पदार्थों को जानता है, उसी प्रकार मूर्तिक कर्मपुद्‌गलों के साथ बँधता है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध न होने पर भी अरूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध होने का व्यवहार भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है। जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है; उसका तो मात्र उस मूर्तिक पदार्थ के आकाररूप होनेवाले ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है और उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का सम्बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है। इसी प्रकार जहाँ ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्लों के साथ बन्ध है' वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्‌गलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; आत्मा का तो कर्मपुद्‌गल जिसमें निमित्त हैं, ऐसे रागद्वेषादिभावों के साथ ही सम्बन्ध (बन्ध) है और उस कर्मनिमित्तक रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध होने से ही 'इस आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्‌गलों के साथ बन्ध है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।

यद्यपि मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे उस मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करनेवाले मनुष्य को राग का बन्धन होने से और उस राग में स्त्री-पुत्र-धनादि के निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जाता है कि 'इस मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि का बन्धन है'; इसी प्रकार, यद्यपि आत्मा का कर्मपुद्‌गलों के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं, तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्मा को रागद्वेषादि भावों का बन्धन होने से और उन भावों में कर्मपुद्‌गल निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि 'इस आत्मा को कर्मपुद्‌गलों का बन्धन है' ॥१७४॥

प्रवचन नं. १८३ (A*) का शेष कार्तिक कृष्ण १०, रविवार, १० नवम्बर १९६३

अब, आत्मा अमूर्त होने पर भी.... ऐसा सिद्ध किया है लो! **उसको इस प्रकार बन्ध होता है, ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं** - लो!

मुमुक्षु - सिद्धान्त आया।

पूज्य गुरुदेवश्री - सिद्धान्त आया। उसमें से ऐसा कैसे हो? ऐसा कैसे हुआ? किसमें है यह? मोक्षमार्गप्रकाशक में है। मोक्षमार्गप्रकाशक दूसरे अधिकार के पृष्ठ ३५ पर इस प्रकार लिखा है कि **मूर्तिक-मूर्तिक का तो बंधान होना बने, अमूर्तिक-मूर्तिक का बंधान कैसे बने?** तो वहाँ इन्द्रियगम्य का दृष्टान्त दिया है। **इन्द्रियगम्य नहीं ऐसे सूक्ष्म पुद्‌गल, तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य हैं ऐसे स्थूल पुद्‌गल - उनका बंधन होना मानते हैं,...** ऐसा होता है। उसका समाधान। यह कैसे होता है? इतना मात्र (लिखा है)। जरा लम्बी बात है, बाद में कहेंगे, आत्मा अमूर्तिक है क्योंकि आत्मा में मूर्तत्व के हेतुभूत स्पर्शादि नहीं पाये जाते। यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से है। क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अबन्ध है। मोक्षमार्ग में उक्त कथन निश्चयनय की अपेक्षा से तो है नहीं। मोक्षमार्ग में उक्त कथन निश्चयनय की अपेक्षा से तो है नहीं। निश्चयनय से तो अमूर्त है। क्योंकि उक्त कथन में आत्मा और पुद्‌गलमय कर्म के बन्ध का स्वीकार करते हैं, ऐसा आ गया है। मूर्तिक-अमूर्तिक का बन्ध होता है। 'वीरसेनस्वामी' ने मूर्त और अमूर्त के बन्ध का निषेध किया है। लों! जैसा कि 'धवल' पुस्तक में.... है, उसकी सब बात की है। कथंचित् मूर्तपने को प्राप्त हुए जीव के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध बन जाता है। लो, ठीक!

यहाँ मूर्तपना व्यवहार से सिद्ध किये बिना मूर्तपने के साथ सम्बन्ध नहीं होता - ऐसी शंका की है। वही उत्तर यहाँ देते हैं, देखो! सीधा अमूर्त रखकर भगवान जवाब देते हैं। **ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं...** १७४ (गाथा)

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।।१७४।।

आत्मा अरूपी देखता अरु जानता, द्रव्य रूपी को।
त्यों बन्ध भी जानो अरे!, रूपी-अरूपी द्रव्यों का॥

यहाँ तो यह स्पष्ट पाठ लिया है। लोगों को बात बंधबैठती है ऐसा नहीं करके अपनी बात उड़ाना है।

मुमुक्षु – इसमें से भूल निकालते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ, भूल निकालते हैं। अरे... क्या हो?

मुमुक्षु – गोम्मटसार में भी मूर्त कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री – धवल में भी कहा है न...

यहाँ कहते हैं, देखो! अब टीका देखो! **जैसे रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्यों को....** देखो! यह सिद्धान्त! भगवान आत्मा रूपरहित है। उसमें कोई रंग, गंध, रस, स्पर्श है नहीं तो भी **रूपी द्रव्यों को....** यह रूपी द्रव्य है न? देखो न शरीर आदि। और **उनके....** रूपी **गुणों को....** देखो! देखो! रूपी द्रव्यों को और **उनके गुणों को....** रूपी पर्याय दिखती है या नहीं? यह काली है, यह सफेद है, लाल है, यह तो जड़ है, रूपी है और आत्मा तो अरूपी है, उसे जानता है या नहीं कि यह, यह है। **उनके गुणों को देखता है, तथा जानता है....** इसमें गुण शब्द से उसकी पर्याय ले लेना।

उसी प्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बँधता है;... इस प्रकार कहा... वर्ण, गंध, रस, स्पर्शरहित तत्त्व आत्मा! उसकी ज्ञान की पर्याय भी वर्ण, गंध, रस, स्पर्शरहित है। वह वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाली रूपी जड़ की पर्याय है, उसे ज्ञान जानता है कि यह काली है, यह खट्टी है। अवस्था को जानता है या नहीं? इमली खट्टी है, वह तो रूपी है, (तथापि ज्ञान) जानता है या नहीं? खट्टा तो जड़ है, रूपी है, दृश्य है। यह (आत्मा) तो अरूपी है, इतना सम्बन्ध जाना या नहीं? यह खट्टा है, खारा है आदि।

उसी प्रकार रूपादिरहित (जीव), रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बँधता है;... इसी प्रकार (बँधता है) जैसा यह आत्मा अरूपी है तो भी रूपी को जानने-देखने के संबंधवाला सिद्ध होता है; वैसे आत्मा अरूपी है तो भी पुद्गल के साथ निमित्तरूप संबंध

(धराता है) ठीक है, अभी दृष्टान्त देंगे, हाँ! यह तो अभी उसका साधारण शब्दार्थ किया। **क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यहाँ भी (देखने-जानने के सम्बन्ध में भी) यह प्रश्न अनिवार्य है....** देखो! **कि अमूर्त, मूर्त को कैसे देखता-जानता है?** वापस यह प्रश्न खड़ा रहेगा कि आत्मा अमूर्त है और मूर्त को कैसे जानता-देखता है? परन्तु प्रत्यक्ष जानता-देखता है न! इतना प्रमेय और प्रमाण का (सम्बन्ध है)। प्रमाण अर्थात् ज्ञान (और) प्रमेय अर्थात् पर, जड़। अभी मूर्त की बात लेनी है। उसे जानने का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिखता है, वरना तो यह प्रश्न भी खड़ा रहेगा कि अरूपी, रूपी को कैसे जानता है? अरूपी को रूपी के साथ सम्बन्ध कैसे है?

और ऐसा भी नहीं है कि यह बात... देखो! अमृतचन्द्राचार्यदेव (विशेष कहते हैं) **(अरूपी का रूपी के साथ बन्ध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिए उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, (दृष्टान्त से समझाया है)....** ऐसा नहीं। सीधी बात है, ऐसा कहते हैं। इतनी बात लेकर तुमने रूपी, अरूपी का दृष्टान्त दिया। अरूपी, रूपी को जाने- इसका दृष्टान्त देकर तुमने अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध बतलाया। समझ में आया? **ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपी का रूपी के साथ बन्ध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिए उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है,....** अर्थात्? अरूपी, रूपी को जानता है - ऐसा तुमने सिद्ध किया। उसमें से अरूपी, रूपी को बन्ध है - ऐसा तुमने सिद्ध किया। अरूपी रूपी को जानता है — ऐसा दृष्टान्त देकर तुमने अरूपी (रूपी का) बन्ध सिद्ध किया। वह दुर्घट है, इसलिए सिद्ध किया - ऐसा नहीं है। सुन!

शिष्य प्रश्न करता है अथवा स्वयं (प्रश्न) उठाते हैं कि यहाँ तुमने अरूपी, रूपी को जानता-देखता है — ऐसा प्रश्न कहकर अरूपी, रूपी का सम्बन्ध सिद्ध किया, इसलिए हमारा दृष्टान्त इस बात को दुर्घट है - ऐसा नहीं है। यह बात यथार्थ है, इसका हम दृष्टान्त देकर सिद्ध करेंगे। समझ में आया?

परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबाल-गोपाल सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाए... दृष्टान्त द्वारा आबाल.... बालक से लेकर **गोपाल...** (अर्थात्) वृद्ध आदि **सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाए, इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।....** यह बात दृष्टान्त द्वारा समझायी जाती है। **वह इस प्रकार...**

यथा - बालगोपाल का.... बालक हो या गोपाल अर्थात् वृद्ध व्यक्ति हो, ग्वाला हो। **पृथक् रहनेवाले मिट्टी के बैल को....** क्या कहलाता है? एक मिट्टी का बैल बनाया। यह मिट्टी का बनाते हैं न? गारा कहते हैं न? क्या कहते हैं? मिट्टी का (बनाते हैं) चातुर्मास में मिट्टी का (बैल) बनावें। वह मिट्टी का बैल और ग्वाले का सच्चा बैल। ग्वाले का सच्चा बैल, हाथी या गाय (उसे) **देखने और जानने पर....** देखो! यह लड़का है। इसने (मिट्टी का) झूठा बैल बनाया हो और उसका (ग्वाले का) सच्चा बैल हो, इन दोनों को **देखने और जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है....** वास्तव में उस बालक को मिट्टी के बैल के साथ और ग्वाले को गाय के साथ या बैल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल... देखो! है न नीचे (फुटनोट)? वृषभ अर्थात् बैल, वृषभाकार दर्शन-ज्ञान का निमित्त है। यहाँ दर्शन-ज्ञान हो, उसमें बैल निमित्त है। **विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है....** किसका? **ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार....** यहाँ वृषभाकार ज्ञान परिणमा है। परिणमा है स्वयं के कारण। बालक को मिट्टी का बैल है और उसको, ग्वाले को (सच्चा बैल है) (दोनों को) ज्ञान में (ज्ञात होता है कि) यह बैल, यह बैल। ऐसे ज्ञान में ज्ञेयाकार **ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है;....** उस बैल का यहाँ ज्ञान हुआ, उस ज्ञान में और उस बैल को दोनों को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है या नहीं? जैसा बैल है, ऐसा यहाँ स्वयं को ज्ञेयाकाररूप से ज्ञान हुआ। जैसा वह ज्ञेय है, वैसा यहाँ स्वयं को स्वयं के कारण ज्ञान हुआ, इतना सम्बन्ध हुआ या नहीं? बैल का ऐसा ही ज्ञान हुआ। मिट्टी का बैल हो तो मिट्टी का और वह (सच्चा बैल) होवे तो ऐसा ही ज्ञान हुआ।

वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के सम्बन्धरूप.... किसे? स्वयं को। **उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के सम्बन्धरूप....** उस बैल के साथ का सम्बन्धरूप व्यवहार। **तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है....** विषय है न सामने? जिसका (अर्थात्) किसका? कि उपयोग में वह निमित्त है। **उपयोगारूढ़ वृषभाकार....** यहाँ दर्शन-ज्ञान की जो पर्याय हुई, **वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ का सम्बन्ध बैल के साथ के**

सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है;... निश्चय-साधक वृषभाकार का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। ऐसा जो यहाँ ज्ञान हुआ, इतना विषय का सम्बन्ध है। समझ में आया? यह तो बैल का दृष्टान्त दिया। परन्तु खट्टा, मीठा, चरपरा, इमली (इत्यादि) कोई भी (पदार्थ)। यह गुड़ मीठा है। गुड़ कहते हैं न? क्या कहते हैं? (इस) मीठेपने का ज्ञान का आकार यहाँ स्वयं में हुआ है या नहीं? ज्ञान का आकार। यह मीठापना यहाँ नहीं आया? मीठापना यहाँ नहीं आया? परन्तु मीठेपने का ज्ञान का आकार हुआ है या नहीं? इस आकार को निमित्त का सम्बन्ध है या नहीं? कि यह मीठा है, बस!

इसी प्रकार खटाई। यह खट्टा नींबू... नींबू है, ज्ञान में इस खटाई के आकारवाला अपना ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, उसमें वह निमित्त है। ज्ञेयाकार हुआ स्वयं से अपने उपादान से। जैसा खट्टा है, वैसा ही खट्टे के आकाररूप ज्ञान परिणमा है, इतना सम्बन्ध उसका है। इस खट्टे के ज्ञेयाकार का सम्बन्ध आत्मा के साथ है परन्तु ज्ञेयाकार में वह विषय है या नहीं? उसका सम्बन्ध व्यवहार से सिद्ध हो जाता है। निश्चय से स्वयं का ज्ञान आया, व्यवहार उसका निमित्त है; इसलिए उसका ज्ञान कहलाया। अथवा उसे जानता है, ऐसा कहने में आया। समझ में आया? भाई! खट्टा ढोकला यह तुम्हारे सब खाते हैं या नहीं? (ऐसा कहते हैं कि) मुँह खट्टा हो गया। खट्टा मुँह कुछ होता नहीं। खट्टी पर्याय तो उसकी है। मुँह, वह मुँह है। जीभ खट्टी होती है? जीभ कभी भी खट्टी होती है? जीभ खट्टी होवे तो आत्मा जड़ हो जाये।

मुमुक्षु - खाते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री - खाता नहीं। धूल में खाता है। जीभ खट्टी होती है? जीभ चरपरी होती है? जीभ मीठी-मधुर होती है? यह तो मीठा-खट्टे का ज्ञान का विषय है। उस ज्ञेयाकाररूप परिणमित अपना ज्ञान है, उसके साथ वास्तव में निश्चय से सम्बन्ध है, परन्तु उस ज्ञेयाकार परिणमित का विषय सामने निमित्त है, उतना व्यवहार सम्बन्ध है — ऐसा सिद्ध करने पर, कर्म के साथ ही जीव को निमित्त सम्बन्ध है, उसमें कोई विरोध नहीं आता है।

देखो! यह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध सिद्ध किया है, और निमित्त कर्म है, इसलिए यहाँ मूर्त है; इसलिए मूर्त के साथ अमूर्त को सम्बन्ध है - ऐसा सिद्ध ही नहीं

किया। आहा...हा... ! परन्तु प्रत्येक बात में प्रत्यक्ष दिखता है न ? खट्टा, मीठा, कड़वा... बहुत कड़वा ऐसा कड़वा... कड़वा... कड़वा... कड़वा... कड़वा... ! कड़वा तो वास्तव में मुँह भी नहीं हुआ। कड़वी पर्याय है। खाने में आती है न ? यह चिरायता या कोई कड़वी चीज। वह कड़वी पर्याय विषय है। किसका (विषय) ? कि ज्ञान का। वह ज्ञान, जैसा ज्ञेय है, वैसे आकाररूप यहाँ ज्ञान अपने में अपने कारण से परिणमित हुआ है। उसमें यह विषय हुआ, इतना व्यवहार सम्बन्ध हुआ। यह कड़वा है — ऐसा ज्ञान यहाँ स्वयं के कारण हुआ परन्तु कड़वा, वह जड़ है और ज्ञान हुआ, वह चैतन्य है। इतना सम्बन्ध हुआ।

(कोई अज्ञानी) इनकार करता है। अमूर्त के साथ (सम्बन्ध) नहीं है। देखो ! इसमें निषेध किया है, अमुक (शास्त्र में) ऐसा कहा है। भाई ! वहाँ व्यवहार से बात की है। सुन न ! व्यवहार से अर्थात् ? मूर्त का मूर्तपना कहकर मूर्त के साथ सम्बन्ध (कहा है) । अकेले अमूर्त-मूर्त के साथ सम्बन्ध न होता – ऐसा कहकर वहाँ व्यवहार से बात (की है) ।

अमूर्त ऐसे आत्मा को ज्ञान में मूर्त ऐसी चीज का जैसा आकार वहाँ है, जैसा उसका स्वरूप है, उस प्रकार से, उस क्षण ज्ञान स्वयं के कारण परिणमता ज्ञान, ज्ञेयाकार के भाव से अपने स्वभाव की पर्यायरूप परिणमता है। उसके ज्ञेयाकार में वह विषय निमित्त ज्ञेय है, इतना सम्बन्ध तो यहाँ प्रत्यक्ष दिखता है, बस ! ऐसे कर्म के साथ सम्बन्ध है। उसमें क्या है ? कहो, इसमें समझ में आया ?

वास्तव में तो जो यहाँ कर्म है, ऐसा ही यहाँ ज्ञानाकाररूप ज्ञान परिणमा है न ? कर्म है – ऐसा कहा न ? कर्म है तो यहाँ ज्ञान ने जाना कि है। ज्ञान में जो ज्ञेयाकार सामने है, ऐसा जो कर्म, उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान, ज्ञेयाकाररूप परिणमा है। ऐसे यहाँ कर्म निमित्त दिखता है। ऐसे बन्ध घटित कर लेना, मूल तो ऐसा कहते हैं।

वहाँ कर्ता-कर्म में लिया है न ? कि ज्ञानी को कर्म-बन्धन तो ज्ञेय है। ऐसा आया कि चौथे गुणस्थान में इतनी प्रकृति है, इतना उदय है, इतनी सत्ता है। इस सम्बन्धी का अपना ज्ञान, ज्ञेयाकाररूप परिणमने की ताकतवाला स्वयं से परिणमा है, उसमें वह ज्ञेय निमित्त है। जानने में निमित्त है; उदय, बन्ध में निमित्त है, वह ज्ञानी को है नहीं। समझ में आया ? दृष्टान्त दिया है न ? भाई ! दूध-दही का ! दूध-दही का दृष्टान्त दिया है न ? कर्ता-

कर्म में! जैसे इस दूध का दही होता है, ऐसे तटस्थ पुरुष उसे देखता है। उसका कर्ता नहीं। देखता है कि इस दूध में से दही होता जाता है - ऐसे साथ में बैठे हुए तटस्थ (देखते हैं) वैसे ज्ञानी-सम्यक्ज्ञानी... यहाँ तो साधारण बात की है, परन्तु सम्यक्ज्ञानी को इतने कर्म हैं, उनका इतना उदय है और प्रकृति इतनी है तथा सत्ता इतनी होती है और उदय ऐसा, संक्रमण हो — ऐसा जब ख्याल में आता है, तब उसका वैसा ज्ञान स्वयं करता है, उस ज्ञान के परिणाम का कर्ता है, उस चीज का कर्ता नहीं। समझ में आया?

लो! विद्यमान कर्म और नया बन्ध इतना होवे तो भी कहते हैं कि वह ज्ञान करनेवाला है! ज्ञान करता है, ख्याल में आया कि इस सत्ता में इतनी प्रकृति है और इतना बन्ध है, उसे एक क्षण में अपने ज्ञायकस्वभाव से ज्ञान करता हुआ उसका भी ज्ञान करनेवाला तटस्थ है। वह बन्ध को कर्ता नहीं और पुराने को वेदता नहीं तथा पुराने को स्पर्शता नहीं। पुराने और नये दोनों का ज्ञान करता है। ओहो...हो...! गजब सूक्ष्म बात! भाई! यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को ऐसा ख्याल में आया कि यहाँ बँधता है, उसका वह ज्ञान करता है। दूध का दही हो, उसे जाननेवाला तटस्थ जानता है; वैसे कर्म की पर्याय को ज्ञानी तटस्थरूप से जानता है। जानता है! आहा...हा...! समझमें आया? इस चैतन्य चमत्कार स्वभाव की दशा का माहात्म्य न आवे, तब उसे (ऐसा लगता है कि) यह मैंने किया, मैंने यह बाँधा, अरे...! बाँधे-फाँदे कौन? सुन तो सही!

यह तो एक व्यवहार से समझाते हैं कि अमूर्त को मूर्त का सम्बन्ध बिल्कुल हो सकता नहीं तो कहते हैं कि नहीं; हो सकता है। मूर्त को अमूर्त के साथ ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। ऐसा होने से वह ज्ञेय, ज्ञायक में आया नहीं; वैसे ही यहाँ मूर्त कर्म को आत्मा के साथ सम्बन्ध है। आत्मा मूर्त हो तो ही मूर्त के साथ सम्बन्ध हो - ऐसा नहीं है।

(परपदार्थ का कार्य) कर्ता-वर्ता नहीं। कौन करे? पर का करने की कहाँ बात है? (या तो यह) जाने या माने कि मैं यह करता हूँ। जाने कि यह सम्बन्ध है, वस्तु है। कहो समझ में आया इसमें?

क्या कहा? देखो, **बैल के साथ के सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है;....** लो, सम्बन्ध (कहा)! ज्ञेयाकाररूप बैल का ज्ञान हुआ, उसमें वह विषय निमित्त

पड़ा; इसलिए वह जानने-देखने का व्यवहार सिद्ध होता है। **इसी प्रकार आत्मा अरूपीपने के कारण....** लो, **स्पर्शशून्य है, इसलिए उसका कर्म-पुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि एकावगाहरूप से रहनेवाले....** वहाँ एक क्षेत्र में रहनेवाले कर्म परमाणु **कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों....** यहाँ तो राग-द्वेष भाव लेना है न? पहले में ज्ञान का दृष्टान्त दिया।

यहाँ तो अरूपीपने के कारण स्पर्शशून्य होने से उसे कर्मपुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है। अब सम्बन्ध किस प्रकार है? (कि) **एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों....** उनके साथ सम्बन्ध है। पहले में तो ऐसा लिया था, भाई! कि ज्ञेयाकार के साथ सम्बन्ध है। इसे राग, द्वेष, मोह के साथ सम्बन्ध है, बस! दृष्टान्त में ज्ञेय के आकाररूप परिणमित ज्ञान के साथ व्यवहार सम्बन्ध है; वैसे ही यहाँ राग-द्वेष-मोह के साथ सम्बन्ध है। समझ में आया? यहाँ तो अभी अज्ञानी की बात सिद्ध करनी है न?

कहते हैं कि **एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं....** जिनके अर्थात् किसके? कि **ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों....** जिसने राग, द्वेष और मोहभाव किया, जीव उसमें आरूढ़ हुआ, उसमें वह पुद्गल निमित्त है। पुद्गल निमित्त है। उतना (पुद्गल को और) इस राग-द्वेष को सम्बन्ध है। राग-द्वेष-मोह वास्तव में अरूपी है। राग-द्वेष-मोह कहीं परमाणु नहीं, राग-द्वेष-मोह कहीं वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं। (उन्हें) पुद्गल का परिणाम कहा, वह तो अपेक्षा से कहा है। वे हीनाधिक होते हैं, निकल जाते हैं; (इसलिए पुद्गल का परिणाम कहा है)। उनमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श राग-द्वेष के परिणाम हैं - ऐसा कुछ नहीं। उन्हें जड़ कहा, अचेतन कहा, पुद्गल परिणाम कहा, अजीव कहा, दृष्टि के स्वभाव में नहीं; इसलिए सब कहा परन्तु उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं है।

देखो न, यहाँ अरूपी सिद्ध करते हैं! भगवान अरूपी और जिसे रूपी कर्म निमित्त है — ऐसे राग, द्वेष, मोह के अरूपी परिणाम, उन्हें और उस रूपी को सम्बन्ध व्यवहार से सिद्ध होता है। अब ऐसी बात तो प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं परन्तु... कौन जाने अपनी दृष्टि में न बैठे इसलिए (विरोध करते हैं)।

मुमुक्षु - यहाँ तो व्यवहार का प्रसंग है, उसमें निश्चय का....

पूज्य गुरुदेवश्री - परन्तु यह निश्चय का डाला न! यह क्या डाला?

मुमुक्षु - कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने डाला न।

पूज्य गुरुदेवश्री - यह अमृतचन्द्राचार्यदेव ने डाला, कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने डाला। दोनों ने (डाला)। क्या डाला है यह? ऐसा कि दूसरे आचार्यों ने (नहीं डाला)। वहाँ आगे दूसरे प्रकार से बात की हो, इस कारण यह खोटा है? वहाँ भी यह बात की है।

मुमुक्षु - वे ऐसा कहते हैं, व्यवहार से व्यवहार का सम्बन्ध तुम करो, यह निश्चय अमूर्त है, उसके साथ सम्बन्ध कैसे हो?

पूज्य गुरुदेवश्री - इसके साथ (सम्बन्ध) है, यहाँ तो यह बात सिद्ध करनी है। अकेले जीव के नहीं, वे राग-द्वेष मोह के जो परिणाम (होते हैं, उनके साथ सम्बन्ध है)। जीव के ज्ञान में बैल का ज्ञेयाकार परिणमन (हुआ), वहाँ आरूढ़ है परन्तु उस ज्ञेयाकार में बैल निमित्त है; इसलिए व्यवहार साधक से होता है। ऐसे आत्मा में (होनेवाले) राग-द्वेष-मोह जिसे निमित्त है, ऐसे राग-द्वेष-मोह उन्हें, और कर्म को सम्बन्ध है - ऐसा सिद्ध करना है। बहुत सरस बात है! समझ में आया? अरूपी के साथ सिद्ध करना है।

भगवान आत्मा अरूपी (होने) पर भी, बालक को और गोपाल को जैसे उस बैल के आकार परिणमित ज्ञेयाकार ज्ञान है, ज्ञान तो उसमें आरूढ़ (हुआ है)। आरूढ़ कोई पर में-बैल में नहीं (हुआ) परन्तु बैल सम्बन्धी का यहाँ अपने में परिणमित जो ज्ञेयाकार ज्ञान की पर्याय है, उसे और पहले को व्यवहार साधक सिद्ध होता है। वैसे ही भगवान आत्मा में राग-द्वेष-मोह में जो कर्म निमित्त है, राग-द्वेष, मोह में जो निमित्त है - ऐसे राग-द्वेष, मोह में आरूढ़ हुआ जीव, उसके साथ उस बन्ध को निमित्तरूप सम्बन्ध सिद्ध होता है। क्या कहा, समझ में आया?

उसमें ऐसा कहा था, देखो न! **मिट्टी के बैल को** अथवा (सच्चे) बैल को **देखने और जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है, तथापि विषयरूप से रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है....** किसका (निमित्त)? कि **ऐसे उपयोगारूढ़ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान...** दर्शन-ज्ञान जो यहाँ परिणमा, उसका बैल निमित्त है। उसके **साथ का सम्बन्ध**

बैल के साथ के सम्बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है;.... यह दृष्टान्त हुआ।

इस प्रकार यहाँ आत्मा के ज्ञान में स्वयं ज्ञान में रह सका नहीं, (उसे) पूर्व का कर्म निमित्त है। किसे? कि राग, द्वेष, मोह को। ऐसे राग, द्वेष, मोह में आरूढ़ हुआ आत्मा, उसे वह कर्म निमित्त है, इतना सम्बन्ध सिद्ध होता है। समझ में आया? **कर्मपुद्गलों के साथ के बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।** भाषा कैसी की है? समझ में आया? अकेला आत्मा नहीं, परन्तु जिसे कर्म निमित्त है, अपने किये परिणाम उपादान हैं। किसके? जीव के? जैसे बैल का ज्ञान स्वयं का स्वयं के कारण हुआ परन्तु उसमें ऐसा बैल अर्थात् वृषभ निमित्त है, इतना सम्बन्ध सिद्ध होता है। वैसे राग, द्वेष, मोह में कर्म निमित्त है; राग, द्वेष, मोह के उपादानरूप से स्वयं अपने कारण परिणमित जीव है ऐसे राग, द्वेष, मोह को और कर्म के पुद्गल के साथ व्यवहार निमित्त साधक सिद्ध होता है। समझ में आया? यह तो जरा न्याय का विषय है, भाई!

यहाँ तो मात्र पहले दृष्टान्त में क्या कहा? कि बालक है, उसे मिट्टी का बैल है और दूसरा मनुष्य है, उसे जीवित बैल है। दोनों का विषय उनके ज्ञान में है। ज्ञान, ज्ञेयाकार बना है, उसके आकार परिणमने में ज्ञान आरूढ़ तो यहाँ है, तो उस ज्ञेयाकार में वह विषय है; इसलिए निमित्त है। इतना सम्बन्ध ज्ञेयाकार को और उस ज्ञेय को व्यवहार सम्बन्ध सिद्ध होता है। वैसे आत्मा में पुराना कर्म निमित्त है, ऐसे जो राग-द्वेष और मोह, उसमें आरूढ़ हुआ... देखो न! **उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों....** यहाँ आरूढ़ है। भाषा इतनी सिद्ध की है कि राग, द्वेष, मोह में जीव आरूढ़ है, उस उपयोग में आरूढ़ है; पर में आरूढ़ नहीं। जैसे बैल के ज्ञान में ज्ञान आरूढ़ है, बैल में आरूढ़ नहीं परन्तु ज्ञेयाकार (ज्ञान में) जैसे बैल का निमित्त है, इतना व्यवहार साधक सिद्ध होता है। वैसे आत्मा, उपयोग में आरूढ़ राग-द्वेष आदि भाव। (वहाँ) ज्ञेयाकार था, यहाँ राग-द्वेषादि भाव है। बैल का ज्ञेयाकार (ज्ञान में) स्वयं आरूढ़ था, तब वह निमित्त है, इतना सिद्ध किया। वैसे यहाँ आत्मा अपने उपयोग में — राग-द्वेष-मोह में आरूढ़ है, उसे कर्म का निमित्त है, बस! समझ में आया? न्याय और लॉजिक से सिद्ध करते हैं, लो!

इसमें न्याय आता है या नहीं? कि दूसरे न्यायशास्त्र में आता है। इसमें न्याय भरा

है या नहीं ? इसमें वापिस विशिष्टता क्या की है ? कि दृष्टान्त देने पर वह बैल, उसमें से ज्ञेयाकार परिणमा है ऐसा नहीं, बालक को और वृद्ध को, (एक) बैल मिट्टी का और एक जीवित (हो), इसलिए ज्ञान ज्ञेयाकाररूप परिणमा है - ऐसा नहीं है। यहाँ ज्ञान, ज्ञेयाकाररूप परिणमने में स्वयं अपने कारण आरूढ़ (हुआ) है। ऐसे इस ज्ञेयाकार में बैल निमित्त है, इतना व्यवहार सिद्ध होता है। वैसे भगवान आत्मा अपने उपयोग में (स्वयं आरूढ़ हुआ है)। यहाँ कर्म का सम्बन्ध सिद्ध करना है न ? उसमें (दृष्टान्त में) बैल का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध सिद्ध किया। आत्मा में-उपयोग में राग, द्वेष और मिथ्यात्वभाव में जीव आरूढ़ है; आरूढ़ है, उसे वह कर्म निमित्त होता है; इसलिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। समझ में आता है या नहीं ? कहो, यह अमूर्त को मूर्त के साथ सम्बन्ध सिद्ध किया। ओ...हो...हो... !

यहाँ तेरा अमूर्तिक ज्ञानाकार, ज्ञेयाकाररूप परिणमने में आरूढ़ है या नहीं ? देखो ! यह सवा नौ बजे, तो यहाँ ज्ञान में ज्ञेयाकाररूप परिणमन है या नहीं ? इस परिणमन में यहाँ आरूढ़ है या नहीं ? परिणाम आरूढ़ है। कौन आरूढ़ है ? यह ज्ञेयाकाररूप परिणमन, सवा नौ हुए — ऐसा परिणमन है, उसमें जीव आरूढ़ होने पर भी, उसमें वह निमित्त है, इतना सम्बन्ध सिद्ध होता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु - राग-द्वेष के साथ सम्बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ, उनके साथ सम्बन्ध है। पूरे जीवद्रव्य के साथ नहीं। पहले में जो ज्ञेयाकार पर्याय है, उसके साथ निमित्त का सम्बन्ध है, पूरे द्रव्य के साथ नहीं। यहाँ ऐसा कहा। बैल को और इसे कहीं पूरे आत्मा के साथ सम्बन्ध है ? उस समय उस सम्बन्धी का ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञान के साथ निमित्त का सम्बन्ध है। पर्याय के साथ सम्बन्ध है। वैसे ही यहाँ आत्मा के उपयोग में राग, द्वेष, मोह हैं, उसमें आरूढ़ हुआ, उस पर्याय में कर्म का निमित्त है, बस ! इतना सम्बन्ध है। ओ...हो... ! (तत्त्व) कितना सरस (सिद्ध) किया है !!

वास्तव में परद्रव्य को निमित्त हो, यह द्रव्य का स्वभाव ही नहीं है। (समयसार की) कर्ता-कर्म अधिकार की १०५ गाथा में (कहा है कि) (विज्ञानघनस्वभाव से) भ्रष्ट,

विकल्पपरायण (अज्ञानी जीव) पर में निमित्त होता है, उपचार से कर्ता होता है। १०५ (गाथा)! निर्विकल्प (स्वभाव से) भ्रष्ट, विकल्पपरायण, पुद्गल कर्म का उपचार से-व्यवहार से कर्ता (होता है)। निर्विकल्प (स्वभाव से) भ्रष्ट हुआ माना है। उसमें तो लिखा है कि जीव वास्तव में कर्म को निमित्त नहीं होने पर भी... ऐसा लिखा है, देखो! १०५ (गाथा)। वास्तव में तो निमित्त है ही नहीं। पर को बाँधने में जीवद्रव्य निमित्त होगा? कौन सी गाथा कही? १०५! **इस लोक में वास्तव में आत्मा, स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत नहीं होने पर भी....** देखो! कर्म इसे निमित्त नहीं, यह उसे निमित्त नहीं; वस्तु के स्वभाव में (ऐसा) कहाँ है?

इस लोक में वास्तव में आत्मा, स्वभाव से पौद्गलिक कर्म को निमित्तभूत नहीं होने पर भी.... अर्थात् कर्म होता है, उसे राग-द्वेषभाव निमित्त हों - ऐसा स्वभावदृष्टि में है नहीं। राग-द्वेष यहाँ हो और सामनेवाले को निमित्त हो — ऐसा सम्बन्ध द्रव्यस्वभाव में है ही नहीं। समझ में आया? इसलिए यहाँ बात ली है। राग-द्वेष, मोह में आरूढ़ हुआ... १०५ गाथा है। यह तो अभी उपमा दी थी, पण्डितजी ने आधार में दी थी, तत्त्वज्ञान मीमांसा में भी दिया है, १०५ गाथा तो महा जबरदस्त है!

टीका : इस लोक में वास्तव में आत्मा, स्वभाव से.... इसकी स्वभावदृष्टि से देखें तो... स्वभाव से कहो या स्वभावदृष्टिवान कहो। स्वभाव ऐसा है और स्वभावदृष्टिवान दोनों **पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी,....** पौद्गलिक कर्म के - जड़ के बन्ध में राग-द्वेष होना, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं, सम्यग्दृष्टि को ऐसा भाव होता नहीं। वह **पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण....** पर्याय के अज्ञान के कारण। वस्तु की दृष्टि और वस्तु का स्वभाव, पुद्गल को निमित्त हो - ऐसे परिणाम उसमें हो सकते ही नहीं। पुद्गल को निमित्त हो, हाँ! पुद्गल बाँधे, उसकी बात नहीं। नये बँधें, उसे निमित्त होना, वह जीव स्वभाव में नहीं और स्वभाव दृष्टिवान को नहीं।

..... न होने पर भी, अनादि अज्ञान के कारण पौद्गलिक कर्म को निमित्तरूप होते हुए अज्ञानभाव में परिणमता होने से निमित्तभूत होने पर,.... किसे? उन नये

कर्म को अज्ञान परिणाम निमित्त होने पर। **पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है,....** यहाँ निमित्त हो, वहाँ उत्पन्न होता है। **इसलिए 'पौद्गलिक कर्म, आत्मा ने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट,....** मिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि **विकल्पपरायण अज्ञानियों का विकल्प है;....** नये कर्म को मैं व्यवहार से बाँधता हूँ, यह विकल्प अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का है।

मुमुक्षु - व्यवहार का मालिक होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - व्यवहार का मालिक हो, वह बन्ध को निमित्त कहलाता है। जो व्यवहार का स्वामी नहीं, निश्चय का स्वामी सम्यग्दृष्टि है, (वह) व्यवहार का स्वामी नहीं; इसलिए वह बन्ध में निमित्त नहीं; इसलिए उसे बन्धन है नहीं। ओहो...हो...! यहाँ वस्तु ऐसी है।

जिसे राग की एकता होती है, वैसे रागवाला जीव नये बन्धन में निमित्त-व्यवहार होता है। ज्ञानी और ज्ञानी के ज्ञान का विषय जो स्वभाव है, उसमें तो नये बन्ध के निमित्तपने की योग्यता ही नहीं है। उसे तो बन्ध और राग को ज्ञेय करने की, ज्ञान करने की ताकत उसमें है। समझ में आया? आहा...हा...!

वस्तुस्वभाव देखो तो चैतन्य, अबन्धस्वभावी है और दृष्टि भी अबन्धस्वभावी हुई। सम्यग्दर्शन, अबन्धस्वभावी दृष्टि है। अबन्धस्वभावी दृष्टि है! तो दृष्टि ने अबन्धस्वभाव को विषय किया, तब उसे नया कर्म बँधे, उसमें राग-द्वेष-मोह का जो निमित्तपना (है वह) उसे होता नहीं। अज्ञानी अज्ञानरूप से परिणमित, वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से दृष्ट हुआ, अज्ञानरूप परिणमित, वह नये बन्ध को निमित्त होता है। मैं निमित्त हुआ; इसलिए यह उत्पन्न हुआ, इसलिए व्यवहार से मैं इसका कर्ता हूँ। व्यवहार से कर्ता है; उपादान की तो बात ही नहीं। व्यवहार से-उपचार से उसका कर्ता मिथ्यादृष्टि मानता है। मानता है; है नहीं। मान्यता खड़ी की है, भाई! बहुत सूक्ष्म बात, भाई!

अरे...! भगवान चैतन्यमूर्ति! ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि और विषय - दोनों बन्ध के परिणाम उत्पन्न करते ही नहीं। अबन्धस्वभावी दृष्टि और अबन्धस्वभावी द्रव्य, दोनों नये कर्म को व्यवहार से बाँधनेवाले हैं, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं। निश्चय तो नहीं परन्तु

व्यवहार से मैं यह बाँधता हूँ — ऐसा विकल्प भी वस्तु की दृष्टिरहित जीव को, अज्ञान से परिणमित जीव को नये बन्ध में अज्ञान निमित्त होता है; इसलिए मैंने व्यवहार से तो बाँधा न ? व्यवहार कहो या उपचार कहो, 'मैंने उपचार से तो बाँधा न' ? ऐसा भाव मिथ्यादृष्टि को होता है। सम्यग्दृष्टि यह भाव नहीं होता। समझ में आया ? यह अन्तर का खेल है, बापू! भाई!

अबन्ध परिणमन कहो, सम्यग्दर्शन कहो, अबन्धस्वभावी वस्तु की श्रद्धा-दृष्टि कहो, तो दृष्टि भी अबन्धपरिणामी दृष्टि हो गयी। दृष्टि अबन्धपरिणामी का अर्थ - मोक्ष का मार्ग हो गया। अबन्धपरिणाम प्रगट हुए। सम्यग्दर्शन, अबन्धपरिणाम है। अबन्धस्वभावी की दृष्टि, वह अबन्धपरिणाम है। अबन्धपरिणाम कहो या मोक्षमार्ग के परिणाम कहो। समझ में आया ?

यहाँ यही कहा है कि जो उपयोग में आरूढ़ राग-द्वेष-मोह आदि भाव...। यह अज्ञानी आरूढ़ है। यह राग-द्वेष-मोह का निमित्त है — ऐसा यहाँ राग-द्वेष-मोह में आरूढ़ जीव है, यह दो का व्यवहार सम्बन्ध गिना जाता है। निश्चय से तो राग-द्वेष-मोह, आत्मा में है ही नहीं; ज्ञानी में भी है नहीं। यह सम्बन्ध अज्ञानी का सिद्ध किया है। क्या कहा ? जो चैतन्यस्वभावी आत्मा में आरूढ़ नहीं, भगवान आत्मा चैतन्य सहजात्मस्वरूप शुद्ध है, उसमें आरूढ़ नहीं, उसे पुराने कर्म निमित्त हैं। ऐसे राग-द्वेष-मोह में, उपयोग में जो आरूढ़ है, वह राग-द्वेष-मोह में अज्ञानभाव से आरूढ़ तो स्वयं अपने से है। उसे कर्म का बन्ध व्यवहार है - ऐसा सिद्ध होता है। यह सब १०५ (गाथा में भी) एक का एक आ गया। १०५ में कहा न ? कि कर्म-बन्धन तो उपादान (ऐसी) उसकी पर्याय से होता है परन्तु उपचार से मैं कर्ता हूँ, यह मिथ्यादृष्टि को होता है, जड़ का उपचार कर्ता, हाँ!

यही बात यहाँ की है कि भगवान आत्मा जो चैतन्यस्वभाव वस्तु, उसकी दृष्टि में आरूढ़ नहीं और जो राग-द्वेष-मोह में आरूढ़ है, वह अपनी पर्याय में निश्चय से आरूढ़ है, वह मेरे बन्ध का निमित्त है, इतना व्यवहार अज्ञानी को सिद्ध हो जाता है। समझ में आया ?

एक दृष्टान्त (भी कैसा दिया है)! '**दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि**' लो! जैसे इस रूपी के साथ ज्ञान के आकार का परिणमन तो अपने में आरूढ़ है, उस ज्ञेयाकार के परिणमन में वह निमित्त है, विषय है। विषय है न ? इतना विषयी और

विषय का सम्बन्ध हुआ। विषयी-ज्ञान, विषय वह चीज - इतना सम्बन्ध हुआ। स्वयं विषयी; वह विषय है, उस सम्बन्धी के विषय के ज्ञानरूप परिणमित आत्मा है। उसे ऐसा विषय है, इतना सम्बन्ध हुआ। ऐसे अज्ञानी राग-द्वेष, मोह के उपयोग में आरूढ़ है, उसमें कर्म के निमित्त का सम्बन्ध होता है, बस! इतनी बात है। बिल्कुल ज्ञेय-ज्ञायक के साथ सम्बन्ध न हो तो यह सम्बन्ध न हो। यह न हो (परन्तु) यह सम्बन्ध है, यह न्याय है, यह भी न्याय है। सम्बन्ध है, ज्ञानी को जाननेयोग्य है। अज्ञानी बराबर राग-द्वेष पर आरूढ़ है; इसलिए उसे निमित्त का सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध होता है, सम्बन्ध है, पूर्व का सम्बन्ध है। सब सिद्ध होता है। समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र, एक-एक श्लोक चौदह पूर्व का रहस्यभूत है! ओ...हो...हो...! वस्तु देखो न कैसी शैली से ली है! पाठ में है न? **'दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो'** अमृतचन्द्राचार्यदेव ने इसमें से यह बात निकाली। भाई! रूपवाले पदार्थ का ज्ञान ज्ञेयाकाररूप से तुझमें तुझसे परिणमित भासित होता है या नहीं? तो इतना ज्ञेयाकार के साथ निमित्त का सम्बन्ध है या नहीं? यह विषयी और यह विषय। ऐसे भगवान आत्मा अपने को भूलकर राग-द्वेष-मोहपने की पर्याय में आरूढ़ है, उसे कर्म का निमित्त सम्बन्ध सिद्ध होता है, वह भी एक विषय है। समझ में आया?

ऐसे जिस उपयोग में.... देखो न! **एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल....** यह पुद्गल **जिनके निमित्त हैं...** वे पुराने कर्म! बन्ध सिद्ध करना है न? **एकावगाहरूप से रहनेवाले....** अभी (उदय में) आये हुए की बात नहीं है। पुराने के साथ बन्ध का सम्बन्ध सिद्ध करना है न? **एकावगाहरूप से रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं....** निमित्त किसका हो? यहाँ नये कर्म की बात नहीं। पुराने कर्म जिसका निमित्त हो। बन्ध सिद्ध करना है न? यह दो का बन्ध सिद्ध करना है।

जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों.... उपयोग में आरूढ़ रागद्वेषादिभावों (कहा है)। ओ...हो...! जिसे चैतन्य में चैतन्य का उपयोग चाहिए, उसके बदले राग-द्वेषभाव में आरूढ़ है। **उनके साथ का सम्बन्ध कर्मपुद्गलों के साथ के बन्धरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।** भाई! समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु – पुराने के साथ सिद्ध किया।

पूज्य गुरुदेवश्री – पुराने किन्तु, यह बन्ध सिद्ध करना है तो किसके साथ करना ? उनके साथ बन्ध है या नहीं ? अरूपी को रूपी के साथ (बन्ध है या नहीं ?) देखो ! यह है। इस प्रकार है या नहीं ? देखो न ! दिखता है या नहीं ? कहो, समझ में आया ?

यह टीका पूरी हुई, लो ! भावार्थ लेंगे।

प्रवचन नं. १८३ (B*) **कार्तिक कृष्ण ११, सोमवार, ११ नवम्बर १९६३**

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व अधिकार चलता है। भगवान तीर्थंकरदेव, जिन्हें तीन काल का ज्ञान हुआ, तब जो वस्तु का स्वरूप (ज्ञान में आया) था, वैसा वाणी द्वारा आया, उस वाणी को यहाँ प्रवचन कहा जाता है। उस प्रवचन का सार कुन्दकुन्दाचार्य महाराज वर्णन करते हुए अभी बन्ध अधिकार का वर्णन चलता है। क्या कहा ? जरा सूक्ष्म बात है। भावार्थ है, देखो ! टीका पूरी हुई। क्या कहते हैं ?

यह आत्मा है न ? आत्मा ! यह आत्मा, है तो उसका स्वभाव पवित्र और शुद्ध और आनन्द, तथापि उसकी वर्तमान दशा में-पर्याय में राग-द्वेष और मोह करता है। करता है या नहीं ? उस राग-द्वेष-मोह विकार के साथ जीव का सम्बन्ध है। उस राग-द्वेष-मोह को पूर्व का कर्म निमित्त है, उस बन्ध के साथ उसे सम्बन्ध है। समझ में आया ? यह आत्मा है न ? वस्तु ! भगवान आत्मा ! वह शुद्ध चैतन्य आनन्द और ज्ञायक केवलज्ञान का पिण्ड आत्मा है। आत्मा वस्तु है, वह तो ज्ञान और आनन्द का रसकन्द आत्मा है परन्तु अनादि से उसकी वर्तमान दशा में वह त्रिकाल शुद्ध स्वभाव को भूलकर जो राग-द्वेष और मोह -मिथ्याभ्रम, ऐसा भाव करता है, उस जीव को भावबन्ध के साथ सम्बन्ध है। वह भावबन्ध है। उस भावबन्ध को पुराने कर्म निमित्त होते हैं; इसलिए भावबन्ध को द्रव्यबन्ध के साथ सम्बन्ध है। इतना यहाँ सिद्ध करना है। ठीक है ?

आत्मा अमूर्तिक होने पर भी, आत्मा तो रूपरहित है, उसमें कोई रंग, गंध, स्पर्श (नहीं है) यह आत्मा तो अरूपी है। इसे रंग नहीं, गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं। अरूपी है। तो भी मूर्तिक कर्म पुद्गलों के साथ, यह परमाणु सूक्ष्म कर्म रजकण है, जिसे कर्म

कहते हैं, ऐसे मूर्तिक वे तो रंग, गंध, स्पर्शवाले परमाणु हैं, उसके साथ कैसे बँधे ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। ऐसे प्रश्न का आचार्य भगवान ने उत्तर दिया है कि आत्मा अमूर्तिक होने पर भी, मूर्तिक पदार्थ को कैसे जानता है ? आत्मा है तो अरूपी... तथापि यह पुद्गल जड़ सब है, उसे जानता है या नहीं ? भाई ! यह शरीर जड़ है, यह तो मिट्टी है, पुद्गल है, अजीव है। आत्मा जीव है, वह अरूपी है तो अरूपी, इस रूपी को जानता है या नहीं ? यह रूपी शरीर है, यह मिट्टी है, यह हाथ है, पैर है – ऐसा आत्मा जानता है न ? तो अरूपी आत्मा इस रूपी चीज को (जानता है) अमूर्त का मूर्त को जानने का जैसे सम्बन्ध है। उसमें (कोई विरोध दिखाई नहीं देता)।

मूर्तिक पदार्थों को कैसे जानता है ? जैसे वह मूर्तिक पदार्थों को जानता है, उसी प्रकार मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बँधता है।

मुमुक्षु – यह नये हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – नये भले परन्तु पूर्व के पुद्गल इसे बन्धरूप पड़े हैं। उनका इसे निमित्त होता है। राग-द्वेष, मोह को (निमित्त होता है) तो राग-द्वेष, मोह से नये बँधते हैं, इतना सम्बन्ध होता है। पूर्व के कर्म राग-द्वेष को निमित्त है, ऐसे भावबन्ध के साथ जीव को सम्बन्ध है परन्तु उसे पुराने कर्म, राग-द्वेष, मोह में निमित्त हैं। वे निमित्त हैं, यह नये कर्म बँधे, इतना उसे सम्बन्ध है। सम्बन्ध है (उसमें से) सम निकाल दो तो इतना बन्ध है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का.... आत्मा तो अरूपी है परन्तु इसका उसे पता नहीं पड़ता। ऐसे का ऐसा अनादि से गाड़ी हाँकता जाता है (विपरीत मान्यता करता जाता है।) मैं कौन हूँ ? और कहाँ हूँ ? इसका पता नहीं। ये बात किसलिए करते हैं ? कि आत्मा अरूपी है, तथापि रूपी पदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। वास्तव में तो रूपी के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। जड़ को और आत्मा को क्या ? यह शरीर कहाँ ? कर्म कहाँ ? ये सब जड़। आत्मा अरूपी, यह रूपी इन्हें कुछ सम्बन्ध है नहीं। फिर स्त्री, पुत्र के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है – ऐसा कहेंगे, हाँ ! धूल के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो परवस्तु है। तू अरूपी, दूसरे आत्मा और उनके शरीर अलग ! तेरे और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है।

वास्तव में अरूपी आत्मा का रूपी पदार्थों के साथ कोई सम्बन्ध न होने पर

भी अरूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध होने का.... अरूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध होने का **व्यवहार भी विरोध को प्राप्त नहीं होता....** व्यवहार! अरूपी का रूपी के साथ – यह मूर्त (पदार्थ) के साथ का सम्बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होता। **'आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है'...** यह बात करते हैं। जानता है या नहीं? यह खट्टा, मीठा क्या? आत्मा तो अरूपी है। यह गुड़ मुँह में पड़ा और मीठा लगा तो यह मीठा जड़ है। ठीक है? क्या है? मीठा जड़ है। क्या है? यह पेड़ा क्या है? जड़ है, मिट्टी है।

आत्मा रूप, गंध, रस, स्पर्श रहित होने पर भी यह पेड़ा मीठा है, यह जानता है या नहीं? आत्मा मीठा नहीं होता, परन्तु मीठा तो जड़ है, अजीव अर्थात् मिट्टी है। ठीक है? पेड़ा मिट्टी होगा?

मुमुक्षु – खाने पर सुख लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – धूल में भी सुख नहीं है। यह तो जानता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। यहाँ तो आत्मा ज्ञान में जानने का स्वभाव है कि यह पेड़ा मीठा है, यह इमली खट्टी है, यह मिर्च चरपरी है, यह मिर्च चरपरी है। मिर्च... मिर्च...! यह तो सब जड़ हैं, रूपी हैं, जड़ हैं, दृश्य हैं। जिसमें रंग, गंध, स्पर्श है। मिर्च में, चरपरे में, पेड़े में, शक्कर में, गुड़ में जड़पना है; रंग, गंध, रस, स्पर्शपना पड़ा है और आत्मा तो रंग, गंध, स्पर्शरहित है, तथापि उस ज्ञान में जैसे रूपी ज्ञात होते हैं, इतना सम्बन्ध है, वह कहीं विरोध को प्राप्त नहीं होता। समझ में आया या नहीं? आहा...हा...! अभी मैं कौन हूँ? और कहाँ हूँ? और क्या होता है? इसका इसे पता नहीं पड़ता और इसे धर्म करना है!

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे आत्मा अरूपी होने पर भी, इस रूपी चीज को जानने का सम्बन्ध है या नहीं? यदि जानने का सम्बन्ध न हो तो यह जान सकता ही नहीं कि यह गुड़ मीठा, यह मिर्ची चरपरी है। यह सब तो जड़ है। यह सब जड़, रूपी, मिट्टी है, जिसे भगवान पुद्गल कहते हैं। आत्मा वह तो जीव है और यह पुद्गल है। पेड़ा, शक्कर, गुड़, रोटी, दाल, भात, शाक, मौसम्बी का पानी, यह सब जड़ है, रूपी है। रंग, गंध, रस, स्पर्शवाली चीज है। आत्मा रंग, गंध, स्पर्श रहित है तो इन रंग, गंध, रस, स्पर्श को जानता है या नहीं? अरूपी, रूपी को जानता है या नहीं? (तो) इतना सम्बन्ध हो गया। समझ

में आया ? न जाने तो यहाँ मीठा कैसे जाना ? अभी तो इस भाई का प्रश्न था कि पेड़ा खाते हैं तो सुख होता है। धूल भी (सुख) नहीं है। यह तो मूढ़ को जानने में आता है कि यह मीठी चीज है। (उसमें) इसे कल्पना होती है कि मुझे ठीक है। यह राग करता है, उस राग को वेदता है, पेड़ा नहीं खाता। कोई जीव तीन काल-तीन लोक में (खाता नहीं)। रोटी, दाल, भात, सब्जी को आत्मा खा नहीं सकता - ऐसा भगवान कहते हैं। मात्र उस काल में ज्ञान उसे जानने पर राग करता है कि यह ठीक है, यह ठीक है, इस राग को वह खाता है। ठीक है ? भाई ! राग खाता होगा ? दुनिया में तो ऐसा कहा जाता है। भगवान ऐसा कहते हैं। सुने तब न ? तुझे पता कहाँ है कि तू क्या खाता है ?

तेरा ज्ञानस्वरूप है। आत्मा चैतन्यसूर्य है। जैसे यह सूर्य परमाणुओं का है, वैसे आत्मा चैतन्यसूर्य है। देह में ढँकी हुई चमड़ी के पीछे अकेला चैतन्यबिम्ब, ज्ञायकमूर्ति आत्मा (विराजमान) है। इस ज्ञान द्वारा उसने जाना कि खट्टा, खारा, मीठा, फीका, चरपरा है इत्यादि। यह सब जड़ है। यह आत्मा चैतन्य और यह जड़; आत्मा अरूपी और यह रूपी; आत्मा अमूर्त और (यह) मूर्त; आत्मा में रस, गंध, स्पर्श नहीं और इनमें रंग, गंध, स्पर्श है, तथापि इस जानने के सम्बन्ध का काम करता है या नहीं ? बस ! जैसे जानने का काम करता है, उतना सम्बन्ध निश्चित हुआ।

जहाँ ऐसा कहा जाता है वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक पदार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है;.... ध्यान रखना ! अभी जानने की बात करते हैं। मीठी, खट्टी, चरपरी चीज है, उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। वह जड़ है और आत्मा अरूपी है, वह रूपी है। दोनों को सम्बन्ध है नहीं। जानने का सम्बन्ध है। **उसका तो मात्र....** अब देखो ! (क्या कहते हैं ?) **मूर्तिक पदार्थ के आकाररूप होनेवाले ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध है....** देखो ! क्या कहते हैं ? कि यह मीठा, यह खट्टा, यह कड़वा — ऐसी चीज है, वह तो जड़ है; उसका यहाँ स्वयं को ज्ञान हुआ, उस सम्बन्धी का अपने में ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ। उस ज्ञान के साथ आत्मा को सम्बन्ध है। समझ में आया ? देखो !

मूर्तिक पदार्थ के आकाररूप.... अर्थात् सामने शक्कर, गुड़, दाल, भात, सब्जी या कोई भी (पदार्थ हो), उसके आकाररूप अर्थात् उसका जो स्वरूप है, ऐसा इसे स्वयं

को ज्ञान होता है। ज्ञान होता है। उस ज्ञान के साथ जीव को सम्बन्ध है। आत्मा को उस ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। कहो, ठीक है ? कहो समझ में आया ?

मैं कौन हूँ ? ज्ञायक। उस ज्ञायक में जो ज्ञात होता है, उस आकार ज्ञान स्वयं के कारण परिणमता है। वह जो ज्ञात होता है, उसके आकार परिणमते ज्ञान के साथ आत्मा को सम्बन्ध है, तथापि **उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही....** यह पदार्थ मीठा है, कड़वा है, खट्टा है, उसका ज्ञान हुआ। वह ज्ञान का आकार तो स्वयं में - आत्मा में होता है, स्वयं आत्मा में (होता है)। **उस पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही....** यह क्या कहा ? पदार्थाकार ज्ञान के साथ के जीव के सम्बन्ध के कारण **'अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थ को जानता है' - ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का सम्बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।....** इसने तो यहाँ ज्ञानाकार ज्ञान किया परन्तु उस ज्ञानाकार में वह निमित्त है; इसलिए ज्ञानाकार ने इसे जाना ऐसा व्यवहार सम्बन्ध सिद्ध होता है। अपने में ज्ञेयाकार हुआ, वह निश्चय सम्बन्ध है। क्या कहा ? निश्चय अर्थात् सत्य। कड़वी, चरपरी, मीठी, दाल, भात को जानता हुआ ज्ञान यहाँ ज्ञानाकार परिणमता है, ज्ञानाकार होता है (अर्थात् कि) उस पदार्थ के आकार ज्ञान होता है। पदार्थ जैसा है, वैसा ज्ञान होता है। वास्तव में निश्चय से तो आत्मा को वह ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ, उसके साथ सम्बन्ध है परन्तु ज्ञेयाकार में ज्ञान ज्ञानाकार हुआ, उसमें वह निमित्त है, इतना सम्बन्ध कहकर आत्मा ज्ञान से रूपी को जानता है - ऐसा व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया ?

पदार्थाकार ज्ञान के साथ के सम्बन्ध के कारण ही 'अमूर्तिक आत्मा'.... यहाँ वह पदार्थाकार ज्ञान हुआ है न ? इसे और उस पदार्थ को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। नैमित्तिक दशा अपने में जानने की हुई, वह (पदार्थ) निमित्त है। ज्ञेयाकाररूप ज्ञान परिणमा उसका सम्बन्ध जीव को है। अपना ज्ञान है इसलिए। अब, ऐसे ज्ञेयाकार में वह पदार्थ निमित्त है; इस कारण ज्ञेयाकार ज्ञान उसे जानता है - ऐसा व्यवहार सिद्ध हो सकता है। कहो, समझ में आया ?

इसी प्रकार, अब यह दृष्टान्त देकर सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। **'अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्गलों के साथ बन्ध है'....** अमुक आत्मा को है न ? सब आत्माओं को

कहाँ है ? **ऐसा कहा जाता है कि 'अमुक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्‌लों के साथ बन्ध है'....** आत्मा को, कर्म के रजकण हैं न ? उनके साथ बन्ध है – ऐसा कहने में आता है न ? **वहाँ परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का....** आत्मा तो अमूर्त है और वे कर्म के रजकण हैं, वे मूर्त हैं, जड़ हैं, मिट्टी हैं–धूल हैं। जैसे यह पेड़ा, दाल, भात, शाक धूल है, वैसे वे रजकण भी धूल है। रुपया क्या है ? रूपी जड़ है। उस रुपये के आकार यहाँ ज्ञान हुआ, उस ज्ञानाकार के साथ आत्मा को सम्बन्ध है परन्तु ज्ञेयाकाररूप ज्ञान हुआ, उसका सम्बन्ध उस निमित्त से है; इसलिए ऐसा कहा कि इस ज्ञान ने उसे जाना।

इसी प्रकार आत्मा ने पुद्‌गल के साथ सम्बन्ध करते हैं। **परमार्थतः अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्‌गलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है;.... आत्मा का तो कर्मपुद्‌गल जिसमें निमित्त हैं....** देखो ! कर्म पुद्‌गल जिसमें निमित्त है (– ऐसा कहा) अर्थात् पूर्व के। क्या कहा ? पूर्व के **कर्मपुद्‌गल जिसमें निमित्त हैं ऐसे रागद्वेषादिभावों के साथ ही सम्बन्ध (बन्ध) है....** जीव का सम्बन्ध किसके साथ है ? यह इसने राग-द्वेष और मलिन मोहभाव किया, उसके साथ इसे सम्बन्ध है। जैसे उस रूपी को जानने के ज्ञेयाकाररूप ज्ञान के साथ आत्मा को सम्बन्ध है, तथापि ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञान उसे निमित्त है; इसलिए पर को जानता है – ऐसा व्यवहार कहा जाता है। वैसे ही आत्मा अरूपी है, उसे मूर्तिक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु आत्मा, राग-द्वेष और मोह – अज्ञान करता है — ऐसे भाव के साथ आत्मा को भावबन्ध-सम्बन्ध है। भावबन्ध का सम्बन्ध है, वह भावबन्ध है। भावबन्ध है — ऐसा निर्णय हो तो फिर उस भावबन्ध को जो नये कर्म आते हैं, उसे वह निमित्त कहा जाता है। इतना बन्ध का सम्बन्ध कहने में आता है।

द्रव्यबन्ध में निमित्त है – द्रव्यबन्ध को भावबन्ध निमित्त है और भावबन्ध में पूर्व के कर्म निमित्त हैं। समझ में आया ? ऐसा नक्की करे कि मुझमें मुझे तो पुद्‌गल जड़ के साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को, आनन्द को अबन्धस्वभावी को भूलकर राग-द्वेष-मोह करे ऐसे भावबन्ध के साथ सम्बन्ध है – बन्ध है। इस विकार के साथ सम्बन्ध है। इस विकार को निमित्त और नये कर्म आना उतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर जीव को रूपी के साथ बन्ध है, सम्बन्ध है — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। क्योंकि परचीज है, इसलिए व्यवहार (कहा है)। समझ में आया ?

यहाँ तो (कहते हैं कि) आत्मा अबन्ध स्वभावी है, उसके भावबन्ध में राग-द्वेष करे, वह भावबन्ध है, उसे द्रव्यबन्ध के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इस प्रकार तीन (बातें) सिद्ध करनी हैं। स्वरूप तो इसका अबन्धस्वरूपी है। वस्तु तो अबन्ध है। चिदानन्द भगवान आत्मा (अबन्धस्वरूप है) परन्तु पर्याय में भावबन्ध को खड़ा करता है — पर्याय में-अवस्था में राग, द्वेष और मिथ्यात्व खड़ा करता है, इससे वह अबन्धस्वभावी होने पर भी, पर्याय में भावबन्ध का सम्बन्ध इसे प्रत्यक्ष दिखता है और यह भावबन्ध, नये कर्म का निमित्त होता है। इस कारण नये बन्ध का निमित्त यह है, इतना सम्बन्ध व्यवहार से सिद्ध होता है। शुद्ध आत्मा के साथ नहीं; विकार के साथ (सम्बन्ध है)।

पूरा आत्मा है, लो! अब इस आत्मा (में) खट्टा, खारा, पूरे आत्मा में ज्ञात हुआ? पूरे आत्मा में एक वर्तमान उस प्रकार का ज्ञेयाकार ज्ञान परिणमा, उतने के साथ आत्मा को पर्याय में सम्बन्ध है और उसके साथ उन खट्टे, खारे का सम्बन्ध है। समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु - आत्मा का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री - उतने ज्ञेयाकार के साथ सम्बन्ध है; पूरे ज्ञान के साथ नहीं। जितना ज्ञेयाकार हुआ इसके साथ उसको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। समझ में आया? इस धूल में क्या है? इस पैसे में, स्त्री में, पुत्र में, मूढ़ ने (सुख) माना है। यही कहते हैं कि पहले निर्णय कर कि मेरे परिणाम में राग, द्वेष, मिथ्याभ्रम होता है, वह भावबन्ध है — ऐसा निर्णय करे तो अबन्धस्वभावी आत्मा की दृष्टि करके मिथ्यात्व का-भावबन्ध का नाश करे तो द्रव्यबन्ध का मिथ्यात्व का नाश हुए बिना नहीं रहे। यह धर्म की रीति है।

पहला इसे वास्तव में बन्धन किसके साथ है? कि वास्तव में बन्ध तो इसे विकारभाव के साथ है। उस विकारभाव में पुराने कर्म निमित्त होते हैं; वह विकारभाव नये बन्ध को निमित्त होता है — इतना सम्बन्ध देखकर आत्मा को जड़कर्म के साथ सम्बन्धरूप बन्ध व्यवहार से कहा जाता है। अब, यह ज्ञान होता है तो इसे वर्तमान में राग, द्वेष और मोह, पुण्य-पाप के भाव और मिथ्यात्वभावबन्ध है। मैं एक शुद्ध चिदानन्द अबन्धस्वभावी आत्मा हूँ। ऐसी दृष्टि होने पर भावबन्ध में मिथ्यात्व का जो बन्ध है, उसका नाश होता है; इससे सामने द्रव्यबन्ध में मिथ्यात्व का भी नाश होता है; नया द्रव्यबन्ध-मिथ्यात्व भी नहीं

आता और स्वरूप की स्थिरता होने पर, राग-द्वेष का अस्थिरता का चारित्रदोष का भावबन्ध था वह स्थिर होने पर नाश होता है, तब चारित्रमोह का जो नया बन्धन था, वह इसे नहीं होता। यह चारित्रमोह का द्रव्यबन्ध भी छूट जाता है। यह क्रिया (सच्ची) है परन्तु इसे ख्याल में न आवे और बाहर से (धर्म) मानता है। अनादि से भटका करता है। चौरासी के अवतार में अनन्त बार दुर्जन हुआ, अनन्त बार स्वजन हुआ, राजा हुआ, देव हुआ, निगोद अनन्त बार हुआ। उसमें कहीं सुख है नहीं। चार गति में अकेला दु:ख, दु:ख और दु:ख है। कहो, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु – यह तो व्यवहार सिद्ध किया।

पूज्य गुरुदेवश्री – व्यवहार सिद्ध करके वापस अशुद्ध निश्चय सिद्ध किया। अशुद्ध निश्चय सिद्ध किया, उसके साथ व्यवहार सिद्ध किया। अशुद्ध निश्चय सिद्ध करके शुद्ध निश्चय का आश्रय ले तो अशुद्ध निश्चय के बन्ध का नाश हो तो कर्म तो अपने आप नाश हो जाये। इसमें सब शामिल है।

कहने का प्रयोजन क्या है इसमें ? अकेली यह बात समझाना वह प्रयोजन है ? इसमें प्रयोजन यह है कि विकाररूप तू परिणमता है, तब नये कर्म आते हैं, इतना व्यवहार सम्बन्ध है। अब विकाररूप तू परिणमता है, तब तुझे यदि धर्म करना हो; प्रयोजन तो यह भावबन्ध का अंश जो है, उतना आत्मा नहीं। आत्मा त्रिकाल ज्ञायक आनन्दमूर्ति है – ऐसी महान सत्ता की श्रद्धा करके और अल्प भावबन्ध का जो मिथ्यात्वभाव है,उसका नाश कर – यह इसके कहने का प्रयोजन है। समझ में आया ?

भावबन्ध या द्रव्यबन्ध किस प्रकार नाश होता है ? कि ये भावबन्ध के राग-द्वेष के परिणाम, इन राग-द्वेषरहित आत्मा के त्रिकाली स्वभाव का आश्रय कर तो भावबन्ध का उतना नाश हो, तो उतना द्रव्यबन्ध भी तुझे न हो। पूर्ण स्वभाव का आश्रय करके स्थिरता करे तो भावबन्ध बिल्कुल उत्पन्न न हो तो नवीन कर्म बिल्कुल न आवे। यह आत्मा का भेदज्ञान है। इसका नाम भगवान, धर्म कहते हैं, भाई !

वीतराग त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि तू भावबन्ध को पहिचान; पुण्य-पाप के भाव तो भावबन्ध है। यहाँ तो अभी (अज्ञानी ऐसा मानता है कि)

पुण्य का भाव हो, (उससे) मुझे धर्म होता है। अभी भावबन्ध को पहिचाने नहीं, वह धर्म करने कैसे तैयार हो?

...शुभ और अशुभराग, दोनों आस्रव हैं, क्योंकि बन्ध सिद्ध करना है न? शुभ और अशुभराग दोनों भावबन्ध हैं। अब, भावबन्ध है, उससे धर्म कैसे हो? वह तो विकार है। वह भावबन्ध एक समय की दशा में है। उसे नये जड़कर्म का बन्ध निमित्तरूप से सम्बन्ध है। इन दोनों को पहिचानकर, मेरा स्वरूप ज्ञायक चैतन्य है, शुद्ध है, पवित्र है (-ऐसे) पूरे पूर्ण स्वभाव को दृष्टि में लेकर और दृष्टि उसमें एकाकार होवे तो भावबन्ध में जो मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती थी, वह उत्पत्ति नहीं हो; उसे सम्यग्दर्शन-धर्म कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

यह वीतराग कहते हैं, वह तत्त्व पहिचाने नहीं - छह द्रव्य, नव तत्त्व, पंचास्तिकाय परमेश्वर क्या कहते हैं? (इसका पता न हो और माने कि हम) वाड़ा में जन्में, इसलिए जैन हैं, लो! परन्तु परमेश्वर जैन क्या कहते हैं - इसका पता नहीं होता। थैली में चिरायता भरा हो और नाम लिखे शक्कर, तो चिरायता कड़वा मिट जाएगा? चिरायता समझते हैं? यह बुखार (आवे तब) नहीं देते?

मुमुक्षु - अब वह कौन देता है, दवा के ढेर हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री - अब तो ढेर हो गये। सीधे इंजेक्शन (दे देते हैं)। ये डॉक्टर इंजेक्शन (दे देते हैं)। कुछ लगे तो इंजेक्शन, अमुक - तो कहे इंजेक्शन! परन्तु कितने इंजेक्शन?

मुमुक्षु - परन्तु तुरन्त मिटा देते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री - धूल में भी मिटता नहीं। एक में से दूसरा हो, तीसरा हो। उस समय तात्कालिक (अच्छा) लगता है, फिर अन्दर दूसरा (रोग खड़ा होता है)। वह कृत्रिम दवा ऐसी है। उस दवा से भी कहाँ मिटता है? वह तो परमाणुओं की पर्याय पलटने की हो तो पलटे। अब तो ऐसे कृत्रिम हो गये न, इंजेक्शन लो, नहीं तो धतूरा होगा।

मुमुक्षु - परन्तु किसी-किसी को होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री - अरे...! दश वर्ष में किसी को हो। किसी दिन किसी को हो,

उसमें उसे (इंजेक्शन)लगा देते हैं! दश हजार में किसी को हो, उसमें सबको लगा देते हैं! यह तो होना हो ऐसा होता है। असाता का उदय जिस प्रमाण हो (और) उसकी पर्याय होने की हो, उसमें कुछ पलटता है?

यहाँ कहते हैं कि तू पलट जा! रोग के काल में शरीर का रोग हो। समझ में आया? सुलटा पुरुषार्थ करना। आँख बन्द करके कहीं कुँए में छलांग मारता है? कहते हैं न, क्या कुएं में ऐसे पड़े (है न)? मोट से पानी निकालनेवाला! कुएं में मोट पड़ती है न? कुएं में पड़े ऐसे इसमें पड़ना है? यह आत्मा क्या है? भगवान केवलज्ञानी क्या कहते हैं? कि अरे...! तेरे आत्मा में तो अनन्त आनन्द और शान्ति पड़ी है! तू वहाँ नजर करता नहीं और जो यह विकार है, वहाँ नजर करके पड़ा है; उसके कारण हैरान-हैरान हो रहा है, ऐसा कहते हैं। इस शरीर में कुछ होवे तो (ऐसा कहे कि) ऐसा हुआ। यह तो धूल है। होता है (और) होने के काल में हुए बिना रहेगा नहीं। ऊपर से इन्द्र उतरे तो भी हुए बिना नहीं रहेगा, ले! इस शरीर में, और राग के काल में राग होगा, परन्तु अब तुझे नजर कहाँ करनी है? राग पर? शरीर पर? कि अन्दर रागरहित चिदानन्दमूर्ति आत्मा है, उस पर नजर डाले, उसे सन्तोष और शान्ति मिले ऐसा है; बाकी धूल में भी कहीं मिले ऐसा नहीं है। सब करोड़पति, राखपति, धूलपति मर गये! कुछ साथ लेकर गये नहीं, भाई! धूल ले जाए? राग करके चले जाए! भटको चार गति में! समझ में आया? अनादि-अनन्त आत्मा है। आत्मा कहीं शरीर के साथ नाश हो - ऐसा है?

कहते हैं कि यह एक बार पहिचान कि तुझे बन्धन किसका? और व्यवहार बन्धन कैसे कहलाता है? वह यहाँ कहना चाहते हैं। तुझे भाव विकार का बन्धन है। राग और द्वेष, परवस्तु को कर दूँ, पर का भला-बुरा करूँ; पर से मुझमें भला-बुरा हो, शरीर अच्छा हो तो मुझे ठीक पड़े - ऐसी मिथ्यामान्यता का तुझे बन्धन और उसका तुझे दु:ख है। उस दु:ख में निमित्त नये द्रव्यकर्म का सम्बन्ध आवे, उतना उसे व्यवहार सम्बन्ध कहा जाता है। दु:ख मिटाना हो, पर्याय में दु:ख है, उसे मिटाना हो तो स्वभाव पर दृष्टि कर - ऐसा है।

'औषध विचार ध्यान' - नहीं आता? 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजाण, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान।' विचार और ध्यान अर्थात् अन्दर

आत्मा का विचार और ध्यान करना, वह गुलांट खाने का रास्ता है। यहाँ मकड़ी की जाल की तरह बाहर ही बाहर में भटका करता है। ऐ... ऐसे से ऐसे और ऐसे से ऐसे और ऐसे से ऐसे... फिर ऐसा करूँगा, फिर ऐसा करूँगा, फिर ऐसा करूँगा...

एक व्यक्ति की पगड़ी खो गयी थी, (ऐसी बात) लड़कों में आती है न? नहीं आता? ए... यह पड़ी? पड़ी क्या? सिर से नीचे पड़ी। हाथ क्या आवे तुझे? तेरी है वह तो... ऐसे यह विचार करे उसमें घोड़ा दौड़े-उसका ऐसा होगा और फिर ऐसा होगा, फिर लड़के करूँगा, फिर ऐसे कमाऊँगा, फिर उनके लड़के होंगे, उनके लड़के होंगे... वे बुलायेंगे, बापू! पूआ खाने चलो! तब यह कहे नहीं... नहीं, नहीं... वहाँ वह पुआ सिर पर गिरा... घी का था न घी का? घी का पुआ गया नीचे! यह आता है न कथा में? सिर पर पुआ था, उसमें तीन आने की मजदूरी थी। अब अभी बढ़ गये हैं। उन तीन आने का, फिर ऐसा लूँगा, फिर लूँगा बकरी, और उसमें से पाँच सेर दूध होगा और पाँच सेर दूध में से पैसा कमाऊँगा और उसमें से बारह महीने में तीन सौ रुपये बढ़ेंगे, उसमें से फिर गाय लूँगा और गाय में से भैंस लूँगा, भैंस में से स्त्री लूँगा, और स्त्री से लड़के होंगे और लड़का पुआ करके बुलाने आयेगा! वहाँ तक गया! फिर (लड़का) कहे पुआ हुआ है। चलो बापू! तो कहे ना, ना; वहाँ पड़ा सिर पर! तीन आने भी गये और सब गया। वैसे ही यह कल्पना के घोड़े दौड़ाता है। भगवान चिदानन्द मूर्ति प्रभु नित्य आनन्दकन्द आत्मा है, उसका पता नहीं। पर्याय में (जुड़ा है) फिर ऐसा हुआ और मुझे अब ठीक आया, अब इस लड़के ने ऐसा किया, और ऐसा किया उसमें से बी.सी. करता था, उस लड़के को पाँच लाख मिलेंगे, अब इसकी आशा....

मुमुक्षु - है ऐसा ही परन्तु....

पूज्य गुरुदेवश्री - ऐसा ही है न परन्तु! एक जोशी कहता था कि तुम्हारे लड़के के घर हाथी आयेगा, धूल भी हाथी नहीं आया और वह का वह वेतन और वह का वह सब। ऐसे के ऐसे पूरी जिन्दगी (निकाली।) लो! एक जोशी ने उससे कहा कि तुम्हारे बड़े लड़के को पाँच लाख मिलेंगे। ओ...हो...हो...! फिर दौड़ाये घोड़े! (मान में फूल जाए।) धूल में, अभी नोकरी करता है। वह करके मर गया। जगत की ममता... ममता... ममता...

यहाँ यह कहते हैं कि इस ममत्व का तुझे बन्धन है। इसके कारण वास्तव में बन्धन पर का तो नहीं परन्तु ममत्व का निमित्त और नये कर्म का सम्बन्ध देखकर अरूपी का रूपी के साथ व्यवहार सम्बन्ध का बन्ध है — ऐसा कहा जाता है और ऐसा कहने का आशय (यह है कि) भावबन्ध को तोड़ और स्वभाव की दृष्टि कर। तब तुझे प्रयोजन सिद्धपने होगा। विचार... विचार... निर्विकारी आत्मस्वरूप है, उसकी पहचान कर, उसकी श्रद्धा कर। विकारीरूप मैं हूँ, इतनी दृष्टि भावबन्ध की परिणमी है और फिर राग-द्वेष का भाव रहेगा, उतना नये कर्म के साथ जानने योग्य सम्बन्ध है। स्वरूप की स्थिरता होने पर राग-द्वेष मिटकर नया बन्ध नहीं होगा। अकेला अबन्धस्वभावी है, वैसा पर्याय में प्रगट होगा और उसे केवलज्ञान कहा जाता है। कहो समझ में आया इसमें?

आत्मा का तो कर्मपुद्‌गल जिसमें निमित्त हैं, ऐसे रागद्वेषादिभावों के साथ ही सम्बन्ध (बन्ध) है.... देखो! कोष्टक में बन्ध कहा है, सम्बन्ध का अर्थ बन्ध किया है। **और उस कर्मनिमित्तक रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध होने से ही 'इस आत्मा का मूर्तिक कर्मपुद्‌गलों के साथ बन्ध है' ऐसा अमूर्तिक-मूर्तिक का बन्धरूप व्यवहार सिद्ध होता है।** कितनी बात सिद्ध की है! समझ में आया?

मुमुक्षु - व्यवहार से तो है....

पूज्य गुरुदेवश्री - पर के साथ धूल में भी कोई सम्बन्ध नहीं है... व्यर्थ में मर जाता है, अब आया, देखो!

यद्यपि मनुष्य को.... अब आया, लो, आया! भाई! सुनना! **स्त्री-पुत्र-धनादि के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है,...** राग के कारण स्वयं वहाँ जाता है। कहो समझ में आया? आहा...हा...! वह दृष्टान्त नहीं देते? (एक भाई) घर में से क्रोधित हुआ और गया बाहर, अब उसे (वापस) बहुत जाना, परन्तु करना क्या? फिर उसके घर की पाड़ी बाहर घूमती थी, एक दिन, दो दिन, खाने को नहीं मिला, क्रोधित होकर भागा था, (उसे ऐसा लगा) बाहर निकला, अब वापस आना किस प्रकार? उस घर की पाड़ी घूमती थी, उसकी पूंछ पकड़ ली, वह पाड़ी दौड़कर आयी; (इसलिए उस भाई ने कहा) यह पाड़ी मुझे घर में लायी। यह पाड़ी किसी भी प्रकार मानती नहीं थी, परन्तु तूने पूँछ पकड़ी

(और) पाड़ी घर की थी तो घर में दौड़कर आयी। (उन भाई को) घर में आकर खाना था और दूसरे का मनाया माने ऐसा नहीं था, अपने आप (आया) भूख बहुत लगी थी न!... (फिर कहे) यह पाड़ी मानती नहीं, हाँ! यह पाड़ी मुझे पकड़कर लायी। परन्तु तूने पूँछ किसकी पकड़ी थी... ?

इसी प्रकार यह मेरा पुत्र मेरे गले पड़ा है, हाँ! यह स्त्री ऐसे गले (पड़ी है) अरे... मूढ़! तू चिपटा – ऐसा कह न! व्यर्थ में क्यों लगा है ? ठीक है। इस लड़के साथ मुझे ऐसा प्रेम है... ऐसा करके मूढ़ राग की पूँछ पकड़ता है। यह... लड़के के साथ चाहे जिस प्रकार मुझे अलग पड़ना पड़े तो इसके साथ मैं रहूँगा... कहो, समझ में आया ?.... मुझे अलग करने का होगा, चार लड़के हैं तो इस लड़के के साथ मुझे रहना है। इसलिए ऐसा करके पहले राग बाँधे तो उसे अनुकूलता मिले, यह राग का मारा, उसके साथ सम्बन्ध करता है (परन्तु) इसे और उसे कुछ सम्बन्ध है नहीं। समझ में आया ?

यद्यपि मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि.... आदि अर्थात् घर, आदि शब्द पड़ा है न ? **धनादि....** इस घर के साथ, गहनों के साथ, वस्त्र के साथ, पाड़ा-पाड़ी के साथ, इसके घर के घोड़ा-घोड़ी के साथ, मोटर के साथ **वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है,...** कहाँ वह चीज और कहाँ तू ? तुझे और उसके क्या (सम्बन्ध है) ? वे उनके कारण पलटती चीजें वहाँ रहें, तू तेरे कारण (रहे), दोनों का कोई सम्बन्ध है नहीं। शरीर भी इसमें साथ लेना, हाँ! आदि में शरीर लेना, मनुष्य को स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, शरीर, घोड़ागाड़ी, मोटर (के साथ) **वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है,...**

वे उस मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं,... भिन्न – अत्यन्त भिन्न हैं न ? **तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करनेवाले मनुष्य को....** देखा! **राग करनेवाले मनुष्य को....** ऐसा (कहा है)! राग करता है। **राग का बन्धन होने से....** देखो, उसे बन्धन किसका है ? राग का, पर का नहीं। (अज्ञानी ऐसा कहता है कि) मुझे अब बहुत धर्म करना है परन्तु यह एक छोटा लड़का है, अभी आठ वर्ष का हुआ है, नयी (स्त्री का) है। और पुरानी का लड़का इसे (निवाह करेगा) या नहीं (कौन जाने) क्या करेगा ? यह एक गले पड़ा है। यह तुझे गले नहीं पड़ा, राग गले पड़ा है – ऐसा कह न! यह कहाँ व्यर्थ की

मूढ़ता का सेवन करता है ? इसके कारण मुझे ऐसा है – एकदम खोटी बात है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इसे एक लड़की हो, सोलह-सत्रह वर्ष की लड़की (है मैं) उसका ध्यान न रखूँ तो उसका क्या होगा ?... वह यदि ठिकाने पड़े न... वहाँ दूसरा जागेगा। यह तो तेरे घर में होली सुलगती ही रहेगी। आत्मा कौन है ? इसके भान बिना इस तृष्णा के दौर तूने अनन्त बार सेवन किये। इसके कारण नये कर्म का सम्बन्ध हुआ और उसके कारण चार गति में परिभ्रमण किया। समझ में आया ?

तथापि स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति राग करनेवाले मनुष्य को.... राग करनेवाले मनुष्य को, हाँ ! न करे उसे कुछ नहीं। **राग का बन्धन होने से....** अज्ञानी को तो राग का बन्धन है; उन स्त्री-पुत्र का कोई बन्धन नहीं। राग करता है, इससे राग का बन्धन है और उस राग में वे स्त्री-पुत्र निमित्त हैं, बस ! वे तो राग में निमित्त हैं।

व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जाता है कि 'इस मनुष्य को स्त्री-पुत्र-धनादि का बन्धन है';.... व्यवहार से कहने में आता है कि इसे स्त्री-पुत्र का बन्धन है। क्या करे ? छोटे लड़के, उनकी माँ मर गयी, अब यह सब (कैसे करना) ? वास्तव में तो उसे राग का बन्धन है; उनका बन्धन नहीं। राग के बन्धन में वे निमित्त हैं; इसलिए व्यवहार से कहने में आता है कि इसे उनका बन्धन है। समझ में आया ?

इसी प्रकार, यद्यपि आत्मा का कर्मपुद्गलों के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है,.... आत्मा अरूपी (है और) परमाणु जड़, मिट्टी-धूल है। लोगस्स में आता है न ? भाई ! 'विहुयरयमला' लोगस्स में आता है। 'ऐव भये अभिथुआ, विहुयरयमला' अर्थ भी समझते नहीं। एक विवाद था।

एक बुढ़िया लोगस्स बोलने लगी। दशाश्रीमाली की बाई बोलती थी, विसारोईमल्या ! परन्तु ए... लोगस्स में विसारोईमल्या कहाँ से आया ? लोगस्स में उज्जोअगरो धम्मतित्थयहे जिणे। लोगस्स में आता है न ? भगवान की स्तुति ! इच्छामि पडिगमणा... लोगस्स में आता है। परन्तु भान नहीं होता, बैठे वह बैठे... उन दो को विवाद (था।) विसारोईमल्या ! ये विसारोईमल्या कहाँ से आया ?....

विहुपरयामल्या अर्थात् कि विहुप अर्थात् टाले हैं। हे भगवान ! वीतरागदेव ! आपने

टाले हैं। रजमल – रज अर्थात् आठ कर्मों की धूल। रज है न ? रय... रय! (अर्थात्) आठ कर्म की धूल, मल अर्थात् राग, द्वेष, और मोह। राग, द्वेष और मोह अरूपी मैल है। उसे हे नाथ! आपने मिटाया। अन्दर रजकण (है) उन्हें (आपने टाले)। ऐसे अर्थ का भी कुछ पता नहीं पड़ता। सत्तर वर्ष हों तो भी पहाड़े बोलते जायें... भाई! अर्थ आता है ?... हम सामायिक करके बैठे थे। कितनी की ? एक आसन में पाँच! अर्थ आता है ? तो कहें नहीं; (तो) भाव बिना तेरी सामायिक कहाँ से आयी ?... कुछ पता नहीं पड़ता कि क्या है यह ?

आत्मा क्या है ? यह विकार क्या है ? इस संसार का निमित्त क्या है ? बन्ध क्या है ? इसकी स्वतंत्रता क्या है ? यह बन्ध कैसे मिटे ? इसके ज्ञान बिना धार्मिक क्रिया किसके आश्रय से करेगा ? जहाँ आत्मा स्वभाव से पवित्र है, विकार क्षणिक है, कर्म के साथ निमित्त सम्बन्ध है, इतना ज्ञान हुए बिना भावबन्ध को टालने के लिये स्वभावसन्मुख की वृत्ति करना, वह इसे सूझ नहीं पड़ेगी और सूझ पड़े बिना मिथ्यात्व कभी मिटेगा नहीं; मिथ्यात्व मिटे बिना कभी धर्म होगा नहीं, भाई! कितनी सामायिक की थी ? नहीं ? आसन बिछाकर (बैठ जाये और माने कि) सामायिक की! पहाड़े बोले, भाई! णमो अरिहंताणं... भाई! वह तो शुभराग है, सुन न! और यह जड़ की क्रिया मैं करता हूँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है। ऐसे कण्ठस्थ करना और माला फेरना, यह तो जड़ की क्रिया है, यह तो मिट्टी है। उसके आकाररूप तेरा ज्ञान हो, ध्यान (हो) उसमें तू माने कि यह मेरे कारण होता है तो मिथ्यात्व होता है। यह मिथ्यात्व का भावबन्ध है, उसे जड़बन्ध का निमित्तपना है, नया बँधता है इसलिए इतना व्यवहार कहने में आता है। यह व्यवहार-अशुद्ध निश्चय का बन्धन तोड़ना हो तो शुद्ध स्वभाव कौन है ? किस प्रकार है ? कैसा है ? कहाँ है ? कैसे है ? इसका ज्ञान करके, इसका बहुमान होकर, उसमें अन्तर्दृष्टि करे, तब उसे भावबन्ध में मिथ्यात्व का नाश हो, यह धार्मिक क्रिया है, दूसरी कोई क्रिया है नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु – भाव करे।

पूज्य गुरुदेवश्री – दूसरा क्या करे ? ऐसे पत्र आवें वहाँ ऐसा हो जाये कि ओ...हो...! अपने को लड़का सम्हालता है, हाँ! परन्तु तुझे उसमें क्या लड्डू हुए ?

प्रश्न – मजा आता है वह लड्डू नहीं।

समाधान – राग हुआ, यह तो कहा। तूने राग किया, उस राग में वह निमित्त पड़ा; इसलिए ऐसा (हुआ) कि इसके कारण मुझे राग हुआ। राग हुआ है तेरे कारण; पर के कारण नहीं। समझ में आया?

वे आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं,.... कौन? यह पुद्गल, नये जड़कर्म, **तथापि रागद्वेषादि भाव करनेवाले आत्मा को रागद्वेषादि भावों का बन्धन होने से....** अर्थात् आत्मा को पर्याय में राग-द्वेष का सम्बन्ध होने से। **उन भावों में कर्मपुद्गल निमित्त होने से....** वे पुराने (कर्म निमित्त होने से), यहाँ तो ऐसा लिया है। **उन भावों में कर्मपुद्गल निमित्त होने से व्यवहार से ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि 'इस आत्मा को कर्मपुद्गलों का बन्धन है।'** व्यवहार से कहा जाता है कि उसका बन्धन है या यह जड़ का होता है। पर के साथ सम्बन्ध है, वह व्यवहार है। वास्तव में तो विकारभाव का ही बन्ध और सम्बन्ध है। इसके प्रदेश में, इसके भाव में यह है – ऐसा इसे यहाँ बतलाया है। कहो समझ में आया इसमें?

सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं हो सकती। जैन सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव के अतिरिक्त ऐसी चीज कहीं हो (सकती नहीं)। आत्मा और उसे भावबन्ध तथा नये परमाणु का बन्ध और उसमें निमित्त तथा भावबन्ध के साथ सम्बन्ध और वह व्यवहार सम्बन्ध तथा निश्चय में सम्बन्ध नहीं और.... यह बात सर्वज्ञ के सिवाय, वीतरागमार्ग के सिवाय तीन काल-तीन लोक में कहीं नहीं हो सकती। ऐसा इसे ज्ञान करके आत्मा की ओर दृष्टि करने, स्वभाव का माहात्म्य करने के लिये यह बात कही गयी है। समझ में आया?

१७४ (गाथा पूरी) हुई। यह बात तो टीका में कल आ गयी थी। (भावार्थ में) खुलासा-स्पष्टीकरण किया है। टीका में बहुत सरस स्पष्टीकरण किया है।

गाथा - १७५

अथ भावबंधस्वरूपं ज्ञापयति -

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रञ्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो।।१७५।।

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तैः स बंधः।।१७५।।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैःपरप्रत्ययै-रपि मोहरागद्वेषैरुपपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति।।१७५।।

एवं शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमागाथा, मूर्तिरहितजीवस्य मूर्तकर्मणा सह कथं बंधो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया, तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थलं गतम्। अथ रागद्वेषमोहलक्षणं भावंबधस्वरूपमाख्याति - **उवओगमओ जीवो** उपयोगमयो जीवः, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबंधवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणतः सन्। किं करोति। **मुज्झदि रञ्जेदि वा पदुस्सेदि** मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेषं करोति। किं कृत्वा पूर्वं। **पप्पा** प्राप्य। कान्। विविधे विसये निर्विषयपरमात्मस्वरूप-भावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान्। जो हि पुणो यः पुनरित्थंभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुटं, तेहिं संबंधो तैः संबंद्धो भवति, तैः पूर्वोक्तरागद्वेषमोहैः कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहितजीवस्य शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो भवतीति। अत्र योऽसौ रागद्वेषमोहपरिणामः स एव भावबंध इत्यर्थः।।१७५।।

अब, भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हैं –

उपयोग आत्मक जीव पाकर, विविध विषयों को अरे!।
मोह राग अरु द्वेष करता, कर्म से बँधता खरे!॥

अन्वयार्थ : [यः हि पुनः] जो **[उपयोगमयः जीवः]** उपयोगमय जीव **[विविधान् विषयान्]** विविध विषयों को **[प्राप्य]** प्राप्त करके **[मुह्यति]** मोह करता है, **[रज्यति]** राग करता है, **[वा]** अथवा **[प्रद्वेष्टि]** द्वेष करता है, **[सः]** वह जीव **[तैः]** उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेष के द्वारा) **[बन्धः]** बन्धरूप है।

टीका : प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप है।) उनमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है, वह आत्मा - काला, पीला, और लाल आश्रय[१] जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और लालपन के द्वारा उपरक्त स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति - पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी, मलिन, कलुषित,) आत्मस्वभाववाला होने से, स्वयं अकेला ही बन्ध (बन्धरूप) है, क्योंकि मोहरागद्वेषादिभाव उसका द्वितीय[२] है॥१७५॥

प्रवचन नं. १८३ (B*) का शेष कार्तिक कृष्ण ११, सोमवार, ११ नवम्बर १९६३

अब, भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हैं- देखो! भावबन्ध है न? आत्मा में बन्धन तो उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व का बन्धन है। राग करता है, उसका इसे बन्धन है। जड़ का बन्ध तो व्यवहार से है। यह भावबन्ध इसे पहचानना चाहिए या नहीं?

प्रश्न - .... उसका क्या करना?

समाधान - उसकी बात ही कहाँ है? तू भावबन्ध करता है, देखो! इसमें यह लिया, दूसरे के कारण हुआ यह बात भी यहाँ कहाँ है? यहाँ तो ज्ञेय अधिकार है; इसलिए तेरा ज्ञेय, तेरी पर्याय में विकार करके अटके, वह भावबन्ध तेरे ज्ञेय में तेरे कारण से है,

१. आश्रय = जिसमें स्फटिकमणि रखा हो वह पात्र।
२. द्वितीय = दूसरा ['बन्ध तो दो के बीच होता है, अकेला आत्मा बन्धस्वरूप कैसे हो सकता है?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि - एक तो आत्मा और दूसरा मोहरागद्वेषादिभाव होने से, मोहरागद्वेषादिभाव के द्वारा मलिनस्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भावबन्ध है।]

परद्रव्य के कारण से नहीं – ऐसा तो यहाँ सिद्ध करना है। उसे तो यहाँ व्यवहार कहा, यह कोई जानपना करना नहीं और ऐसी की ऐसी जिन्दगी (पूरी) हो जाये। कुछ थोड़ा किया (ऐसा) मानकर... थोड़ा विचार कर-मानकर... अरे... ! कहीं शान्ति दिखती नहीं। अरे... ! कहाँ जाना इसमें ? उसमें छह महीने, बारह महीने, दो वर्ष यदि शरीर की (जीर्णता के कारण) एक बिस्तर पर सोना पड़े... और पूरे दिन फिर कितने ही सम्हालनेवाले हों ? कोई कहीं चला जाये, कोई कहीं चला गया हो, दो-दो तीन-तीन वर्ष तक बीमारी चले और धीरे-धीरे उसमें भराव हो, एकदम शरीर गिरे नहीं, वह इसे (कठिन पड़ता है) अरे...रे ! कहाँ हूँ ? परन्तु कहाँ है ? सुन न ! देख तो सही अन्तर (आत्मा है)। फिर ऐसे नजर करे (और बोले) हमने कमा-कमाकर बड़ा किया और तुम्हें कुछ (पड़ी नहीं) उनके प्रति द्वेष करे। भाई ! परन्तु तेरी ममता के कारण तुझे दु:ख है; शरीर के कारण नहीं, सेवा नहीं करते उसके कारण नहीं। हे... हमारा शरीर टूट गया, साठ वर्ष हुए कमा-कमाकर दिया, लड़कों को सबको बाँट दिया और सब अपना करते हैं, मेरे सामने कोई देखता नहीं। कमरे में पड़े हैं ऐसे खाट पर पड़े हैं।

हमें तो बहुत देखने को मिला होता है न ? अस्सी-अस्सी वर्ष के बूढ़े, लड़के बड़े गाँव में व्यापारी (होवे) सब अलग, बुढ़िया-बूढ़ा अलग (फिर बोले) महाराज ! ये लड़के हैं, बड़ी दुकान है परन्तु हमें रोटियाँ भी नहीं खिलाते... इतने तुम्हारा पुण्य। जाति में होशियार कहलाते हैं, पाँच-पाँच सौ, हजार-हजार रोजाना कमाते हैं। पुण्य कम हो तो लड़कों को क्या भाव होगा ? हम अस्सी वर्ष के हुए, घर के बड़े लड़के... तीन-तीन बड़ी दुकानें चलती हैं... हम दो बुढ़िया-बूढ़े अलग और हमें पकाने का... समाधान करो कि कोई किसी का नहीं। तुमने किसी के लिये किया नहीं था, तुम्हारे राग के लिये तुमने किया था। उसे राग नहीं है, इसलिए नहीं करता...

निरालम्बी आत्मा हूँ। अहो ! मेरी चीज में आनन्द (है ऐसा) भगवान कहते हैं परन्तु मुझे भासित होता है। क्योंकि यह दु:ख की अवस्था है वह कृत्रिम है, क्षणिक है, उपाधि है और इस अवस्था के पीछे पूरा आनन्द पड़ा है, उस आनन्द पर नजर कर तो तुझे समाधान हो जायेगा। यह सेवा करने आये, नहीं आये; मैंने इनका किया था (ऐसा नहीं

होता)। तूने राग का किया था, मरने तक राग का किया था। ठीक होगा? भाई! इसके लिये तो यह बात करते हैं, स्त्री पुत्र का दृष्टान्त दिया कोई तेरे नहीं, व्यर्थ में किसका डूबा? तेरे राग को लेकर सब कल्पना के घोड़े, शेखचिल्ली की तरह दौड़ाये। वह जब मरने का समय आया... अरे... आहा...हा...! बापू! यह खड़ा नहीं होता, यह शरीर ऊँचा नहीं होता।

एक बुढ़िया मर रही थी (उसे) कीड़े पड़े थे, मर जाने के बाद बड़ा मरणभोज किया। लड्डुओं का मरणभोज किया। लोगों में बातें चलती हैं या नहीं? लड्डुओं का भोजन! मरी तब नीचे गद्दा गादला भी नहीं, बिस्तर और उसी में पेशाब और पानी और उसमें कीड़े पड़े। लम्बा चला तो लड़के कहाँ तक करें? ऐसे के ऐसे (मर गयी) फिर बाद में मरणभोज करो दो लाख खर्च करके तो पहला धुल जाये। ये सब राग के मारे (करते हैं)। क्योंकि बाद में लड़के बरे, नहीं तो लड़के बरे नहीं। वह कहीं बुढ़िया के लिये नहीं करते, राग और द्वेष के कारण करते हैं और मानते हैं कि इनके लिये करते हैं और इनके लिये करते हैं। कहते हैं कि तुझे बन्धन तेरे राग-द्वेष का है, जड़ का नहीं। यह स्त्री-पुत्र का भी तुझे बन्धन नहीं है - ऐसा पहले पहचान तो सही। सुनायी देता है या नहीं? १७५ (गाथा)

अब, भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हैं -

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो।।१७५।।

उपयोग आत्मक जीव पाकर, विविध विषयों को अरे!।
मोह राग अरु द्वेष करता, कर्म से बँधता खरे!॥

हे जीव! तेरे राग-द्वेष और अज्ञान का तुझे बन्धन है, भाई! यह जड़ का बन्धन कहना व्यवहार है। यह तुझे पता पड़े बिना तेरी स्वतन्त्रता को कौन सम्हालेगा? समझ में आया? इसके लिए भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं।

कहते हैं **प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है,....** देखो! भगवान आत्मा तो ज्ञानदर्शन का पिण्ड आत्मा है। उसके मूल स्वभाव में तो राग-द्वेष और अज्ञान है ही नहीं। ठीक है? भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हुए ऐसा कहते हैं कि पहले तो यह आत्मा कौन है? क्या है? तुझे पता है कि तू कौन है? भगवान जाने, इसमें कुछ है। यह हिले-

चले वह आत्मा... हिले-चले कौन ? वह तो जड़ हिलता-चलता है। बोले वह आत्मा... वाणी बोले वह तो जड़ बोलता है। तू बोलता है ? तू तो अन्दर ध्रुव आत्मा है। आत्मा अर्थात् सर्व उपयोगमय।

क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप है।).... देखो! यह आत्मा की व्याख्या की। आत्मा अर्थात् कर्म नहीं, शरीर नहीं, स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, कुटुम्ब नहीं। यह राग-द्वेष के भाव, वह भावबन्ध आत्मा है नहीं। आत्मा होवे तो उसमें से पृथक् पड़े नहीं। राग और द्वेष, वह आत्मा नहीं है। उसकी विपरीत दशा वह आत्मा नहीं है। **आत्मा सर्व ही उपयोगमय है,....** देखो! भाषा कैसी ली है! **'अयमात्मा सर्व एव तावत'** ऐसा है न ? **तावत!** प्रथम, मुख्य रकम तो यह है कि... बनिये मुख्य रकम कहते हैं या नहीं ? मूल रकम लाओ न, ब्याज तो खाया, तू रुपया ला। पाँच लाख उस दिन दिये थे। बीस वर्ष से (दिये थे) अब रुपये ला, मूल रकम ला। वैसे ही यहाँ भगवान कहते हैं कि मूल रकम तू कौन है ? अन्दर में तू है कौन मूल रकम ? कि जानने-देखने के स्वभाव की चीज वह तू आत्मा है। कहो समझ में आया ? यह राग-द्वेष आत्मा का स्वरूप नहीं। स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये। मरे तब वहाँ होवे भी सही और न भी हों...

(लड़के) साथ हों तो भी एक दूसरे को कोई सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहते हैं। परन्तु सम्बन्ध किसका ? वे ज्ञान में ज्ञात हों — ऐसा ज्ञेयाकार की पर्याय में निमित्त का इतना सम्बन्ध, परन्तु स्वयं को सम्बन्ध तो उस सम्बन्धी का ज्ञान हुआ उसका। उसका यह राग करे कि यह मेरा है और यह मेरा है और यह तेरा। उसे भाव सम्बन्ध है। वह आत्मा का स्वरूप है नहीं। आहा...हा...! देखो न! भाषा कैसी की! **सर्व एव**

आहा...हा...! यहाँ तो सर्व आत्मा। सर्व अर्थात् ? वस्तुरूप से अन्दर आत्मा जिसे कहते हैं, वह तो ज्ञान और दर्शन का पिण्ड है। यह पुण्य-पाप और काम-क्रोध और विकार हो, वह तो कृत्रिम भावबन्ध और आस्त्रव है। शरीर और कर्म तो परचीज है। तेरा स्वरूप चैतन्य, ज्ञान और दर्शन का कन्द सूर्य है। आहा...हा...! ऐसी आत्मा की दृष्टि किये बिना उसको कभी शान्ति होगी नहीं। जानने-देखनेवाला है - ऐसा कहते हैं।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १८३ (C*) कार्तिक कृष्ण १२, मंगलवार, १२ नवम्बर १९६३

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार, १७५ गाथा। क्या अधिकार है यह? भावबन्ध! आत्मा वस्तु है, आत्मा - उसके भान बिना (जीव संसार में भटकता है)। शुद्ध उपयोगमय आत्मा है। अकेला जानने-देखनेवाला (ऐसा) **प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है,....** आत्मा उसे कहते हैं कि जानने-देखने के उपयोगस्वरूप वह आत्मा। सर्व ही आत्मा ऐसा है। समझ में आया?

क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है.... आत्मा वस्तु - पदार्थ है, उसमें सविकल्प अर्थात् ज्ञान (स्वरूप है और) निर्विकल्प अर्थात् दर्शन, उस **प्रतिभासस्वरूप....** (है)। उसमें सब सामान्य-विशेष ज्ञात हो - ऐसा उसका स्वभाव है। कहो, समझ में आया इसमें?

आत्मा को सविकल्प और निर्विकल्प उपयोग (स्वरूप है)। उपयोग अर्थात् जानना और देखना। देखना, वह दर्शन-निर्विकल्प। निर्विकल्प अर्थात् जिसमें भेद बिना देखे। किसी भी चीज को - स्वयं और पर को, भिन्न पाड़े बिना का जो व्यापार, उसे दर्शनोपयोग-निर्विकल्प उपयोग कहते हैं। निर्विकल्प कहो या अभेद उपयोग कहो (दोनों एकार्थ हैं)।

ज्ञान अर्थात् सविकल्प। यह आत्मा है, यह पर्याय है, यह पर है - ऐसा भेद पाड़कर जो जानने का स्वभाव है, उसे सविकल्प ज्ञानभाव कहते हैं। यह आत्मा तो अकेला-दर्शन और ज्ञान-उपयोगमय आत्मा सर्व यह है। तथापि इसे बन्धन क्यों होता है? यह बात करते हैं।

मुमुक्षु - सविकल्प अर्थात् रागवाला और निर्विकल्प अर्थात् रागरहित।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह यहाँ नहीं, वह बात यहाँ है नहीं। सविकल्प का अर्थ किया न? क्या किया पता है? अभी सविकल्प का अर्थ किया। सविकल्प अर्थात् पृथक्-पृथक् वस्तु को जाने — ऐसे ज्ञान को सविकल्प कहा जाता है। क्योंकि स्व और पर के भेदज्ञानस्वरूप जो जानने का व्यापार, उसे सविकल्प ज्ञान कहते हैं। सविकल्प अर्थात् राग नहीं। भाई! यह तुम्हें पूछा होता तो न आता, लो!

मुमुक्षु – यहाँ आये हैं तो आप सिखाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री – कौन सिखावे ? स्वयं सीखे या कोई सिखावे ? कहो, समझ में आया ?

यहाँ क्या कहते हैं ? कि वस्तु जो आत्मा है न ? आत्मा ! वह आत्मा अर्थात् क्या ? जानने और देखने का स्वभाव वह आत्मा। प्रतिभासस्वरूप – प्रतिभास अर्थात् जिसमें सामान्य और विशेष सब ज्ञात हो और दिखे – ऐसा आत्मा। उसे आत्मा कहा जाता है। समझ में आया ?

अब, उसे यह भावबन्ध क्यों होता है ? आत्मा पूरा तत्त्व जानन-देखनस्वरूप है — ऐसी जिसकी दृष्टि हो, उसे तो शुद्ध परिणामरूप धर्म की प्राप्ति होती है। क्या कहा ? समझ में आया इसमें ? फिर से कहते हैं ! आत्मा जानना और देखना अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प अर्थात् स्व-पर को जानने के विशेष प्रकारवाला, उसे ज्ञान कहते हैं और स्व-पर के भेद बिना का दर्शन-निराकार निर्विकल्प व्यापार को यहाँ दर्शन उपयोग कहते हैं। वह दर्शन-व्यापार और ज्ञान-व्यापार (दोनों मिलकर) पूरा आत्मा है। ऐसे आत्मा के अवलम्बन से जिसे शुद्ध परिणामरूप धर्म की प्राप्ति हो, उसे मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। समझ में आया ? शुद्ध स्वरूप दर्शन-ज्ञान उपयोग (मय) पूरा आत्मा-वस्तु। वस्तु (अर्थात्) पदार्थ। उस पर लक्ष्य, दृष्टि करके, वही दर्शन और ज्ञान-व्यापारमय जो पूरा आत्मा, उसका अन्तर अवलम्बन करके जो शुद्ध परिणामरूप धर्म की प्राप्ति होती है, वह शुद्ध धर्म की प्राप्ति (होवे वह) शुद्ध परिणाम की पर्याय है परन्तु वह शुद्ध परिणाम (प्रगट हुए), वे निर्विकल्प हैं अर्थात् पुण्य-पाप के राग रहित त्रिकाल दर्शन-ज्ञान उपयोगमय आत्मा के लक्ष्य से हुए शुद्ध — पुण्य-पाप के परिणाम रहित शुद्ध परिणामरूप धर्म — वह उसका धर्मस्वरूप है अर्थात् मोक्ष के मार्ग का स्वरूप है। समझ में आया ?

धर्म कैसे हो ? यह भी बताया और फिर भावबन्ध के साथ धर्म की बात की। उसमें नहीं की परन्तु उसके अर्थ में – जयसेनाचार्यदेव की टीका में है, भाई ! शुद्ध परिणाम लक्षण धर्म की प्राप्ति रहित जीव भावबन्ध है। उसका लक्षण इसमें से बाँधते हैं न ? फिर कहा है क्या ? समझ में आया ? **'शुद्धपरिणामलक्षणं परमधर्ममलभमानः'** **'शुद्धपरिणाम-**

लक्षणं परमधर्ममलभमानः सन् स जीवो बद्धो' उस जीव को बन्ध होता है।

फिर से, आत्मा में शरीर भी नहीं, कर्म भी नहीं, पुण्य-पाप का विकल्प उठे, वह वस्तु में नहीं। आत्मा अर्थात् अकेला जानने-देखने के स्वभाववाला तत्त्व (है)। उपयोग — जानना-देखना, साकार-निराकार अर्थात् सविकल्प-निर्विकल्प। चीज को भेद से जाने या चीज को अभेद से देखे। स्व-पर दोनों, भेद-अभेद ऐसा उपयोगमय, उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। वह आत्मा अपने शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मा का आश्रय करके जो कुछ परिणाम प्रगट हों वह शुद्ध परिणामरूपी परमधर्म जिसका लक्षण है। वह शुद्ध परिणाम कहो या मोक्ष का मार्ग - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो (दोनों एकार्थ हैं)।

भगवान आत्मा! देहादि की क्रिया, जड़ की क्रिया, वाणी की क्रिया जड़ की, कर्म जड़, यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोगवासना, यह पाप (परिणाम); दया, दान, व्रत, भक्ति, तप का-पूजा का विकल्प उठे, वह पुण्य (परिणाम) वह आत्मा का स्वभाव नहीं। वह आत्मा की मूल चीज में नहीं, समझ में आया? उसके - आत्मा के पेट में तो दर्शन और ज्ञान भरे हैं।

कहो, पेट्रोल के कुएँ नहीं निकलते? फिर उसमें से पेट्रोल निकलता है न? वैसे ही आत्मा जानने-देखने का मोटा कुआँ है! क्या होगा यह? कहते हैं कि यह शरीर मैं, वाणी मैं, मन मैं, यह मैं, या दया, दान के परिणाम हों वह आत्मा, हिंसा-झूठ का भाव हो, वह आत्मा या अल्पज्ञ और एक समय की पर्याय, वह आत्मा। (यह) अनात्मबुद्धि और व्यवहारबुद्धि है।

वस्तु भगवान आत्मा - वस्तु आत्मा उसे कहते हैं कि अरूपी अस्तिपना है, उसकी मर्यादा में साकार और निराकार अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प, दर्शन और ज्ञान उपयोग को आत्मा कहते हैं कि जो आत्मा अपने ऐसे शुद्ध दर्शन-ज्ञान के स्वभाव का महासागर! अन्तर्मुख दृष्टि करके जो शुद्ध परिणाम प्रगट हों, उसे धर्म कहते हैं, उसे अबन्ध परिणाम कहते हैं। यहाँ बन्ध लेना है न? (इसलिए यहाँ) अबन्ध परिणाम कहते हैं। अबन्ध परिणाम कहो या धर्म परिणाम कहो या मोक्षमार्ग के परिणाम कहो या शुद्ध परिणामरूपी परम धर्म जिसका लक्षण कहो।

प्रश्न – यहाँ उपयोग के व्यापार की बात है ?

समाधान – व्यापार की बात नहीं। यहाँ तो सारा आत्मा दर्शन-ज्ञानमय है ऐसा कहना है न ? परिणति में या व्यापार का उपयोग वह अलग बात है, यह तो वस्तु स्वयं आत्मा सर्व दर्शन-ज्ञानमय है। सर्व दर्शन-ज्ञान का पिण्ड ! इसकी पर्याय का लब्ध-उघाड़ दोनों एक साथ होते हैं। छद्मस्थ को उपयोग का व्यापार एक के बाद एक (होवे), वह (बात) अभी नहीं है। समझ में आया ?

प्रथम तो यह आत्मा.... जो यह नव तत्त्व है, सात तत्त्व और नौ पदार्थ हैं, उनमें आत्मा किसे कहना ? उसकी यह व्याख्या चलती है। आत्मा, शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, कर्म नहीं, राग नहीं, पुण्य-पाप का भाव है, वह आत्मा नहीं। वह तो जानन-देखन (स्वभाव का) पिण्ड, चैतन्य गोला, जानन-देखन का गोला है, वह आत्मा है। कहो समझ में आया इसमें ? वह सर्व उपयोगमय है।

क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभासस्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शनस्वरूप है।).... सविकल्प अर्थात् स्व-पर को जानने के भासस्वरूप और स्व-पर को एकसाथ देखने के स्वरूप (मय) आत्मा है। ओ...हो...हो... ! अभी जगत को इस मूल चीज का पता नहीं, लोग कहीं के कहीं रास्ते चढ़ गये हैं ! जहाँ ढूँढ़ना है, वह चीज क्या है ? जिसे खोजना है, ढूँढ़ना है, वह है क्या ? ज्ञान और दर्शन का पिण्ड उपयोग है।

उनमें जो आत्मा.... अपने उपयोग में त्रिकाल ज्ञान-दर्शन स्वरूप का अवलम्बन को छोड़कर, बाह्य पदार्थ का ज्ञान और दर्शन करने पर आत्मा **विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों....** यह (आत्म) पदार्थ पड़ा रहा। जानने-देखने का जो स्वभाव (है, उस स्वरूप जो) आत्मा, उसे जानना-देखना (होता है), उसके परिणाम हों, वह तो धर्मरूप-अबन्ध परिणामरूप पर्याय हुई। वह तो अबन्ध परिणाम हुए। अब बन्ध सिद्ध करना है न ? भावबन्ध सिद्ध करना है, भावबन्ध कहो या अधर्म परिणाम कहो। समझ में आया ?

त्रिकाल ज्ञान-दर्शन का पिण्ड प्रभु ! जहाँ अटका है ऐसा दूसरा रूप, उसकी व्याख्या चलती है। जानन-देखन भगवान ! उस उपयोगवाला आत्मा, ऐसा होने पर भी

उनमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित.... जगत के भिन्न-भिन्न आकारवाले, भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले पदार्थ प्रतिभासित होने योग्य हैं। वे प्रतिभासित होने योग्य हैं और यह प्रतिभास्यमान है, प्रतिभासस्वरूप है। क्या कहा?

आत्मा जानने और देखने के प्रतिभासस्वरूप है और प्रतिभास्यमान परपदार्थ हैं। सर्व शरीर, वाणी, मन, कर्म, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार इत्यादि सब। यह विविध स्वरूपवाले विविध आकारवाले प्रतिभासनेयोग्य (अर्थात्) यहाँ ज्ञात होने योग्य है (और) यह (आत्मा) जाननेवाला है। यह प्रमाण है, वे प्रमेय हैं; यह ज्ञान है, वे ज्ञेय हैं। समझ में आया? यह धर्म की बात गजब, भाई! अपवास कर डाल, अपधान कर डाल, भक्ति कर डाल, पाँच लाख खर्च करके यात्रा निकाल... इसमें कुछ समझना (समझाने का) है? इसमें कुछ जरा भी धर्म है? वहाँ धूल में भी धर्म नहीं है। तेरे पाँच लाख क्या, पचास लाख खर्च कर न! राग की मन्दता होवे तो पुण्य का भाव बँधे, परन्तु (जो) बँधे, वह अबन्ध परिणाम नहीं; वह धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग नहीं। समझ में आया?

विविधाकार प्रतिभासित होनेवाले पदार्थों को प्राप्त करके.... ऐसा कहा, देखो! जानन-देखन उपयोग-स्वरूप को प्राप्त करे, वहाँ तो अन्दर शुद्ध परिणाम का धर्म होता है। यह जानन-देखन भगवान, यह प्रतिभासने योग्य सामने के पदार्थ को पाकर **मोह, राग अथवा द्वेष करता है,....** यह मेरा, यह इष्ट और अनिष्ट - ऐसा मोह, राग-द्वेष करता है, वह बन्धपरिणाम है, वह बन्धभाव है, वह भावबन्ध है, वह अधर्म भाव है। समझ में आया?

अबन्धपरिणाम, अबन्धस्वभाव-जानने-देखने के उपयोगवाला तत्त्व, उस उपयोगरूप तत्त्व को पाये तो पर्याय में शुद्ध धर्म के परिणाम प्रगट हों। वे तो अबन्धपरिणाम हैं। वे तो अबन्ध परिणाम हैं अर्थात् मोक्षमार्ग के परिणाम हैं अर्थात् धर्म के परिणाम हैं। ऐसा जानन-देखन उपयोग भगवान, वह परपदार्थ को पाकर अर्थात् देखकर, यह मेरा, यह मुझे ठीक, यह मुझे अठीक-ऐसे मोह और राग-द्वेष के परिणाम करता है। उस अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा के अबन्धपरिणाम होना चाहिए, उससे उल्टे वे बन्धपरिणाम हैं। उसे यहाँ भावबन्ध कहा गया है। समझ में आया?

उन **पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है,... पदार्थों को प्राप्त करके...** (ऐसा कहा है।) जाने - ऐसा नहीं, यह तो पाकर, 'यह मेरे हैं' - (ऐसा करके) भाग करता है - यह ठीक और यह अठीक। आत्मा जानन-देखन (स्वरूप है), उसमें सब पदार्थ अकेले ज्ञेयरूप हैं। ज्ञेयरूप हैं, प्रमेयरूप हैं, प्रतिभासित होने (योग्य हैं) परन्तु ज्ञेयरूप न जानकर, उन्हें ज्ञानरूप में ज्ञेयरूप न जानकर, जाननहार ज्ञेय को पाकर मोह और राग-द्वेष को करता है, उस परिणाम को अधर्म परिणाम, बन्ध परिणाम अथवा भावबन्ध कहा जाता है। कहो, समझ में आया कुछ ?

वह आत्मा - काला, पीला, और लाल आश्रय जिनका निमित्त है.... (अब) दृष्टान्त देते हैं। काला, पीला और लाल (हो), ऐसा वर्तन या पत्ता हो, पत्ता! पत्र! उसमें स्फटिक रखा हो, स्फटिक! **काला, पीला, और लाल आश्रय....** (अर्थात्) जिसमें स्फटिक रखा हो, वह वस्तु, वह निमित्त है। **ऐसे कालेपन, पीलेपन और लालपन के द्वारा उपरक्त....** कौन ? स्फटिक। काला, पीला और लालपने द्वारा मलिन **स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति....** स्फटिक तो स्वच्छ स्वभाव का स्वरूप है, स्फटिक तो स्वच्छ स्वभाव स्वरूप है। काला, लाल, पीला पत्र या बर्तन में रखने से उसमें जो काली, पीली, लाल झाँईं पड़ती है, वह स्फटिक की मलिनता है। वह स्फटिक की मलिनता है। समझ में आया ?

स्फटिक स्वच्छ है परन्तु यहाँ काले, पीले, लाल (पदार्थ के कारण), यह होता है या नहीं ? स्फटिक में अन्दर सफेद, पीली, लाल (झाँईं) पड़ती है, वह उसकी मलिनता का अंश है। समझ में आया ? उपरक्त! **लालपन के द्वारा उपरक्त....** अर्थात् मलिन **स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति....** मलिन स्वभाववाले स्फटिकमणि की भाँति। स्फटिक का स्वच्छ-निर्मल स्वभाव है, परन्तु काले, लाल, पीले बर्तन में रखो तो काली, लाल की मलिन पर्याय दिखती है। वह स्फटिक का दूसरा रूप है। स्वच्छता उसका मूलरूप है और काला, लाल, पीला उसका द्वितीय-दूसरा रूप है। मलिन उसका दूसरा रूप है।

उसकी तरह **पर जिनका निमित्त है - ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा....** देखो! उसमें पत्र या बर्तन का निमित्त कहा था। किसमें ? स्फटिक में। पांदड़ा समझते हैं ?

पत्र, पत्र! तमालपत्र और वह आता है न? उसमें रखो तो वैसी झाँईं दिखती है। ऐसे आत्मा स्फटिक जैसा चैतन्य-ज्ञान, दर्शन, उपयोगवाला है; उसे परपदार्थ का निमित्त है। परपदार्थ में मोह और राग-द्वेष करता है। कैसे हैं मोह और राग-द्वेष? कि **पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा....** देखो! पर निमित्त हैं, ऐसे मलिन। **आत्मस्वभाववाला होने से,....** लो! **उपरक्त** शब्द पड़ा है न? यह उपरक्त अर्थात् विकारी, मलिन। यह सब भाषा ऐसी न, नये लोगों को तो विस्मयकारी लगे! अरे! हम तो वीतरागमार्ग-धर्म सुनने आये हैं; इसमें तो कुछ सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण और दया पालने की बात ही नहीं आती! परन्तु कहाँ तू सुन तो सही! तुझमें क्या है और तू क्या कर सकता है?

तुझमें तो जानन-देखन उपयोग स्वभाव स्वरूप है। भगवान चैतन्यमूर्ति स्फटिक जैसा है। वह स्फटिक जिस पात्र में रखा हो, वैसी झाँईं उसमें दिखे, वह उसका दूसरा रूप मलिनता है। वैसे भगवान आत्मा, कर्म जिसका निमित्त, परवस्तु को पाकर मोह और राग-द्वेष करता है, वह उसे नुकसान है। वह मलिन आत्मस्वभाववाला होने से, वह मलिन पर्याय आत्मा में हुई। देखो! उसे मलिन-आत्मस्वभाव कहा! क्या कहा? उसमें (दृष्टान्त में) कहा था न? उपरक्त स्वभाववाला स्फटिक। वह भी मलिन स्वभाववाला स्फटिक।

प्रश्न – स्फटिक का स्वभाव मलिन?

समाधान – हाँ, उसका स्वभाव... आहा... हा...!

मुमुक्षु – उसे स्वभाव नहीं कहा जाता।

पूज्य गुरुदेवश्री – सब कहा जाता है। सुन न! ऐसे त्रिकाली स्वभाव को चूका तो पर्यायधर्म का स्वभाव कहा....

अपनी पर्याय में, स्फटिक को जैसे मलिन पर्यायवाला कहा, वह मलिन पर्याय स्वभाववाला हुआ। वैसे मोह और राग-द्वेष द्वारा मलिन आत्मस्वभाव होने से **स्वयं अकेला ही बन्ध (बन्धरूप) है,....** देखो! विशिष्टता देखो! राग-द्वेष-मोह का निमित्त है न, वह तो निमित्त कहा। वह तो अकेला बन्धरूप है। अर्थात्? कि जानन-देखन भगवानस्वरूप प्रभु! उसे भूलकर, परपदार्थ का लक्ष्य करके मोह-राग-द्वेष को उत्पन्न करता है कि जिसमें कर्म का निमित्त है, ऐसा आत्मा मलिन स्वभाववाला **उपरक्त**

स्वभाववाला.... होने से वह उसका दूसरा रूप है। एक स्वभावस्वरूप है और और दूसरा बन्ध (स्वरूप है।) ऐसा **स्वयं अकेला ही....** होता है।

मुमुक्षु – निमित्त है वहाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री – निमित्त भले हो, परन्तु निमित्त से–दो से हुआ नहीं। निमित्त का अर्थ – दो से हो तो निमित्त नहीं रहा। हुआ है इससे, निमित्त वहाँ है, ऐसा। अकेला ही भावबन्धरूप है। निमित्त को मिलाकर भावबन्धरूप हुआ है – ऐसा नहीं। मिलावे तो दो एक हो जाए। निमित्त, निमित्तरूप रहा; नोकर्म, नोकर्मरूप रहे। नोकर्म अर्थात् जो कोई परपदार्थ ज्ञान–दर्शन में दिखायी दे, वे वहाँ रहे। द्रव्यकर्म अन्दर जड़ में (रहे।) यह द्रव्यकर्म का निमित्त (हुआ।) उसमें यह जानने–देखने के उपयोगवाला आत्मा, परपदार्थ को–नोकर्म को पाकर मोह और राग–द्वेष करे, उसमें वह कर्म निमित्त है। ऐसे जो मोह, राग–द्वेष के परिणाम (हुए उसमें) अकेला भावबन्धस्वरूप (स्वयं होता है।) उसे मलिन आत्मस्वभाववाला भावबन्ध कहा जाता है। भाई! ठीक है?

मुमुक्षु – निमित्त बाहर पड़ा रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री – बाहर पड़ा रहा। परन्तु उसे क्या (लेना–देना)?

अरे....! आत्मा इसकी बात जाने और निर्णय तो करे। अरे! यह क्या हो रहा है? मुझमें अधर्म कैसे होता है? और धर्म कैसे हो? दोनों बातें हैं। आहा...हा...! अरे! भाई! तेरे ज्ञान में समझ की ऐसी कीमत न हो, तब तक तू क्या करेगा? और कहाँ जाएगा? कहाँ ठहरेगा? समझ में आया?

कहते हैं कि यह चैतन्य प्रभु पूरा ही.. पाठ में **सर्व** ऐसा शब्द पड़ा है न? **सर्व एव** – ऐसा लिया है अर्थात् पूरा ऐसा लिया है। **अयमात्मा सर्व एव** पूरा ही। यह आ गया। आ गया न? पूरा ही उपयोगमय है। उसमें देखो तो अनादि–अनन्त जानना–देखना स्वभावमय आत्मवस्तु है। अनादि–अनन्त शुद्ध ज्ञान–दर्शनमय (वस्तु है।) द्रव्य त्रिकाल, हाँ! ऐसे उपयोगमय आत्मा को, अपने उपयोगमय स्वरूप की ओर न ढालकर, उस उपयोग की पर्याय में जो परपदार्थ ज्ञात हों, उन्हें पाकर, उनका अस्तित्व मेरे कारण है और मेरा अस्तित्व उनके कारण है – ऐसा जो मोहभाव करे; यह मुझे ठीक और यह मुझे अठीक

– ऐसे एक प्रकार के ज्ञेय के दो भाग राग-द्वेष के कारण करता है। समझ में आया ?

निरोग शरीर होवे तो मुझे ठीक, सरोग शरीर ठीक नहीं। ऐसे यह ठीक होवे तो मुझे ठीक पड़े – यह मिथ्यात्व (भाव) है। ऐसे यह निरोग शरीर ठीक, यह राग (हुआ) और सरोग शरीर ठीक नहीं, यह द्वेष (हुआ।) समझ में आया ?

पर जिनका निमित्त है – ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त आत्मस्वभाववाला होने से, स्वयं अकेला ही बन्ध (बन्धरूप) है,.... अकेला ही बन्ध है। जिनके संग (में आकर) अपने संग को चूककर और पर के संगवाले जो मोह-राग-द्वेष के परिणाम किये, वह पर्याय हुई। है अरूपी विकारी मलिन पर्याय। उसे यहाँ भावबन्ध – अबन्धस्वभावी आत्मा से विरुद्धभाव अथवा अबन्धपरिणाम मोक्षमार्ग से विरुद्धभाव – ऐसे भावबन्ध परिणाम को अकेला ही उत्पन्न करता है।...

कहते हैं, अरे! अनादि से स्वयं चैतन्य उपयोगमय पूरा दल है; जैसे पूरी सूरन (जमीकन्द) की गाँठ हो, वह जहाँ देखो वहाँ उसका रसकन्द ही पड़ा है। सूरन कहते हैं न ? जमीकन्द (होता है।) वैसे आत्मा जहाँ देखो वहाँ असंख्य प्रदेश में अकेला ज्ञान-दर्शन का रस ही पड़ा है। ज्ञान-दर्शन का पिण्ड है! आत्मा अर्थात् ज्ञान-दर्शन का पिण्ड! ज्ञान-दर्शन का पूर्ण कन्द! ज्ञान-दर्शन का स्फटिक रत्न! ज्ञान-दर्शनस्वरूप ऐसा चैतन्यप्रभु स्वयं को भूलकर... अपने स्वभाव की इतनी ताकत है और ऐसा हूँ – उसे लक्ष्य में से चूककर, परपदार्थ को पाकर, जिसमें कर्म निमित्त है – ऐसे मोह, राग-द्वेष भाव को करे, उस मलिन परिणाम को यहाँ भावबन्ध और अधर्म परिणाम कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें ?

क्योंकि मोहरागद्वेषादिभाव उसका द्वितीय है। देखो! आहा...हा...! कर्म द्वितीय है – ऐसा नहीं। आत्मा एक और कर्म दूसरा – ऐसा नहीं। वह जड़कर्म तो पर है। तुझे स्पर्शा भी नहीं है, तेरी पर्याय का स्पर्शितभाव, पर्याय में स्पर्शित, हाँ! द्रव्य-गुण का नहीं। पर्याय में-अवस्था में स्पर्शित मोह-राग-द्वेष का भाव, वह त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप चैतन्य स्फटिक सर्व दल, वह एक और मोह-राग-द्वेष परिणाम दो। यह द्वितीय हो गया। एक निर्मल त्रिकाली स्वभाव (और) एक कृत्रिम क्षणिक विकारी भाव, ये दो हो

गये। कर्म (द्वितीय) नहीं। एक त्रिकाली भाव और एक मलिन भाव - ऐसे दो भाव हैं। समझ में आया? इसमें इसे कितनी धीरज चाहिए! ऐसे का ऐसे वेग में चला जाए, वेग... वेग... वेग... वेग... यह किया और यह किया... और यह छोड़ा। (यह सब भी) एक प्रकार का वेग है।

भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञान का पिण्ड प्रभु, वह पर को पाकर मोह और राग-द्वेष भाव करे; वह आत्मस्वभाव जो अकेला ज्ञान-दर्शन का पिण्ड वह एक (हुआ), उसमें मोह-मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट का राग-द्वेष (हो), वह दूसरी चीज हुई। एक ओर पूरा निर्मल दल, एक ओर कृत्रिम क्षणिक पर्याय की मलिनता। एक का दो हुआ, एक का दो हुआ। कर्म नहीं, हाँ! ७७ वीं गाथा में है - भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। यहाँ तो अकेला भावबन्ध का स्वरूप ऐसा है।

अब यह समझकर करना क्या? ज्ञान-दर्शन उपयोगमय प्रभु! पूरा सूर्य! वह पर को पाकर मोह, राग-द्वेष करके अटकता है, उसने स्वभाव की ओर दृष्टि की कि जिससे मोह का, मिथ्यात्वभावबन्ध का (नाश होता है)। अबन्धस्वभावी के आश्रय से सम्यक्त्व के अबन्ध परिणाम प्रगट होने से भाव मिथ्यात्व का-भावबन्ध का नाश होता है। समझ में आया? मिथ्यात्व का नाश कैसे हो? कोई कहता है ऐसे होता है और ऐसे होता है, अरे...रे! समझ में आया? (कोई कहता है) भगवान के दर्शन से होता है। ऐसे (पर के) सन्मुख देखकर होता है? वह अन्दर पूरा बड़ा रह जाता है न! शुभराग हो। उस चीज के कारण राग हुआ - ऐसी मान्यतावाला मोह साथ में हुआ। समझ में आया? और इसके अतिरिक्त कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र न देखे तो द्वेष साथ में हुआ।

यह मोह और राग-द्वेष के भाव, यह मोह-राग-द्वेषादि भाव। आदि शब्द से विषय कषाय आदि के जो परिणाम होते हैं, वह **उसका द्वितीय है।** देखो! (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में दिया है) **द्वितीय अर्थात् दूसरा।** किसका? आत्मा का द्वितीय **'बन्ध तो दो के बीच होता है,....** बन्ध दो के बीच होता है। बन्ध के एक के बीच होगा? **अकेला आत्मा बन्धस्वरूप कैसे हो सकता है?'....** ऐसा किसी को प्रश्न हो। अकेला आत्मा बन्धरूप कैसे हो? **इस प्रश्न का उत्तर यह है कि - एक तो आत्मा और दूसरा**

मोहरागद्वेषादिभाव.... एक तो आत्मा उपयोगमय त्रिकाली और एक मोह-राग-द्वेषादिभाव। ऐसा **होने से, मोहरागद्वेषादिभाव के द्वारा मलिनस्वभाववाला आत्मा स्वयं ही भावबन्ध है।**

यह निमित्त की मित्रता न छोड़े, वर्तमान पुण्य-पाप का लक्ष्य और रुचि न छोड़े, उसे पुण्य-पाप और मिथ्यात्वभाव हुए बिना नहीं रहते। समझ में आया? अभी तो निमित्त की मित्रता न छोड़े तो यहाँ स्वभाव की ओर आवे किस प्रकार? वहाँ मित्रता में उसके साथ जुड़ान किया; उसमें वापस यह मुझे ठीक पड़ता है और यह मुझे ठीक नहीं पड़ता (- ऐसा भाव करता है) अच्छे शरीर की अवस्था हो तो ठीक पड़ता है, नींद यदि छह घण्टे ठीक से आवे तो ठीक पड़ता है, जागरण हो तो ठीक नहीं पड़ता।

मुमुक्षु - उत्तम शरण में होवे तो ठीक पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री - उत्तम शरण में होवे तो यह तो पर के साथ राग हुआ और उसके कारण मुझे स्थिरता हो (- ऐसा माने यह तो) मिथ्यात्व हुआ। समझ में आया?

आत्मा, अपने जानने-देखने के स्वभाव के स्थान को छोड़कर, पर का लक्ष्य करके, लक्ष्य करके, मोह और मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषभाव करे, उसे आत्मा का दूसरा रूप-मलिनरूप कहते हैं। कहो, समझ में आया? उसे यहाँ भावबन्ध कहने में आता है कि जो अधर्म का परिणाम है। कहो, समझ में आया? यह मोह-राग-द्वेष किससे हुए? स्त्री-पुत्र से हुए? इसमें तो इतना कहा कि जो पदार्थ को पाकर स्वयं करता है - ऐसा वहाँ कहा था। समझ में आया? और यह विकार भी स्वयं करता है, भले ही कर्म का निमित्त इसमें हो। विकार करे तो उसे निमित्त कहा जाता है। स्वभाव की दृष्टि करे तो उस कर्म को निमित्त भी नहीं कहा जाता। समझ में आया? कैसी बात है देखो न!

मुमुक्षु - स्वयं ही गुनहगार है।

पूज्य गुरुदेवश्री - दूसरा कौन है तब? यही कहते हैं। गुनहगार तू है। किसी के कारण नहीं - ऐसा कहते हैं। हे आत्मा! तू तेरा गुनाह करता है - ऐसा कहते हैं। नहीं कर्म के कारण, नहीं स्त्री के कारण, नहीं पुत्र के कारण, नहीं प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा के कारण, किसी के कारण नहीं। उसे पाकर तुझमें तेरी एकताबुद्धि छूटकर, पर के साथ एकताबुद्धि करता

है, वह गुनाह तूने खड़ा किया है। तू अपराधी होकर अपराध करता है, तू अपराधी होकर अपराध करता है। समझ में आया? यदि इस अपराध का तुझे भलीभाँति ख्याल आवे कि यह अपराध तो मेरा किया हुआ है; कर्म का नहीं, नोकर्म अर्थात् बाह्य चीज का नहीं। मेरा किया हुआ है तो मुझसे मिट सकता है। स्वयं ने कराया हो, स्वयं किया हो, मदद में स्वयं से हुआ हो, वह सहारा दे तो फिर टले...

कहो, इस मरण के काल में सेवा चाकरी ठीक हो, वह हो (तो) परिणाम अच्छे रहें, यह ठीक होगा? बात पर के कारण है नहीं, यह तो यहाँ बात चलती है।

....

वे पदार्थ बाधक नहीं हैं। वे तो जानने-देखने को प्राप्त हुए कि ऐसा हुआ, अभी ऐसा है। वह प्राप्त होकर अन्दर राग-द्वेष करे, वह स्वतन्त्र करता है। पर के कारण नहीं अथवा ऐसा सुलटा नहीं था, इसलिए नहीं या ऐसा नहीं था, इसलिए नहीं, भाई! आहा...हा...! 'एक रे दिन ऐसा आयेगा...' सबको आयेगा या नहीं? पता नहीं? '...सगी रे नारी तेरी वे ऐसी खड़ी टकटक देखे, यह रे काया में अब कुछ नहीं, वह खड़ी फफक-फफक कर रोवे.... निकालो रे निकालो इसे सब कहें' निकालो...! भाई! ऐसा होगा या नहीं? सबको? आहा...हा...! अरे! चैतन्य देख न भाई! तुझे ऐसा पल मिला है, काल मिला है। कहते हैं कि यह (कर)। जानने-देखने के भाव में... पहले इसे प्रतिभास (स्वरूप) तो कहा, वह प्रतिभास होने योग्य है परन्तु मोह-राग और द्वेष करने योग्य है - ऐसा नहीं और यह जानने-देखनेयोग्य है परन्तु जानने-देखनेवाला (है ऐसा) जानकर मोह और राग-द्वेष करे - ऐसा इसके स्वरूप में नहीं है।

इस शरीर की स्थिति, वाणी की स्थिति... और अन्दर गला सूखता हो, जीभ तालू से चिपकती हो और अन्दर उपयोग साध्य हो... अब क्या कहना? क्या कहना? भाई! यहाँ अन्दर देख न! जहाँ समाधान हो — ऐसा भान पड़ा है न अन्दर! समाधान हो - ऐसा भान अन्दर है। यहाँ बाहर में देखेगा तो सब असमाधान के भाव उत्पन्न होंगे। इसलिए कहते हैं कि अरे... आत्मा! इसी समय तेरे उपयोग को भूलकर और मोह-राग-द्वेष के बँधन का द्वितीय भाव तूने खड़ा किया है। किसने खड़ा किया? यह ज्ञेय का अधिकार चलता है,

इसलिए स्वज्ञेय में यह भावबन्ध की पर्याय है; वह भावबन्ध की पर्याय परज्ञेय में नहीं। समझ में आया?

मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी, मलिन, कलुषित,) आत्मस्वभाववाला होने से, स्वयं अकेला ही बन्ध (बन्धरूप) है, क्योंकि मोहरागद्वेषादिभाव उसका द्वितीय है.... दूसरे में (अन्यमत में) बातें की परन्तु यह तत्त्वज्ञान की बात नहीं मिलती। 'भोजोभगत' कहते हैं न? 'मरनेवाले को क्या रोओ तुम? वे मेरे नहीं रहनेवाले रे... रोनेवाले नहीं रे रहनेवाले, मरनेवाले को क्या रोओ तुम?' यह मरे जीवे कौन — इसकी खबर बिना इसे तिरना कहाँ, इसका पता नहीं पड़ता, इसमें तिरने का स्वव्यापार अन्तर्मुख होकर (रहना, वह है)।

इसे पहले इतना तो माहात्म्य आना चाहिए कि मैं वह कोई इतनी चीज हूँ? यह राग-द्वेष हो उतना (ही हूँ)? और राग-द्वेष को वर्तमान जानने की दशा मात्र हूँ? यह अस्ति छोड़कर, अनादि अनन्त खान सम्पूर्ण चैतन्य गाँठ पड़ी है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से मिथ्यात्व का नाश होता है और शान्ति होती है। बाकी तीन काल-तीन लोक में दूसरा कोई उपाय है नहीं। समझ में आया?

गाथा – १७६

अथ भावबंधयुक्तिं द्रव्यंबंधस्वरूपं च प्रज्ञापयति -

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रञ्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो।।१७६।।

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः।।१७६।।

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वापरिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबंधः। अथ पुनस्तेनैव कर्म बध्यत एव। इत्येष भावबंधप्रत्ययो द्रव्यबंधः।।१७६।।

अथ भावबंध युक्तिं द्रव्यबंधस्वरूपं च प्रतिपादयति - **भावेण जेण** बावेन परिणामेन येन **जीवो** जीवः कर्ता **पेच्छदि जाणादि** निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। किं कर्मतापन्नं, **आगदं विसये** आगतं प्राप्तं किमपीष्टानिष्टं वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये। **रञ्जदि तेणेव पुणो** रज्यते तेनैव पुनः आदिमध्यान्तवर्जितं रागादिदोषरहितं चिञ्ज्योतिःस्वरूपं निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन् सन् समस्तरागादिविकल्पपरिहारेणाभावयंश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते रागं करोति इति भावबंधयुक्तिः। **बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो** तेन भावबंधेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबंधस्वरूपं चेत्युपदेशः।।१७६।।

अब, भावबन्ध की युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं –

आगत विषय को देखता जीव जानता जिस भाव से।
हो रागी तो बँधते हैं कर्म–उसी से, है उपदेश ये॥

अन्वयार्थ : [जीवः] जीव **[येन भावेन]** जिस भाव से **[विषये आगतं]**

विषयागत पदार्थ को **[पश्यति जानाति]** देखता है और जानता है, **[तेन एव]** उसी से **[रज्यति]** उपरक्त होता है; **[पुनः]** और उसी से **[कर्म बध्यते]** कर्म बँधता है – **[इति]** ऐसा **[उपदेशः]** उपदेश है।

टीका : यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थसमूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है, वह वास्तव में स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय[1] भावबन्ध है। और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बँधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है ॥१७६ ॥

प्रवचन नं. १८३ (C*) का शेष कार्तिक कृष्ण १२, मंगलवार, १२ नवम्बर १९६३

अब, भावबन्ध की युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप कहते हैं – अब १७६ (गाथा में) युक्ति कहते हैं और द्रव्यबन्ध का स्वरूप (कहते हैं)।

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो।।१७६।।

आगत विषय को देखता जीव जानता जिस भाव से।
हो रागी तो बँधते हैं कर्म-उसी से, है उपदेश ये॥

टीका : यह आत्मा.... .....शब्द है। पहले में (१७५ गाथा में) सर्व आत्मा उपयोगमय कहकर सविकल्प-निर्विकल्प कहा था। अब यहाँ साकार और निराकार शब्द प्रयोग करके दूसरे प्रकार से स्पष्ट करते हैं। विशिष्टता देखो!

पहले में ऐसा कहा था कि यह आत्मा वस्तु अकेली ज्ञान-दर्शन (स्वरूप है) कैसी ? कि सविकल्प-निर्विकल्प, ऐसा कहा था। यहाँ फिर बदला, वस्तु तो वह की वह कहनी है। सविकल्प अर्थात् साकार और निर्विकल्प अर्थात् निराकार।

---

१. स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय = स्निग्धता और रूक्षता के समान। (जैसे पुद्गल में विशिष्ट स्निग्धतारूक्षता वह बन्ध है, उसी प्रकार जीव में राग-द्वेषरूप विकार भावबन्ध है।)

यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप.... साकार अर्थात् ज्ञान, जिसे सविकल्प कहा था। साकार अर्थात् पर का आकार पड़े – ऐसा नहीं। यहाँ पर का आकार पड़े — ऐसा नहीं परन्तु स्व-पर को जानने की पर्याय हो, उसे साकार कहा जाता है। परवस्तु का आकार पड़े तो वह तो रूपी और यह तो अरूपी है। रूपी का आकार कहीं अरूपी में पड़ेगा ? यह इतना बड़ा लम्बा नीम और यह सब देखो ! परन्तु स्व और पर सम्बन्धी को जानने की सविकल्प परिणति को साकार कहा जाता है।

यह कल आया था न ? कि तुम ऐसा मानते हो तो (दिगम्बर के विद्वान ने) कहा कि मुझे कहाँ तुमने इसमें डाला ? मैं तो कहता हूँ कि पर के पदार्थ की पर्याय झलके, भूत-भविष्य की (झलके) ऐसा कहा। झलके ऐसा कहा। भूत-भविष्य की पर्याय सर्वज्ञ न जाने – ऐसा कहाँ कहा है ?

प्रश्न – झलकती है, वह किसका स्वभाव है ?

समाधान – वह तो रूपी पुद्गल का स्वभाव है।

सविकल्प – साकार का ऐसा अर्थ नहीं है कि उसका आकार यहाँ आवे; मात्र उसका स्वरूप और अपना स्वरूप है, वह ज्ञान में ज्ञात हो — ऐसी दशा को साकारदशा कहा जाता है। बात ऐसी है। आहा...हा... !

एक व्यक्ति कहता था। एक स्थानकवासी साधु रास्ते में मिला था... (उसने कहा) आत्मा तो साकार है। ज्ञान है, वह रूपी है; दर्शन है, वह अरूपी है... (संवत्) १९९९ की साल, राजकोट ! आत्मा को साकार कहा है। (मैंने) कहा, साकार ऐसा नहीं। साकार अर्थात् इस जड़ का आकार इसमें है ? समझ में आया ? यह साकार अर्थात् आत्मा के प्रदेशत्वगुण के कारण जो आत्मा का व्यंजन का (व्यंजनपर्यायरूप) आकार होता है, वह आकार है ? क्या कहा ?

आकार के बहुत प्रकार हैं। यह जड़ का आकार आत्मा में है, इसलिए आकार कहलाता है ? नहीं। उसी प्रकार आत्मा में एक प्रदेशत्व नाम का गुण है, उसके कारण पूरे आत्मा में आकार होता है। वह यह है ? नहीं। यह तो ज्ञान को साकार कहा है अर्थात् ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानने का भास (होवे), उसे साकार कहा जाता है। उसे विशेष

कहो, साकार कहो, सविकल्प कहो, परम शुद्ध कहो। वह प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न पाड़कर जानने का स्वभाव, ऐसे भाव को यहाँ साकार कहने में आता है। आहा...हा...! अरे! त्यागी हो, यह हो (परन्तु) मूल वस्तु का पता नहीं। (ऐसा कहे) आत्मा साकार है, रूपी है। ज्ञान की अपेक्षा से रूपी है और दर्शन की अपेक्षा से अरूपी है। यह साकार-निराकार हुआ या नहीं? भाई! लो! आत्मा साकार है। तब (कोई) कहता है - नहीं, नहीं; निरंजन निराकार है। यह दूसरी बात है। निरंजन निराकार का अर्थ — इसमें दूसरा आकार नहीं, जड़ का इसमें आकार नहीं। समझ में आया? वरना उसका आकार है। इसके अतिरिक्त दूसरा आकार एक है। उसके शरीर प्रमाण अपने प्रदेशत्वगुण के कारण आकाररूप परिणमना, वह भी एक आकार है। वह प्रदेशत्वगुण का आकार है; वह यह नहीं..

यह तो साकार अर्थात् ज्ञानस्वरूप, जानने का व्यापार कि जिसमें स्व और पर दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिए साकार कहा है। दोनों ज्ञात होते हैं, इसलिए सविकल्प कहा है, सबको भेदसहित जानता है, द्वैत और अद्वैत सब एक साथ जानता है — ऐसी दशा को सविकल्प अर्थात् साकार ज्ञान कहा जाता है। (अज्ञानी ऐसी) बात करते हैं कि ईश्वर की भक्ति करो... वस्तु क्या है? और कहाँ से झुकना? क्या कहलाता है? इसका कुछ पता नहीं पड़ता। समझ में आया?

यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थसमूह को.... यहाँ भाषा दूसरे प्रकार से की है। वहाँ पदार्थ को पाकर मोह-राग-द्वेष करता है, ऐसा था। यहाँ कहते हैं वह **पदार्थसमूह को जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है,....** ऐसा यहाँ लेना है। क्या कहा? वहाँ (१७५ गाथा में) ऐसा कहा था कि पदार्थ प्रतिभासित होने योग्य-ज्ञात होने योग्य है, जाननेवाला स्वयं है। उन्हें पाकर मोह-राग-द्वेष को करता था। यहाँ कहते हैं, प्रतिभासस्वरूप ऐसे जो पदार्थ, प्रतिभास्यमान ऐसा जो आत्मा, उसे मोह और राग-द्वेषभाव से देखता है। यह मेरे - ऐसा देखता है। यह मुझे ठीक - ऐसा देखता है। यह मुझे अठीक — ऐसा देखता है, ऐसा जानता है। समझ में आया? (पहले में) उन्हें पाकर राग-द्वेष मोह करता था ऐसा था। यहाँ पदार्थ समूह को देखता है,

जानता है। किस प्रकार ? जानने-देखने का तो स्वभाव है। परन्तु देखता है, जानता है - किस प्रकार ? कि मोहरूप और मिथ्यात्वभाव से देखता है। कहो समझ में आया ?

पचास लड़के हों, उन्हें उनका पिता देखता है या नहीं ? पचास में से यह मेरा (ऐसा देखता है) इसका कारण (क्या ?) पचास को देखता है। अलग कहाँ पड़ा ? पचास हैं, पर हैं। पचास को जाना, उसमें ऐसा कहे यह मेरा। यह कहाँ से आया ? ऐसे जगत के सब पदार्थों को जानता है। (उसमें) यह मुझे ठीक, यह कहाँ से आया ? पचास घर हों, ऐसे पूरा गाँव देखता नहीं ? यह घर मेरा ! परन्तु इसका अर्थ क्या ? भाई ! कहते हैं कि यह मोह-राग-द्वेष के भाव से देखता-जानता है।

इसकी विशेष बात आयेगी।

प्रवचन नं. १८३ (D*) **कार्तिक कृष्ण १३, बुधवार, १३ नवम्बर १९६३**

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार १७६ गाथा चलती है। देखो ! इसमें क्या कहते हैं ? आत्मा को भावबन्ध हो, उसकी युक्ति और द्रव्यबन्ध का स्वरूप (ऐसे) दो का वर्णन करते हैं। आत्मा अबन्धस्वभावी वस्तु होने पर भी, उसे जो भावबन्ध होता है, उसकी युक्ति का वर्णन करते हैं और वह भावबन्ध नये द्रव्यबन्ध का-जड़ (कर्म बँधने का) कारण है, उसका स्वरूप बतलाते हैं।

टीका : यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शनस्वरूप).... साकार अर्थात् ज्ञान; निराकार अर्थात् दर्शन। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को भिन्न-भिन्न जैसे हों, वैसे जानने का स्वभाव है और देखने का स्वभाव भिन्न पाड़े बिना सामान्यरूप से भिन्न पाड़े बिना देखने का स्वभाव है - ऐसा जो ज्ञान और दर्शनरूप, उसमें **प्रतिभास्य...** (अर्थात्) पदार्थों का। स्वयं प्रतिभासस्वरूप है अर्थात् कि जिसमें दूसरे (पदार्थ) प्रतिभासित होते हैं और प्रतिभास्य (अर्थात्) प्रतिभासित होने योग्य जो पदार्थों का समूह।

(उस पदार्थ समूह को) **जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव से देखता है....** जानने-देखने का स्वभाव होने पर भी, पर को मोह से, राग से, और द्वेष से देखता

और जानता है। उससे वह **उपरक्त होता है।....** उससे ही मलिन होता है - ऐसा कहा, देखो! क्या कहा? कि जानने-देखनेवाला स्वभाव दूसरी चीज को जानते-देखते हुए मोह और राग-द्वेष से देखे-जाने, वही उसकी मलिनता है।

आत्मा ज्ञान और दर्शन प्रतिभासस्वरूप है। जिसमें प्रतिभास अर्थात् दूसरी चीजें जिसमें ज्ञात हो और दिखे। दूसरी चीजें प्रतिभास्य (है अर्थात्) प्रतिभास में जानने-देखने के योग्य है, बस! इतना सम्बन्ध है। तथापि तदुपरान्त जानने-देखने का स्वभाव और परपदार्थ का जनाने-दिखाने का स्वभाव है। तो भी ऐसे पदार्थ समूह को मोहरूप (जानता-देखता है) अर्थात् पर में सावधानी करके (जानता-देखता है)। यह मेरा कर्तव्य है, मैं यह करता हूँ, यह मेरे हैं, मैं इनका हूँ — ऐसा मोहभाव; उस मोहभाव से देखता है। समझ में आया?

कल दृष्टान्त नहीं दिया था? कि ऐसे पचास लड़के हों, पचास! ऐसे देखता है तो पचास को, तथापि एक के ऊपर (नजर जाए वहाँ) 'यह मेरा' (- ऐसा लगता है)। अब, उसमें देखने में तो देखता है, प्रतिभास है, वहाँ यह प्रतिभास है। इसके अतिरिक्त 'यह मेरा' — ऐसा जो हुआ वह मिथ्या मोहभाव हुआ।

मुमुक्षु - वहाँ है और यहाँ हुआ न!

पूज्य गुरुदेवश्री - परन्तु कहाँ है? क्या है? वह तो परज्ञेय है। 'यह मेरा लड़का' — ऐसा कहाँ से आया? मेरा कहाँ से आया? आत्मा को जानने-देखने का स्वभाव है, वह जनाने-दिखाने का उनका स्वभाव है-प्रतिभास्य है तो पचास (लड़कों को) देखता है और जानता है, उसमें 'यह मेरा' — ऐसा इसमें पृथक् कहाँ से पाड़ा? यह मोह और मिथ्यात्वभाव से वह 'यह मेरा' - ऐसा मानता है।

इसी तरह पचास मकान हैं, उनमें पचास को देखने-जानने का स्वभाव है। ऐसे देखे-जाने परन्तु 'यह मेरा' वह कहाँ से आया? दूसरे का तो है ही नहीं, दूसरा दूसरे का है, अपना अपना है। जानना-देखना (ऐसा) स्वभाव अपना है और प्रतिभास्य (अर्थात्) उसमें प्रतिभासित होने योग्य उनका स्वभाव है, बस! प्रमेय का-ज्ञेय का इतना स्वभाव की ज्ञात होने योग्य हो। वह ज्ञात होने योग्य हो, बस इतना! अब, बीच में यह कहाँ से लाया? बीच में यह कहाँ से लाया कि पचास घर में यह घर मेरा? पचास लड़कों में यह लड़का मेरा।

मुमुक्षु – घर में रहता हो तो इसका न कहलाये तो किसका कहलाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री – कहाँ रहता है ? रहता है तो यहाँ असंख्य प्रदेश में। असंख्य प्रदेश में जानने-देखने के भाव में रहनेवाला आत्मा है। अपने में (रहा है) वैसे यह पचास घर में, पचास लड़कों में, पचास गहनों में, पचास गायों में... गायों का झुण्ड चला जाता है या नहीं ? घण समझे न ? गायों का समूह सबेरे-शाम चला जा रहा हो, पच्चीस-पचास-सौ गायें एक साथ हों वे तो प्रतिभासयोग्य है, ज्ञात होने योग्य है। (उनमें) यह गाय मेरी (– ऐसा कहता है)। हमारे एक पटेल थे, वे साथ में आये। गुजर गये वे पटेल, नहीं ? वे पटेल कहते थे यह मेरी गाय, मैंने अमुक को दी है। मैंने कहा – यह मेरा आया कहाँ से ? मोह से इसने 'यह मेरा' — ऐसा मोह के द्वारा जानता और देखता है। जानता-देखता है, वह तो इसका स्वभाव है और पर ज्ञात हों और दिखाई दें, वह उनका स्वभाव है परन्तु 'यह मेरे हैं' – ऐसा कहाँ से लाया ? भाई ! ठीक है ? भाई ! क्या है ? यह ठीक है।

मुमुक्षु – परन्तु मोह तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री – लो, ठीक ! ठीक है, ऐसा नहीं आया, मोह है यह आया।

मुमुक्षु – सबके भाव में अलग बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह इसके लिये तो बात होती है, भाई ! तू तो सर्व ज्ञान-दर्शन-उपयोगमय है। आया है या नहीं ? आया या नहीं ? सर्व उपयोगमय है। है या नहीं ? **सर्व उपयोगमय है** – १७५ (गाथा में) आ गया है।

आत्मा अर्थात् ? जैसे शक्कर अर्थात् मीठेपन और सफेद का पिण्ड, वह शक्कर, कंकरी। गलपन, गलपन समझते हो न ? मीठास... मीठास और सफेदाई, यह तो मुख्य, हाँ ! मुख्य बात है। (उसका) पिण्ड वह शक्कर है; वैसे आत्मा अर्थात् जानने और देखने के उपयोगमय आत्मा है। जानना और देखना (ऐसा) सर्व उपयोगमय आत्मा... ओ...हो... ! जानन-देखन स्वभावमय आत्मा को जानने-देखने का स्वभाव तो है और यह आत्मा के अतिरिक्त दूसरी सब चीजें ज्ञेय होने के, प्रतिभास्य होने के योग्य है। यह तो वस्तु की मर्यादा है। तदुपरान्त बीच में डाला कि यह मेरा-यह तो इसे ज्ञान-दर्शन से देखना चाहिए कि यह है। इसके बदले मोह से बीच में देखा कि यह मेरा, इसे मिथ्यात्वभाव कहते हैं। गजब बात भाई ! समझ में आया ?

शरीर है, सबके शरीर एक साथ है, ५०-१००-२०० लोग हैं। उनमें इस शरीर को ऐसा देखना वह तो सबका है, उसमें यह शरीर मेरा – ऐसा कहाँ से आया?

मुमुक्षु – लगे तो दुखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – उसके कारण नहीं दुखता। (उसके कारण दुःख हो यह) बिल्कुल झूठ बात है। अन्दर द्वेष करे तो दुःख होता है। इसके कारण दुःख है ही नहीं। यह द्वेष करता है, इसलिए आत्मा को ज्ञान में जोड़ना (कि) मैं ज्ञान चैतन्य हूँ, जानने-देखनेवाला... द्वेष-मुझमें है ही नहीं। किसकी लगाई है यहाँ? आत्मा की (लगाई) है। समझ में आया? शान्ति कैसे मिले? ओ...हो...!

मैं जानने-देखनेवाला (हूँ)। उस जानने-देखनेवाले की किरण निकलने पर, जानने-देखने की किरण निकलने पर साथ ही 'यह मेरा' ऐसे मोह को जोड़ देना, वह भावबन्ध है। यह मोह से देखता है या राग से देखता है। यह मुझे इष्ट है। समझ में आया? मेरे लिए यह दया पालने योग्य यह जीव है, मेरे लिए यह मार डालने योग्य है। यह दया पालने योग्य है – ऐसा तूने कैसे देखा? वे तो ज्ञेय हैं — तेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य ज्ञेय है। यह मुझे दया पालने योग्य है, यह राग से इसने देखा। राग से-मिथ्या अभिप्राय से देखा। इसे देखना आया नहीं। समझ में आया?

आहा...हा...! यह बहुत शरीर हैं, वाणी भी बहुत प्रकार की है। उसमें 'यह वाणी मेरी' – ऐसा कहाँ से आया? जगत की जड़ लक्ष्मी भी प्रतिभासित होने योग्य है, ज्ञान में प्रतिभासित होने योग्य और यह जाननेवाला-प्रतिभासस्वरूप है, उसमें 'यह लक्ष्मी मेरी' – ऐसा कहाँ से आया? भाई! न्याय से तो बात है या नहीं? आहा...हा...! मानी हुई मान्यता विपरीत है। भ्रम अर्थात् इसकी मानी हुई मान्यता है।

प्रश्न – यह शरीर नहीं?

समाधान – शरीर, शरीर है।

प्रश्न – इसमें दुःख नहीं होता।

समाधान – दुःख शरीर के कारण नहीं होता।

प्रश्न – अच्छा हो, तब क्यों नहीं होता ?

समाधान – परन्तु अच्छा किसे कहना ? उसके कारण उसकी पर्याय (होवे) उसमें अच्छी–बुरी कहना किसे ? जो पर्याय जिस प्रकार जिस काल में उसकी हो, उसमें अच्छी–बुरी कहना किसे ? विष्टारूप परमाणु हुए वे बुरे है – ऐसा (कहा किसने ?) वहाँ अन्दर trademark लगाया है कि यह बुरा कहलाता है ? किसने किया अन्दर ? उस समय की पुद्गल की अवस्था है। मौसम्बी के पानीरूप परिणमना और परमाणु अच्छेरूप परिणमे, वह अच्छा कहा किसने ? वहाँ (छाप) लगाई है ? Register है कि यह अच्छा ?

मुमुक्षु – यह वैद्यों ने कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री – वैद्य सब मूर्ख हैं, ऐ...ई! समझ में आया ? आहा...हा...! जो चीज जिस प्रकार है, उस प्रकार अपने में प्रतिभास न करके, प्रतिभासस्वरूप को जानने–देखने में न रखकर, तदुपरान्त बीच में यह लकड़ी डाले (विपरीतता करे, वह मिथ्यात्वभाव है)।

रागरूप... यह मुझे इष्ट है। वहाँ अन्दर इष्ट की छाप है ? यह इष्ट है ? वस्तु इष्ट है ? मौसम्बी इष्ट है (– ऐसी) है छाप अन्दर मौसम्बी में ? मरने के समय (ऐसा कहे) इसे जो साध्य हो तो डालो मौसम्बी ! अर...र ! अभी महाकठिनाई से श्वांस ली जाती है, उसमें मौसम्बी डालना ! मुझसे बोला जाये ऐसा नहीं। क्या करना ? समझ में आया ?

यहाँ एक लड़का मर गया न ? गुरुकुल में एक लड़का था, दो–तीन भाईयों के बीच एक ही लड़का (था), बहुत बड़े गृहस्थ हैं, यह तो बेचारे अन्तिम ठीक करने गये कि बहुत (पीड़ा) है तो मौसम्बी डालें, मौसम्बी डाली साथ ही श्वाँस छूट गया, देह छूट गयी, वहाँ उलझ गयी। ऐसे हवा लेना कठिनाई से (बनता हो)... अन्त में यहाँ से श्वाँस ऊँचा उठा हो, यहाँ वह कफ बाधक हो उसमें वह पाव सेर मौसम्बी डाले, यह जाने कि कुछ ठीक करते हैं, ऐसा करते नीचे उतरे नहीं। किसे अच्छा कहना ? क्यों, भाई ? देखा नहीं उस समय ? एक जरा से पानी डालते थे तो विचार आता था कि इसे बाधक तो नहीं न ? जरा सा पानी डालते (थे) तब विचार आता था, हाँ ! इसे रोकता है, यहाँ कफ रोकता है ऐसा होता था। विचार आता था। परन्तु इतना जरा जायेगा तो उतर जायेगा, उसे तो पता भी नहीं होता। आहा...हा...!

अरे जगत की चीज कहाँ और तू कहाँ ? बापू ! वह मौसम्बी तृषा के समय अच्छी लगती हो, उस समय ऐसा होता है, बोला नहीं जाये अरे... ! यह ! युवा दस वर्ष का, बारह वर्ष का लड़का (था) श्वाँस निकल गयी। यहाँ कुछ डाला, उसे बेचारे को तो अच्छा भाव हुआ, उसे तो कुछ (था नहीं) परन्तु वहाँ श्वाँस की नली ही कठिनता से चलती हो, कठिनता से चलती हो, वह जोर से पसीना उतर जाये, पसीना उतर जाये कि इतनी सली उसमें वह श्वाँस (ले सके नहीं) और मरने की अन्तिम स्थिति ! हा... हा... ! ऐसा अन्दर होता हो, उसमें वे मौसम्बी डाले (क्यों वह) अच्छी थी न ? कहाँ गयी फिर ? अच्छी कैसे चली गयी ? बापू ! अच्छा-बुरा नहीं, वह तो जगत् का पदार्थ है, जानने-देखने योग्य है।

विष्टा... अं... ह...ह... ! वह विष्टा सुअर खाता है। प्रीति से खाता है, प्रीति से ऐसे जीभ छुआकर ऐसे लेप करके विष्टा खाता है, ऐसे का ऐसे गले में (उतारता नहीं) विष्टा ऐसे चाटता है, चाटकर ऐसे चारों ओर से ठीक करके सूअर (खाता है)। कहो, किसे खराब कहना ? वे परमाणु उस समय की अवस्थारूप परिणमे हैं, वह उनका काल और वह उनका रूप है। अब उनके रूप में इष्ट-अनिष्ट कल्पना किस प्रकार ? ठीक है। आहा...हा... !

कहते हैं कि उसका प्रतिभासस्वभाव होने पर भी... बापू ! यहाँ तो धर्म की बात है। इसलिए दुनिया से एकदम उल्टी है। दुनिया से दूसरी लगे। यहाँ तो वास्तविक सत्य क्या है और उस सत्य में असत्य घोटाला कैसे खड़ा करता है ? - (उसकी बात है)।

कहते हैं, वह प्रतिभास्य अर्थात् **(प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थसमूह को जिस मोहरूप,....** भाव से, मोहरूप भाव से देखता-जानता है। **रागरूप...** भाव से देखता-जानता है। **द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है,...** ऐसे जानने-देखने का भाव है, इस प्रकार जानना-देखना होवे तो उसके बदले मोह-राग और द्वेष भाव से जानता-देखता है। यह भाव है, वह मलिन परिणाम है, मिथ्यात्वसहित का मलिन विकार है। कहो, समझ में आया ?

यहाँ तो प्रवचन में ज्ञेयतत्त्व का (निरूपण चलता है)। ज्ञेय अर्थात् जैसे ज्ञेय जिस प्रकार हैं, उनका वर्णन है। यह ज्ञेय आत्मा जानने-देखने के उपयोगमय है और सब पर ज्ञेय प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेय है। इसके अतिरिक्त इसमें तीसरा कुछ है नहीं। समझ में आया ? आहा...हा... !

इस पदार्थसमूह को जिस मोहरूप भाव से, रागरूप भाव से, द्वेषरूप भाव से-पर्याय से देखता-जानता है, उससे ही मलिन होता है। देखो! उपरक्त अर्थात् मलिन / विकार। उससे ही विकार होता है। कर्म से होता है - ऐसा नहीं कहा है। इस ज्ञान को जानने-देखने से नहीं कहा। परवस्तु ज्ञात हो, दिखाई दे, उससे नहीं कहा, बीच में मोह और राग-द्वेष खड़ा करके देखता-जानता है, उससे मलिन होता है। ठीक है? कहो, इसमें कुछ समझ में आया?

कहीं के कहीं लड़के थे, स्त्री का जीव कहीं था, एक वनस्पति में था, एक नीम में था, यहाँ एकत्रित हो गये। कहाँ उसमें किसे (मेरा) कहना? समझ में आया? यह (एक व्यक्ति ने) प्रश्न किया था। (संवत्) १९८७ में! १९८६ का अमरैली का चातुर्मास पूरा हुआ न? तब 'चितल' गये, इस 'मनसुख की' सगाई करनी थी न! सगाई की (एक व्यक्ति ने पूछा) महाराज! यह किस प्रकार जुड़ता होगा? कहा, क्या जुड़े? धूल! एक आवे कहीं वनस्पति में से और एक आवे कहीं कीड़ी में से! यह सब (कहे) एकत्रित (हुए)। किसे कहना एकत्रित? और किसे कहना अलग? बापू! भिन्न चीजें हैं। (संवत्) १९८६ में अमरैली का चातुर्मास पूरा करके १९८७ में चितल गये थे न? ये प्रश्न किया कि यह सब मेल खा जाता है, यह मूर्तियाँ और यह कन्या... क्या होगा? (दोनों के बीच) कुछ होगा? क्या हो? धूल...! किसी को ऐसे पूर्व कर्म का मेल हो, बाकी तो एक कहीं का (और दूसरा कहीं का)? और वह भी भिन्न-भिन्न के कारण... कोई जीव चींटी में से आया और कोई वनस्पति में से आया, निगोद में अनन्त वनस्पति पड़ी है। यहाँ यह मेरा और यह मुझे इष्ट और यह मुझे अनिष्ट — ऐसी कल्पना से लेकर संसार का घर खड़ा किया है।

मुमुक्षु - वापस भिन्न पड़ जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री - भिन्न वे (ऐसे) पड़े कि अनन्त काल में कभी कहीं इकट्ठे भी न हों, कहीं मेल न मिले कि यह क्या है?

मुमुक्षु - लंका की लाड़ी और घोघा का वर!

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ, यह कहते हैं। ऐसा भी अन्तर में मानते कहाँ हैं? मानना चाहिए कि ये कहाँ के कहाँ? कोई किसी का है नहीं। कोई किसी की चीज है नहीं। ऐसा कहे कि इस लड़के के प्रति मुझे ऐसा प्रेम होता है कि कौन जाने क्या है? तेरे राग के कारण

(ऐसा लगता है)। क्या है क्या फिर? व्यर्थ में किसकी लगायी है? उसको अच्छा लगवाना, चार लड़कों में वह कुछ जरा सेवा-वेवा करता हो (तो ऐसा कहे कि) इसके प्रति मुझे प्रेम आता है। ओ...हो...! क्या है? मूढ़ मोह खड़ा करके तू मोह को लड़ाता है। समझ में आया? सत्य बात है या नहीं? और तुम्हारे तो छह लड़के हैं, लो! इसे फिर दस! किसे दस और किसे छह? कहना किसका? आहा...हा...! जगत की बात!

अनन्त ज्ञेय हैं, वे अपने-अपने कारण परिणमनकर टिक रहे हैं। उसमें यह जाननेवाला-देखनेवाला भगवान आत्मा, वह परवस्तु को मोह और राग-द्वेष से देखे, यही इसे बंधन है, यही इसकी मलिनता होती है। देखो! इससे ही मलिनता होती है अर्थात् यह स्वयं ही मलिन है, ऐसा। कर्म से मलिनता होती है या जानना-देखना (होता है), वह मलिनता का कारण नहीं है। यह बीच में लप डालकर देखा, यही मलिनता का कारण है। ठीक है? भाई! न्याय से इसे समझना तो पड़ेगा या नहीं?

जो यह उपराग (विकार) है.... यह तो उपरक्त कहो या उपराग कहो (दोनों एकार्थ हैं)। यह मलिनता विकार है, **वह वास्तव में....** जीव को **स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबन्ध है।....** स्निग्धता और रूक्षता में समान वह जीव को भावबन्ध की पर्याय भावबन्ध है। ओ...हो...! कहाँ का आया और कहाँ फँसा! यह हमारा सम्प्रदाय, यह हमारे त्यागी, हमारे साधु और यह हमारे (अमुक)... बापू! कहाँ तेरा कौन है? भाई! अभी तुझे पता (नहीं)। तू ज्ञानस्वरूप जानने-देखनेवाला है। यह मेरे शिष्य हैं, इनके लिए तुम्हें इतना करना पड़ेगा, इन्हें हमें साथ देना पड़ता है, ये कोई भूल करें तो इनकी भूल को गुप्त रखना पड़ता है, दुनिया में प्रसिद्ध हुई हो तो भी! कहते हैं, इसने देखने में-जानने में मोह की लप डाली है। राग-द्वेष के कारण यह देखता-जानता है।

वह वास्तव में स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय... देखो! (मूलग्रन्थ में) नीचे (फुटनोट में) स्पष्टीकरण है। स्निग्ध अर्थात् चिकनापन, रूक्षत्व अर्थात् रूखापन, स्थानीय अर्थात् समानता। स्निग्धरूक्षस्थानीय। अर्थात् स्निग्धता-रूक्षता-स्थानीय अर्थात् समान। स्निग्धता और रूक्षता जैसे पुद्गल में-पुद्गल में इकट्ठा होने में, पुद्गल से पुद्गल में स्निग्धता और रूक्षता दो, चार, तीन, पाँच आदि स्निग्धता के अंश हों तो यह दो एकत्रित होकर यह

दिखता है, यह उसके स्निग्ध और रूक्षता के भाव जड़ में होते हैं। उसके समान आत्मा में राग-द्वेष की चिकनाई का भाव आत्मा में होता है। कहो, समझ में आया?

वह वास्तव में.... स्निग्धत्व अर्थात् चिकनापन जैसे जड़ में है और रूखापन जैसे जड़ में है; वैसे आत्मा में उनके समान आत्मा में राग-द्वेष और मोह भावबन्ध (है वह) चिकने के समान और रूखे के समान है। देखो! भावबन्ध! ओ...हो...! जानन-देखन भगवान! उसे जानन-देखनरूप न रखे और इस प्रकार देखे, वह भावबन्ध है। उस भावबन्ध को मिटाने का उपाय जानन-देखनमय मेरा उपयोग अकेला सर्व आत्मा ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप पूर्ण हूँ — ऐसा आश्रय दृष्टि को उपयोग का मिले अर्थात् आत्मा का मिले तो यह स्निग्धता-रूक्षता के समान जो मोह है, वह उत्पन्न नहीं हो। कहो समझ में आया?

और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बँधता है।.... देखो! ऐसे भावबन्ध के मोह और राग-द्वेष के परिणाम करे, उससे अवश्य नये पौद्गलिक कर्म बँधते हैं। **इस प्रकार यह द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है।** इस नये बन्ध का निमित्त यह भावबन्ध है। जीव ने मोह और राग-द्वेष से देखने-जानने का खड़ा किया, वह भावबन्ध है। नये द्रव्यबन्ध का यह भावबन्ध निमित्तकारण है। वह बँधने का योग तो उसकी पर्याय है। परमाणु का-जड़ का बँधना, बँधनेयोग्य तो उसकी पर्याय है। निमित्तरूप से उसे कहने में आता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि इसने मोह और राग-द्वेष किये; इसलिए परमाणु को द्रव्य बन्धरूप होना पड़ा, ऐसा नहीं है। यदि इसे द्रव्यबन्ध, उसके कारण हो तो वह निमित्त नहीं रहा। वह तो इसका करनेवाला हो गया अर्थात् इसमें घुस गया। इसमें कुछ समझ में आया? इस निमित्त में बड़ी गड़बड़ है न?

यहाँ कहा कि यह निमित्त है। देखो! इसका अर्थ क्या? उस समय में जैसा इसने भावबन्ध किया, उसी प्रमाण परमाणु स्कन्ध जगत के कर्मवर्गणा के योग्य हैं, वे कर्मरूप परिणमने की योग्यतावाले स्वयं से परिणमित हुए हैं। वे परिणमने के योग्य उस काल, उस प्रकार परिणमने की योग्यता से परिणमित हुए हैं; इसलिए इसके भाव के राग-द्वेष को निमित्त कहने में आता है। इसने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्म को परिणमित होना पड़ा - ऐसा नहीं है। समझ में आया? **द्रव्यबन्ध का निमित्त भावबन्ध है।** लो! १७६ (गाथा पूरी) हुई। अब एक गाथा द्वारा तीन बन्ध की व्याख्या करते हैं।

गाथा - १७७

अथ पुद्गलजीवतदुभयबंधस्वरूपं ज्ञापयति -

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।

स्पर्शैः पुद्गलानां बंधो जीवस्य रागादिभिः।
अन्योन्यमवगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः।।१७७।।

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूपक्षत्वस्पर्शविशेषैरकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबंधः। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबंधः। यः पुनः जीव कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबंधः ।।१७७।।

एवं भावबंधकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थलं गतम्। अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोः परस्परबंधो, जीवस्य तु रागादिभावने सह बंधो, जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेत्ति त्रिविधबंधस्वरूपं प्रज्ञापयति - फासेहिं पोग्गलाणं बंधो स्पर्शैः पुद्गलनां बंधः। पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगत-रागादिभावनिमित्तेन स्वकीयस्निग्ध-रूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसंयोगेन योऽसौ बंधः स पुद्गलबंधः। जीवस्स रागमादीहिं जीवस्य रागादिभिः। निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्त्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रा-गादिभिः। सह परिणमनं स जीवबंध इति। अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो अन्योन्यस्यावगाहः पुद्गलजीवात्मको भणितः। निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरुक्षस्थानीय-रागद्वेषपरिणतजीवस्य बंधयोग्य स्निग्धरूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षणः स इत्थंभूतबंधो जीवपुद्गल इति त्रिविधबंधलक्षणं ज्ञातव्यम्।।१७७।।

अब, पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और उन दोनों के बन्ध का स्वरूप कहते हैं –

स्पर्श से बन्ध पुद्गलों का, राग से जीव का कहा।
अन्योन्य के अवगाह से, बन्ध उपभयात्मक कहा॥

अन्वयार्थ : [स्पर्शैः] स्पर्शों के साथ **[पुद्गलानां बंधः]** पुद्गलों का बन्ध, **[रागादिभिः जीवस्य]** रागादि के साथ जीव का बन्ध और **[अन्योन्यम् अवगाहः]** अन्योन्य अवगाह वह **[पुद्गलजीवात्मकः भणितः]** पुद्गलजीवात्मक बन्ध कहा गया है।

टीका : प्रथम तो यहाँ, कर्मों का जो स्निग्धता – रूक्षतारूप स्पर्शविशेषों के साथ एकत्वपरिणाम है, सो केवल पुद्गलबन्ध है; और जीव का औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है; और जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है, सो उभयबन्ध है। [अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक-दूसरे के परिणाम में निमित्तिमात्र होवें, ऐसा (विशिष्ट प्रकार का – खास प्रकार का) जो उनका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, सो वह पुद्गल-जीवात्मक बन्ध है।] ॥१७७॥

प्रवचन नं. १८३ (D*) का शेष — कार्तिक कृष्ण १३, बुधवार, १३ नवम्बर १९६३

अब, पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और उन दोनों के बन्ध का स्वरूप कहते हैं – तीन प्रकार के बन्ध का स्वरूप एक गाथा में बतलाते हैं। पुद्गल, पुद्गलरूप पुराने और नये का बन्ध कैसे हो ? वह पुद्गल बन्ध; जीव को विकार का परिणमन, (वह) जीवबन्ध और दोनों का एक क्षेत्र में विशिष्ट निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से रहना, वह उभयबन्ध (कहलाता है)। १७७ (गाथा)

फासेहिं पोग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो भणिदो।।१७७।।

स्पर्श से बन्ध पुद्गलों का, राग से जीव का कहा।
अन्योन्य के अवगाह से, बन्ध उपभयात्मक कहा॥

ओ...हो...! ज्ञेय का स्वरूप किस प्रकार स्वतन्त्र ज्ञेय स्वयं से परिणम कर, बदलकर, टिक रहे हैं। उनके प्रकार के वर्णन में यह तीन बन्ध का स्वरूप स्वतन्त्र है – ऐसा बतलाते हैं।

प्रथम तो यहाँ, कर्मों का जो स्निग्धता – रूक्षतारूप स्पर्शविशेषों.... क्या कहते हैं ? कर्म में जो चिकनाहट और रूखापनरूप स्पर्श विशेष हैं अर्थात् दो गुण, चार गुण, छह गुण, आठ गुण या तीन और पाँच इत्यादि जैसे हैं न ? वे **स्पर्शविशेषों के साथ एकत्वपरिणाम है, सो केवल पुद्गलबन्ध है;....** यह पुराने कर्म और नये कर्म का होना – यह एकत्वपरिणाम, वह केवल पुद्गलबन्ध है। इस पुद्गल पुद्गल में भी नये में दो, तीन, चार अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध, उनकी चिकनाहट, रूक्षता की दो, चार, तीन, पाँच आदि की योग्यता प्रमाण बँधे, उसका नाम पुद्गलबन्ध कहा जाता है। अथवा पुराने कर्म के साथ नये बँधे, उसमें भी उसकी स्पर्श की चिकनाहट, रूक्षता की योग्यता प्रमाण बन्धन होता है। समझ में आया ? क्या कहा ?

कर्म को जो चिकनाहट और रूक्षतारूप स्पर्श विशेष (अर्थात्) खास स्पर्श —दो, चार, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह, तेरह इत्यादि, सोलह, अठारह जो उसके योग्य है, उस प्रमाण चिकनाहट और रूक्षता के खास स्पर्श से एकत्वपरिणाम (होवे वह)। नये पुद्गल कर्म बँधें, उसमें भी ऐसे स्पर्श विशेष के कारण एकत्वपरिणाम होते हैं। पुराने के साथ नये हों, उसे भी इस प्रकार एकत्वपरिणाम होते हैं। समझ में आया ?

एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबन्ध है;....

प्रश्न – पुराने–नये इकट्ठे होकर बँधते हैं ?

समाधान – कैसे ? बँधते नहीं ? पुराने पड़े हों और नये वापस नहीं आते ? उसमें भी स्निग्धता–रूक्षता की योग्यता से स्कन्धरूप होते हैं। वहाँ स्वयं स्वत: स्कन्धरूप होते हैं न ? पूर्व के पड़े (थे) और नये आये, वे भी उनकी स्निग्धता–रूक्षता की योग्यता प्रमाण वहाँ स्कन्धरूप होते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! इसे कौन कहता है कि ऐ... यह पूर्व के परमाणु चार स्पर्शवाले हैं और नये हों तो छहरूप होकर यहाँ छहरूप यह हो अथवा छह यह है और वे चार हैं और चिपककर छहरूप हों, अहो ! उसकी पर्याय का स्वभाव !

सत्ता के कर्म के साथ नया बन्ध होता है, वह भी उसके स्पर्श विशेष के कारण बन्ध होता है। समझ में आया ? समझ में आया या नहीं ? भाई ! नये रजकण में, रजकण एकत्रित होकर स्कन्धरूप बँधे, उनमें भी उसका स्पर्शविशेष जो दो, चार, तीन, पाँच, सात, नौ,

ग्यारह, तेरह, सोलह, अठारह, उसकी जो योग्यता है, तद्नुसार वह नया स्कन्ध होता है। पुराने के साथ नये का बन्ध भी इस प्रकार (उसकी) योग्यता से स्कन्ध का बन्धन होता है। समझ में आया ? सभी स्कन्ध में स्कन्ध उनकी स्निग्धता-रूक्षता की योग्यता प्रमाण यह सब बन्धरूप होकर आहारवर्गणा की यह स्थिति खड़ी हुई है। कण्ठ और यह और यह और यह... यह... इस (रूप हुए हैं वे) आत्मा के कारण नहीं। यहाँ तो कर्म बन्ध की बात है परन्तु इस नोकर्म में भी ऐसा है। यह सब अपने-अपने कारण (बँधते हैं)। इसमें अनन्त स्कन्ध हैं। यह सब एक स्कन्ध नहीं, इसमें जो एक-एक स्कन्धरूप इसके स्कन्धों में दो, चार, तीन, पाँच इत्यादि की योग्यता हो, उस-उस प्रकार से उसका बन्ध होता है - ऐसा ही उसका पर्याय धर्म है। यहाँ तो कर्म का वर्णन है। समझ में आया ?

कर्मों का जो स्निग्धता - रूक्षतारूप स्पर्शविशेषों.... खास स्पर्श, ऐसा। अकेला स्पर्श ऐसा नहीं परन्तु उसके जो खास (स्पर्श) हों वे। दो, चार आदि। उनके साथ **एकत्वपरिणाम....** लो! उनकी योग्यता से तो एकत्वपरिणाम (होते हैं) **सो केवल पुद्गलबन्ध है;....** अकेला पुद्गल का बन्ध है। वह एकत्वपरिणाम स्कन्ध की योग्यतावाला होना, वह पुद्गलबन्ध है।

और जीव का औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है;.... भाषा देखो! ऐसी ली है। ओ...हो...! भगवान जानन-देखन अबन्ध (अस्पर्शी।) अबन्ध और अस्पर्शी चीज के अनुभव बिना, उसकी दृष्टि बिना, उसके आश्रय-अवलम्बन बिना। भगवान अपने को भूलकर **औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों...** देखो, यह तीनों पर्यायें हैं। मोह, राग और द्वेष विकारी पर्यायों के साथ... इस जीव को औपाधिक परिणाम के साथ एकत्वपरिणाम। इस जीव को उपाधि पर्याय के साथ एकत्वपरिणाम, **सो केवल जीवबन्ध है;....** अभी तो लोगों को समझना कठिन (पड़ता है)। कहो, समझ में आया ?

जीव का औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायों के साथ.... भगवान त्रिकाल स्वभाव (को) विकारी पर्याय के साथ एकत्वपरिणाम-एकरूप पर्याय (होवे), वह केवल जीवबन्ध-अकेला जीवबन्ध है। पहला अकेला पुद्गलबन्ध है, यह अकेला

जीवबन्ध है। विकार बन्धवृत्तिरूप हुआ न? स्वभाव शुद्ध है। स्फटिक का दृष्टान्त दिया है न? भगवान आत्मा निर्मलानन्द शुद्ध उपयोग चैतन्यमय, उस उपयोग में आनन्द आदि की शुद्धता का सम्पूर्ण भण्डार, ऐसे स्वभाव के साथ, ऐसी चीज के साथ मोह और राग-द्वेष की पर्याय का एकत्वपरिणाम (होना), एकपना होना, उसे भावबन्ध कहते हैं। समझ में आया?

सात तत्त्व में आता है न? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध। तो बन्ध क्या है? उसे जानना पड़ेगा न? सात तत्त्व में बन्धतत्त्व आता है न? अजीव का बन्ध, जीव का बन्ध; उसे जाननेवाला आत्मा। जाननेवाला हुआ, फिर वह बन्ध पृथक् रहा, उस बन्ध को एकत्व परिणाम नहीं होता। जानने-देखनेवाला भगवान, ऐसे स्वभाव का भान (होने के) बाद बन्ध के साथ एकत्व परिणाम नहीं (होते); वह पृथक् भेद है। तब इसने बन्ध को जाना कहा जाता है। समझ में आया?

दो बात हुई - एक पुद्गलों का चिपकना। उनकी स्पर्श की जो खास योग्यता है, उससे एकत्व परिणाम को पावे, उसे पुद्गलबन्ध कहा जाता है और जीव को मलिनता कैसे हुई? निर्मलानन्द प्रभु होने पर भी, उसे मोह और राग-द्वेष के उपाधि परिणाम के साथ एकत्व पर्याय हुई, उसे भावबन्ध कहते हैं। निराली चीज तो भावबन्ध के क्षणिक (भाव से) त्रिकाली शुद्ध निराला तत्त्व है, तथापि पर्याय में भावबन्ध का भाव उत्पन्न हुआ। बुद्धि पर्याय और मोह तथा राग-द्वेष पर है इसलिए।

वस्तु स्वभाव तो ऐसा का ऐसा है वह है, परन्तु मोह और राग-द्वेष के परिणाम के कारण एक समय की पर्याय में उपाधि से एकत्वपने के परिणामरूप भावबन्ध खड़ा हुआ है। समझ में आया? अरे...! अपना काम करना हो, उसे इसमें समय कहाँ है? किसी के साथ झगड़ा करने का (समय) है? आहा...हा...!

मुमुक्षु - समय नहीं मिलता।

पूज्य गुरुदेवश्री - मिलता नहीं, वह भी है। पर के पद के कारण समझने का समय भी नहीं मिलता, भाई! पर की पिंजन पिंजने बैठा (उसमें) स्वयं का फैला। क्या है? मैं क्या हूँ? यह क्या है? कहाँ जायेगा? क्या होगा? दो दिन जाना पड़े तो साथ में खाने की

चीज लेकर विचार करता है, कोई व्यक्ति साथ में हो, स्त्री अकेली न जाये, एक लड़का अच्छा हो तो सामने उसे साथ चलावे। दस वर्ष का (लड़का) मुँह के आगे और स्वयं पीछे (चले)। एक मुँह के आगे हो, साथ हो, क्योंकि अपने को बहुत आगे जाना है। शहर में बहुत आगे जाना हो तो एक लड़का साथ में ले जाये। यह कण्डे बीनने जावे तो लड़कियों के साथ एक लड़का ले जाते हैं! ऐसे यहाँ से कहाँ जाना है? कोई साथ है? भाई! यह सब साथ आयेंगे या नहीं? आहा...हा...! कहते हैं, भाई! तुझे बन्ध चिपका कैसे? तुझे यह बन्ध का भूत - उलझन लगी कैसे? भगवान उपयोगमय ज्ञानानन्द है, इसकी सम्हाल नहीं की इसलिए, यह भावबन्ध का भूत लगा है। दूसरा तो कोई उलझाड है नहीं। स्त्री, पुत्र, कर्म-नोकर्म तो व्यवहार उलझाड़ है। यह कर्म का व्यवहार निमित्त (है ऐसा) कहेंगे। निश्चय से तुझे यह उलझाड़ लगी है। समझ में आया? वलगाड अपनी काठियावाड़ी भाषा है। हिन्दी में कुछ होगा। क्या होगा? ऐ...! हमारे यहाँ वलगाड कहते हैं, तुम्हारी हिन्दी भाषा में क्या है? चिपटता है! यह नहीं कहते? यह स्त्री चिपटी... वलगाड! भूत लगता है न, (उसे) हमारे यहाँ वलगाड कहते हैं।

कहते हैं ओ...हो...! यह कौन करे? कहते हैं। इस पुद्गल में, इन परमाणुओं में इन वस्तु की पर्याय का इनका धर्म है, इनकी स्निग्धता-रूक्षता की जितनी बन्ध के लिये योग्यता चाहिए — ऐसे खास स्पर्शरूप परिणमते परमाणु वे उनके कारण पुद्गल का पुद्गल को बन्ध-एकपने की पर्याय दिखती है और जीव अपने ज्ञायकस्वरूप के उपयोग को भूलकर दुनिया को प्रसन्न करने लगा और दुनिया को प्रसन्न होने में खड़ा रहा... दुनिया को प्रसन्न करने में रुका और दुनिया से प्रसन्न होने में ललचाया। आहा...हा...! ऐसे मिथ्या अभिप्राय और राग-द्वेष में इसके एकत्वपरिणाम से इसका भावबन्धन है। वह अरूपी है। भावबन्धन अरूपी है; पुद्गल से पुद्गल का बन्ध है, वह रूपी है।

अब तीसरा। यहाँ दो बन्धन की बात (करने के बाद) तीसरे बन्ध की बात करना चाहते हैं। समझ में आया? **और जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम....** परस्पर परिणाम के **निमित्तमात्र से....** इसमें परस्पर परिणाम के निमित्तमात्रपने से (ऐसा कहा है)। जीव और पुद्गल-दोनों यहाँ एक क्षेत्रावगाह एकत्रित कैसे रहे? (ऐसा) कहते हैं।

यहाँ अन्दर आठ कर्म है, आत्मा है। आत्मा ने भावबन्ध किया, पुद्गल ने स्वयं के कारण पुद्गलबन्ध किया। अब, दोनों यहाँ साथ में कैसे रहे ? ये पुद्गल यहाँ रहे और इनके साथ यह रहा, इनके साथ आत्मा रहा, और आत्मा के साथ (कर्म रहे), निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धरूप से, हाँ! दूसरे के कर्म के वहाँ उसके आत्मा का निमित्तपना (रहा) इसके कर्म को इसका निमित्त-नैमित्तिकपना है। यह दोनों कैसे (साथ रहे) ? कि ये परस्पर **परिणाम के निमित्तमात्र से....** है।

विशिष्टतर परस्पर अवगाह.... यह परस्पर अवगाह तो जहाँ कर्म है, वहाँ आत्मा रहा है, आत्मा है वहाँ कर्म रहे हैं परन्तु यह विशिष्टतर परस्पर अवगाह है। वरना तो वहाँ धर्मास्ति और अधर्मास्ति भी रहे हैं (परन्तु) वे खास ऐसा जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह, उनमें नहीं। यह तो खास (अवगाह है)। यह विकार करे, तब (कर्म) बँधे, उसका उदय आवे और यहाँ स्वयं विकार करे तो (विकार हो) ऐसा खास दो के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाला, उसे यहाँ एक क्षेत्रावगाह रहे, उसे उभयबन्ध कहा जाता है।

फिर से - **जीव तथा कर्मपुद्गल के परस्पर परिणाम....** यहाँ जीव के परिणाम (होंवे वे), उसे निमित्त है और उसके परिणाम इसे (जीव को) निमित्त। ऐसे योग्य निमित्त-नैमित्तिक होने की योग्यतावाले **परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर...** अर्थात् खास **परस्पर अवगाह....** अकेला परस्पर अवगाह नहीं; अकेला परस्पर अवगाह तो आत्मा है वहाँ आकाश, धर्मास्ति, काल भी है परन्तु इस पुद्गलकर्म को आत्मा के साथ तो विशिष्टतर अवगाह है, परस्पर अवगाह, वापस। विशिष्टतर और परस्पर! जहाँ पुद्गल है, वहाँ आत्मा है; आत्मा है, वहाँ कर्म है। दोनों के बीच **निमित्तमात्र से जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है, सो उभयबन्ध है।....** आहा...हा...!

सन्तों ने जंगल में रहकर आत्मा साधा और यह शास्त्र रच गये। आत्मा साधते-साधते शास्त्र ऐसे के ऐसे रच गये, हाँ! उस काल में रचनेवाले थे। यह पुद्गल का अक्षर का परिणमन होता है, हम उसके कर्ता नहीं हैं - ऐसा कहते हैं। यह तो उसके विशिष्ट खास स्निग्धता-रूक्षता की योग्यतारूप अक्षर परिणमित होते हैं और शब्दरूप होकर ग्रन्थरूप होते हैं। हमसे नहीं, हम इसके कर्ता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि पुद्गलकर्म पुराने और नये इकट्ठे हों, उसके हम कर्ता नहीं। निमित्तमात्र हो, वह अलग चीज है।

मुमुक्षु – निमित्त तो है....

पूज्य गुरुदेवश्री – निमित्त में कर्ता कहाँ आया? इसके लिए तो (कहते हैं)। निमित्त का लकड़ा (विपरीत मान्यता) ऐसी है कि यहाँ निमित्त है, इसलिए वहाँ हुआ, बिल्कुल झूठी बात है। समझ में आया? उसके कारण इसका बन्ध हुआ, आत्मा के कारण आत्मा को (बन्ध हुआ)। उसके कारण से यहाँ नहीं और उसके कारण से वहाँ नहीं। पुद्गल के बन्ध के कारण राग-द्वेष नहीं और राग-द्वेष के कारण पुद्गल का बन्ध नहीं। तब तो परस्पर खास निमित्त कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक-दूसरे के परिणाम में निमित्तिमात्र होवें, ऐसा.... निमित्तमात्र होवें ऐसा... उसके कारण यहाँ (होवे) और उसके कारण यह (होवे) ऐसा नहीं। (ऐसा होवे) तब तो एक दूसरे के कर्ता हो जायें। जीव ने राग-द्वेष किया इसलिए कर्म बँधे (-ऐसा) बिल्कुल नहीं है। कर्मबन्धन हुआ, इसलिए यहाँ राग-द्वेष हुआ (-ऐसा) बिल्कुल नहीं; मात्र परस्पर निमित्तमात्र विशिष्टतर सम्बन्ध से (वे साथ रहे हैं)। **ऐसा (खास प्रकार का) जो उनका एकक्षेत्रावगाह....** एक क्षेत्र में रहना - ऐसा सम्बन्ध, निमित्त-नैमित्तिकमात्र से एक क्षेत्र में रहना। सब अपना (कार्य करे)। इसका कार्य यह करे और उसके कार्य वह करे। पुद्गल का काम पुद्गल करे और जीव का काम जीव करे। एक जगह रहने पर भी दोनों, दोनों के काम भिन्न-भिन्न करते हैं। किसी का काम कोई नहीं करता। जीव का भावबन्ध का काम पुद्गल नहीं करता, पुद्गल के द्रव्यबन्ध का काम जीव नहीं करता। समझ में आया?

प्रश्न – ....इसमें आ गया?

समाधान – सब इसमें आ गया। निमित्त तो मात्र एक वस्तु है, इतना है परन्तु उसके कारण यहाँ हो और इसके कारण (वहाँ) हो तो निमित्त कहाँ रहा? इसमें विवाद उठाते हैं या नहीं? लो! निमित्त कुछ करता तो लगता है, कहते हैं। दूसरा चाहे वह कर्ता करो। अरे... भगवान! क्या हो? भाई! क्या करेगा तू उसे? कर्म का तुझे करना है? उसका करना है? क्या करेगा तू? आहा...हा...!

एक बार देह छूटने की स्थिति को देखे तो इसे पता पड़े। देखे तो! ऐसे से ऐसे देखकर चला जाए, ऐसा नहीं। निरखकर जरा देखे कि क्या है यह क्रीड़ा? यह देह और आत्मा। वह परमेश्वर यहाँ उलझा, दृष्टि में! वहाँ तो हो न हो वह (होता है)। अं ह ह.... ! ऐसे करने जाये तो न हो, वह अंहहह... ! होने की शक्ति की जड़ की पर्याय होनी हो वह होती है। जीव में शक्ति थी इसलिए अंहहह करता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! भ्रम तो देखो! ऐसा कि जीव में कुछ शरीर शक्ति रही तो अंहहह... हुआ परन्तु यह, अंहहह... हुआ, वह जड़ का (हुआ), वह रूक गया, वह जड़ का कार्य हुआ। आत्मा ने राग में राग के परिणाम के साथ एकत्व होकर उसके सन्मुख देखा, वरना दूसरा कुछ किया नहीं। समझ में आया?

उनका एकक्षेत्रावगाह.... अवगाह अर्थात् रहना-व्यापना। ऐसा सम्बन्ध **वह पुद्‌गल-जीवात्मक बन्ध है।** कहो, ठीक है? तीन बन्ध सिद्ध हो गये। तीन बन्ध! तीन बन्ध हुए न? पुद्‌गलबन्ध, जीवबन्ध और उभयबन्ध - तीन की व्याख्या हुई।

फिर से, ऊपर से देखो। पुद्‌गल जो परमाणु हैं, रजकण हैं, उन रजकणों में स्निग्धता-रूक्षता की अधिकता-हीनता की जिस योग्यता से बन्ध हो, वैसे खास विशेष परमाणु की स्निग्धता-रूक्षता के कारण कर्म का बन्धन है। कर्म के पुद्‌गल बँधते हैं, उन्हें आत्मा नहीं बाँधता और आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला होने पर भी, मोह और राग-द्वेष का चश्मा लगाकर दूसरों को देखता-जानता है। भगवान आत्मा जानने-देखने के स्वभाववाला होने पर भी, यह मेरा, मैं इसका; यह इष्ट और अनिष्ट — ऐसी मलिन पर्याय द्वारा जानने-देखने का काम करता है, वह मलिन पर्याय उसे भावबन्धरूप है। उसे भावबन्धरूप है और परमाणु से परमाणु इकट्ठे होकर स्निग्धता-रूक्षता की योग्यता से बन्ध पड़े, वह द्रव्यबन्ध है और दोनों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपने रहना और एक जगह खास निमित्तपने के कारण रहना, उसे दो का उभयबन्ध कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

जिसे बन्ध जानकर, (उसे) छेदना हो, उसे इसे समझकर कि मेरे कारण मुझे बन्ध है, कर्म के कारण नहीं, दूसरे द्रव्य के कारण नहीं, कुटुम्ब के कारण नहीं, देव-गुरु-शास्त्र

के कारण नहीं। मेरे (रूप) देखने-जानने में, मेरे और तेरे (पने की) मान्यता और इष्ट-अनिष्ट का राग-द्वेष (करता है) वह तुझे दु:खदायक बन्ध है। वह संसार और अधर्म है। वह अधर्म मिटाना हो, भावबन्ध का एक समय की पर्याय यदि मिटानी हो तो त्रिकाली अबन्धस्वरूपी भगवान आत्मा उपयोग-दर्शनज्ञानमय है, आनन्दमय है - ऐसे चैतन्य पर दृष्टि करने से इसके भावबन्ध का मिथ्यात्वभाव उत्पन्न नहीं होता। यह इसका धर्म का उपाय है; दूसरा कोई उपाय है नहीं। कहो, ठीक है ?

कर्म का बन्ध नहीं, वह तो निमित्त है। स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और इन दुनिया की चीजों का बन्धन जीव को है ही नहीं; वे तो बाहर की चीजें हैं। उनका बन्धन, इसके जानने-देखने के चश्मे को छोड़कर बीच में मोह-राग-द्वेष का चश्मा आड़ में रखता है। इस कारण ज्ञेय को ज्ञेयरूप से न जानकर, यह ज्ञेय मेरा यह इष्ट और अनिष्ट है — ऐसी मान्यतापूर्वक राग और द्वेष को खड़ा करता है, यह इसे दुखदायक अधर्म और भावबन्ध है।

मुमुक्षु - करने का भाव हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - कौन कहता है हो जाता है ? व्यर्थ में वहाँ गोते खाता है।....

प्रश्न - परन्तु विचार करे कौन ?

समाधान - लाता है इसलिए करता है। यह राग लाता है, अन्दर उछाला मारता है। ऐसा हो जाये। फिर (कहता है) मैं दुकान पर नहीं जाता, परन्तु यहाँ अन्दर तो हर रोज जाता है! लड़का इनकार करे, 'कुछ काम नहीं बापू! तुम वहीं रहो।' उसे जरूरत नहीं। यह वहाँ जाये तो अब उसे कुछ आता नहीं, फालतू बैठे व्यर्थ... लड़के और नौकर वे सब (काम) करते हैं।... कौन खड़ा करता है ? कर्म खड़ा करता है ?

मुमुक्षु - यह तो आप बताओ कि कौन करता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री - अन्दर इसे मूर्च्छा-भ्रम आता है। भ्रम! यह इसका ऐसा हो गया, इसका ऐसा हो गया, इसका ऐसा करें तो, इसका ऐसा करें तो... ऐ... विकल्प की मोह की जाल खड़ी की है। अन्दर फिर समाधान भी करे! यह लड़का सम्हाल लेगा या तो ऐसा कर डालेंगे, अमुक हो जायेगा... ऐसा करके... गड़बड़-गड़बड़ खड़ी करता है

न! यह खड़ी करता है, अपने आप नहीं होती। अपने आप कहाँ से हो? धूल में हो? अपने आप तो आनन्द हो। ज्ञानस्वरूप सहज स्वभाव की दृष्टि करे तो ज्ञान और आनन्द हो। यह तो कृत्रिमता खड़ी करता है। अन्दर प्रेम है, रस है रस! किसी का टेलीफोन आवे और समाधान करे, दुकान ठीक चलती है, दिक्कत नहीं और यह मस्तिष्क में विकल्प से समाधान करे (कि) ठीक चलती है, अन्दर टेलीफोन यह करता है! भाई! यह सब करने का है। दो चले गये देखा नहीं? आया कोई साथ में? धूल भी धूल, नहीं, सब व्यर्थ–व्यर्थ! व्यर्थ की लगाई है।

ढोरा ऊपर पिंजण! यह समझ में आया? ऊँची जमीन होती है न? ऊँची खुली! और पिंजारा नहीं होता? पिंजारा! टाँक होता है न? उसे मारे... क्या कहलाये इसका वह? लकड़ी का होता है न? डण्डा! परन्तु वह तो ऊपर हवा हो तो सब कहीं उड़कर चला जाये। वहाँ नीचे कुछ इकट्ठा न हो इसलिए हमारे काठियावाड़ में यह कहते हैं, ढोरा ऊपर पिंजण! समझ में आया या नहीं? तुम्हारे हिन्दी में कुछ होगा?

मुमुक्षु – ढोरा ऊपर पिंजण हवा में नहीं करते, कमरे में करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ, कमरे में करे नहीं तो ऐसे–ऐसे डण्डा मारे वहाँ अलग पड़ता जाये और हवा लगती जाये तो एक पोनी ऐसे जाये और एक पोनी ऐसे जाये तब तेरी तलाई कब हो? समझ में आया? वैसे अज्ञानी अपने स्वभाव को भूलकर डोरा ऊपर पिंजण करता है। ऊँचा होकर करे, मैं कुछ ऐसा हूँ, मैं कुछ ऐसा हूँ और यह मेरे यह हैं। ऐ... राग–द्वेष और मोह की पिंजण करे और चार गति में भटके।

मुमुक्षु – इसमें तो न इकट्ठा हो वहाँ तो होता होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री – धूल में भी नहीं होता। क्या हुआ है? इकट्ठा कब हुआ है, वह तो परमाणु–परमाणु (इकट्ठे होकर रहे हैं)। यहाँ क्या कहते हैं? एक स्कन्ध की योग्यता के कारण सब इकट्ठे होकर वहाँ पड़े हैं; वे तेरे कारण नहीं। वह रुपया वहाँ पड़ा है और यहाँ आता है, (वह) उसके स्कन्ध की योग्यता की स्निग्धता की तारतम्यता के कारण आता और जाता है, वह शक्ति और उसके परिणमन में, कोई चूरा होता है, ,कोई टुकड़े हो या इकट्ठा हो (वह) उसकी योग्यता से होता है। तेरे कारण बिल्कुल नहीं। आहा...हा...!

मूढ़ जहाँ हो वहाँ लग पड़ा! यहाँ आया तो यहाँ, नरक में जाये तो वहाँ (लग पड़ा) ढोर में जाये तो वहाँ (लग पड़ा)। हाथी होवे तो पूछ ऐसे और मुँह ऐसा... क्या कहलाता है? सूँड! यह मानो यह सब...! अरे! परन्तु यह सब तो ज्ञेय-जड़ की पर्याय है, तुझे और इसके कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ १७७ (गाथा में) भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तीन बन्ध सिद्ध किये।

मुमुक्षु - एक बन्ध जाये तो सब चले जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री - भावबन्ध गया तो द्रव्यबन्ध गया और एक क्षेत्रावगाह भी गया, सब जाता है। एक विकार, मोह, मिथ्याभाव — मैंने इसका किया और मुझसे यह होगा तथा मैंने इसका कर दिया और मैंने यह दया पाली, मैंने इसका यह किया... जो जगत के ज्ञेय जानने योग्य हैं, उसके बदले पालने योग्य है, रक्षा करने योग्य है और मारने योग्य है - ऐसी मान्यता का मिथ्या मोह, अज्ञान है, उसने भावबन्ध का लकड़ा डाला है। उसे स्वभाव की दृष्टि (नहीं होती)। कौन स्वभाव? क्या है? उसकी दृष्टि करे तो नाश हो, दूसरा कोई नाश होने का उपाय नहीं है।

विशेष कहेंगे।

गाथा - १७८

अथ द्रव्य बंधस्य भावबंधहेतुकत्वमुज्जीवयति -

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति।। १७८।।

सप्रदेशः स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गलाः कायाः।
प्रविशन्ति यथायोग्यं तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते।। १७८।।

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशः। अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवाङ्ममनोवर्गणालंबनः परिस्पंदो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकायाः स्वयमेव परिस्पंदवन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च। अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो वध्यन्तेऽपि च। ततोऽवधार्यते द्रव्यबंधस्य भावबंधो हेतुः।।१७८।।

अथ `बंधो जीवस्स रागमादीहिं' पूर्वसूत्रे यदुक्तं तदेव रागत्वं द्रव्यबंधस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति - सपदेसो सो अप्पा स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासंख्येय-प्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेशः। तेसु पदेसेसु पोग्गला काया तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकायाः कर्तारः पविसंति प्रविशन्ति। कथम्। जहाजोग्गं मनोवचनकायवर्गणालंबनवीर्यन्तराय-क्षयोपशमजनितात्मप्रदेश-परिस्पंदलक्षणयोगानुसारेण यथायोग्यम्। न केवलं प्रविशन्ति चिट्ठंति हि प्रवेशानन्तरं स्वकीयस्थितिकालपर्यन्तं तिष्ठन्ति हि स्फुटम्। न केवलं तिष्ठन्ति जंति स्वकीयोदयकालं प्राप्य फलं दत्त्वा गच्छन्ति, बज्झंति रुपेण बध्यन्ते च। अत एतदायातं रागादिपरिणाम एव द्रव्यबंधकारणमिति। अथवा द्वितीय व्याख्यानम् - प्रविशन्ति प्रदेशबंधास्तिष्ठन्ति स्थितिबंधाः फलं दत्वा गच्छन्त्यनुभागबंधा बध्यन्ते प्रकृतिबंधा इति।।१७८।।

अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है -

है सप्रदेशी जीव, जीव-प्रदेश में जो प्रविष्ट हैं।
पुद्गलसमूह रहें यथोचित, जाय हैं, बंधाय हैं॥

अन्वयार्थ - **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[सप्रदेशः]** सप्रदेश है; **[तेषु प्रदेशेषु]** उन प्रदेशों में **[पुद्गलाः कायाः]** पुद्गलसमूह **[प्रविशन्ति]** प्रवेश करते हैं, **[यथायोग्यं तिष्ठन्ति]** यथायोग्य रहते हैं, **[यान्ति]** जाते हैं, **[च]** और **[बध्यन्ते]** बँधते हैं।

टीका - यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होने से सप्रदेश है। उसके इन प्रदेशों में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा का आलम्बनवाला परिस्पन्द (कम्पन) जिस प्रकार से होता है, उस प्रकार से कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते हुए प्रवेश भी करते हैं, रहते भी है, और जाते भी हैं और यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बँधते भी हैं। इसलिए निश्चित होता है कि द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है॥ १७८॥

प्रवचन नं. १८३-E **कार्तिक कृष्ण १४, गुरुवार, १४ नवम्बर १९६३**

'प्रवचनसार' ज्ञेय अधिकार चलता है। ज्ञेय अधिकार! ज्ञान में जानने योग्य जो ज्ञेय, उसका क्या स्वरूप है? - वह कहते हैं। १७७ (गाथा) आ गई। १७८ (गाथा)।

अब, ऐसा बतलाते हैं कि द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है - क्या कहते हैं? आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द शुद्धस्वरूप है। उसे चूककर आत्मा के प्रदेश में जो परिस्पन्द / कम्पन होता है और आत्मा में जो राग-द्वेष और मोह - ऐसा परिणाम होता है, वह भावबन्ध कहलाता है। यह भावबन्ध, द्रव्यबन्ध का निमित्त है। नये जड़कर्म का द्रव्यबन्ध होता है, उसमें वह भावबन्ध निमित्त है।

द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है - देखो! समझ में आया? आत्मा जैसा भाव (करता है) और (आत्म) प्रदेश में (जो) कम्पन (होता है), स्वभाव को भूलकर जितना मोह - मिथ्यात्व भाव और राग-द्वेष भाव करता है, वह भावबन्ध है। वह नये जड़कर्म का हेतु - निमित्त है। समझ में आता है?

मुमुक्ष - राग न करे तो बन्ध न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री - विकार न करे तो बन्ध की योग्यता न हो। बन्ध में बन्ध होने

की योग्यता भी न हो। विकार न करे.... अभी वह १७९ (गाथा में) आयेगा। यहाँ तो अभी हेतु बतलाते हैं। देखो! १७८ (गाथा)।

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति।। १७८।।

उसकी टीका। **यह आत्मा....** है, वह **लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी होने से सप्रदेश है।** क्या कहते हैं? कि एक परमाणु है परमाणु – Point – रजकण, वह जितनी जगह रोके, उतनी जगह को यहाँ प्रदेश कहते हैं। ऐसा आत्मा असंख्यप्रदेशी चौड़ा है। समझ में आया? आत्मा, देह से भिन्न (है)। यह शरीर और कर्म से भिन्न (है)। असंख्यप्रदेशी आत्मा है। असंख्य प्रदेश का अर्थ – एक परमाणु जितनी जगह रोके, उतनी जगह को प्रदेश कहने में आता है। ऐसा आत्मा असंख्यप्रदेशी है।

कहते हैं कि **यह आत्मा लोकाकाशतुल्य....** संख्या कहते हैं, हाँ! लोकाकाश (में) व्यापक (है), ऐसा नहीं। जितने लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं, उतने असंख्यप्रदेशी होने से, उतना चौड़ा (है), ऐसा नहीं (परन्तु) इतनी संख्या में **सप्रदेश है।** आत्मा सप्रदेश है। असंख्यप्रदेश होने से सप्रदेश है। कालाणु आदि तो अप्रदेशी है। उसका दूसरा प्रदेश है नहीं। आत्मा असंख्यप्रदेशी (है); इसलिए सप्रदेश है।

(यहाँ) पहले कम्पन लेना है। **उसके इन प्रदेशों में...** आत्मा के प्रदेशों में **कायवर्गणा,....** (अर्थात्) इस शरीर की वर्गणा, इस परमाणु की मिट्टी। वर्गणा अर्थात् जड़ का समूह। ऐसी **वचनवर्गणा....** वचन के परमाणु का समूह। **और मनोवर्गणा...** यहाँ मन के रजकण का समूह। उसके **आलम्बनवाला....** उसका आलम्बन अर्थात् निमित्तवाला। अपना **परिस्पन्द (कम्पन) जिस प्रकार से होता है,....** आत्मा में असंख्य प्रदेश में कम्पन (होता है), जो मन-वचन-काय की वर्गणा के निमित्त में अपने में जितना, जिस प्रकार का कम्पन होता है, **उस प्रकार से कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते हुए....** क्या कहते हैं? जब आत्मा अपने असंख्य प्रदेश में कम्पन – परिस्पन्द करता है.... समझ में आता है? समझ में आता है या नहीं?

आत्मा वस्तु अन्दर भिन्न है न? यह तो शरीर है। कर्म मिट्टी – धूल है। अन्दर आठ

कर्म है वह भी धूल है, अजीव धूल – मिट्टी है। वाणी की धूल ही है। धूल उड़ती है, देखो! वह आत्मा नहीं। आत्मा तो अन्दर में असंख्य प्रदेश चौड़ा (है)। उस असंख्य प्रदेश में मन-वचन-काया की वर्गणा जो जड़ समूह है, उसके निमित्त से अपने प्रदेश में परिस्पन्द अर्थात् कम्पन अर्थात् कँपता है। परिस्पन्द – कम्पन!

वर्गणा का आलम्बनवाला। आलम्बन (अर्थात्) निमित्तवाला। वह वर्गणा जिसमें निमित्त है। ऐसे आत्मा में असंख्य प्रदेश में परिस्पन्द होता है। तो जिस प्रकार से कम्पन होता है। **उस प्रकार से कर्मपुद्गल के समूह....** वह कर्म होने योग्य जड़ परमाणु मिट्टी है। कर्म होने योग्य पुद्गल मिट्टी जड़ भिन्न है, वे **स्वयमेव परिस्पन्दवाले होते....** हैं। उसके प्रदेश स्वयमेव कम्पनवाले होते हैं।

(परिस्पन्दवाले) **होते हुए प्रवेश भी करते हैं,....** आत्मा असंख्यप्रदेशी है, वहाँ कम्पन के प्रमाण में जड़ परमाणु का समूह अन्दर प्रवेश करते हैं। प्रदेश की संख्या से प्रवेश करते हैं। उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। भाई! समझ में आता है? आत्मा असंख्य प्रदेशी वस्तु का जितना कम्पन होता है, उस प्रमाण में परमाणु (जो) कर्म होने योग्य (होते हैं, वे) स्वयमेव अपने कारण से (प्रवेश करते हैं)। कम्पन हुआ तो उसे प्रवेश करना पड़ा – ऐसा नहीं। परमाणु में उस समय में परिस्पन्द होकर असंख्यप्रदेशी आत्मा है, उसमें प्रवेश करते हैं। एकक्षेत्रावगाह के रूप में प्रवेश करते हैं। असंख्य प्रदेश में घुस जाते नहीं।

जहाँ असंख्य प्रदेशी आत्मा, यहाँ कम्पन के प्रमाण में उस परमाणु की योग्यता से कर्मवर्गणा का समूह है, (जो) स्वयमेव कम्पनवाला है, (उसमें) स्वयमेव कम्पन होकर, असंख्य प्रदेशी जो आत्मा है, उसमें प्रदेश की संख्या से प्रवेश करते हैं। भाई! सम्प्रदाय में तो ऐसा कभी सुना भी नहीं होगा। दया पालो, बस! हो गया।

देखो! **कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव....** ऐसा कहते हैं। आत्मा में कम्पन हुआ तो उस कारण से कर्म को आना पड़ा – ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। वह कर्म की वर्गणा स्वयमेव कम्पनवाली है, वह अपनी योग्यता से अन्तर में प्रवेश करती है। समझ में आया? बाद में बन्ध किसे होता है और (किसे) बन्ध नहीं होता है? – दोनों बात १७९ (गाथा में) कहेंगे। यहाँ तो अभी बन्ध की बात करते हैं न?

रहते भी हैं,... आत्मा का जितना मोह, राग-द्वेष परिणाम है, उस प्रमाण में स्थितिरूप पुद्‌गल वहाँ रहते हैं। रहते हैं, वह स्थिति है। समझ में आया? आत्मा के प्रदेश (में) जिस प्रकार से कम्पन होता है, उस प्रकार से कर्मयोग्य परमाणु स्वयमेव - अपने कारण से प्रवेश करते हैं और अपने कारण से वहाँ स्थितिरूप रहते हैं, टिकते हैं।

और जाते भी हैं;.... और अनुभाग होकर क्षय भी उसके कारण से होते हैं। स्वयमेव उसका पाक आ जाये तो जाते हैं, नाश होता है। (लेकिन) उसके कारण से (होता है)। **और यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों....** यदि उसमें कम्पन के साथ जितने प्रमाण में मिथ्यात्व भाव हो, कि मैं परद्रव्य का कर सकता हूँ, परद्रव्य से मेरे में (कार्य) होता है, मुझे जो पाप भाव (होता) है, वह ठीक है, पुण्य भाव हो तो मुझे धर्म होता है - ऐसी जो मिथ्याश्रद्धा है, उसे मोहभाव कहते हैं और उसके साथ राग और द्वेष (होता है), जो परज्ञेय जानने लायक है, उसमें इष्ट-अनिष्ट(पना) मानकर जितने प्रमाण में आत्मा में मोह और राग-द्वेष होता है, उतने प्रमाण में वे (कर्म) प्रकृति बँधती भी है। समझ में आया? चारों आ गये - प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग। समझ में आया?

(लोगों को) अभ्यास नहीं, जैनदर्शन में जन्म लिया फिर भी तत्त्व क्या है? तत्त्व का क्या स्वरूप है? (उसकी) खबर नहीं और धर्म करना (है)! कहाँ से धर्म होगा? आत्मा क्या चीज है? उसमें कैसे कम्पन होता है? उसमें मोह, राग-द्वेष भाव कैसे होते हैं? और वही नये द्रव्यकर्म में बन्ध हेतु कहने में आता है। कहो, समझ में आया? फिर बन्ध का नाश कैसे होता है? - वह बात १७९ (गाथा में) कहेंगे।

(अज्ञानी ऐसा कहते हैं, आत्मा) सर्व व्यापक है, एक है या एक ईश्वर है। करो उसकी भक्ति! अरे....! किन्तु ईश्वर तो यह आत्मा है। ईश्वर तो सिद्ध हो गये तो गये, वे कहाँ आत्मा को मदद करते हैं? ऐसा आता है, हाँ, भाई! 'धवल' के तेरहवें (भाग में ऐसा) आता है कि सर्व जीव के अनुग्रह में भगवान तत्पर हैं। लो! व्यवहार ग्रन्थ में ऐसे शब्द बहुत आते हैं। अनुग्रह करने में तत्पर! भगवान अनुग्रह करने में तत्पर हैं — ऐसी भाषा पकड़ ले तो ऐसा अर्थ समझ में नहीं आता। उसमें है। कहाँ है?

कैसा है भगवान? ३७ वीं गाथा है। 'जगत में श्रेष्ठ जिन भगवान जो उनको नहीं

प्राप्त हुए ऐसे अन्य जीवों का भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं....' शब्द पकड़े तो काम नहीं आता। वह तो निमित्त से कथन है। उसका अर्थ कि जिसकी समझने की तैयारी है, उसे भगवन निमित्त पड़ते हैं, तब भगवान अनुग्रह करने में तत्पर हैं - ऐसा कहने में आता है। वे तो वीतराग हैं। शब्द तो ऐसा पड़ा है, देखो! **अणुवगये पराणुगह परायणा** बस, देखो! भाषा का अर्थ पकड़े कि इसमें लिखा है, इसमें लिखा है.... वह सब लिखा है (क्योंकि यह) व्यवहारनय का ग्रन्थ है। व्यवहारप्रधानता से बहुत कथन आते हैं।

पाठ तो ऐसा लिया है कि 'जीवों का अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं...' तत्पर रहते हैं! वीतराग सर्वज्ञदेव (तत्पर रहते हैं)। लो, यह 'धवल' (है)। अन्दर 'वीरसेनस्वामी' की गाथाएँ हैं। (अन्य जीवों का) कल्याण हो, भगवान को विकल्प होता होगा? भगवान तो वीतराग हैं, वे तो सर्वज्ञ हैं। जीवों का कल्याण हो - ऐसी उन्हें भावना होती होगी? वे करुणासम्पन्न ही कहने में आते हैं। अकषायभाव उत्पन्न हुआ, वीतरागभाव उत्पन्न हुआ, उसमें सब जीवों पर करुणा करनेवाला और अनुग्रह करने में तत्पर हैं - ऐसा उपचार से कहने में आता है। आहा...हा...! समझ में आया? वीतराग तो सर्वज्ञदेव हैं, परमात्मा हैं, पूर्ण वीतराग (हैं), इच्छा भी नहीं है। इच्छा भी नहीं है कि वाणी निकले या नहीं निकले। वे तो एक समय में तीन काल - तीन लोक को जानते - देखते हैं। उस समय में वाणी निकलेगी, उस समय वह समझेगा, उस समय में वह सुनेगा (ऐसा) सब केवलज्ञान में जाना है। भाषा का अर्थ करे तो कहे कि 'वीरसेनस्वामी' ने ऐसा कहा है। तेरहवें भाग में ऐसा कहा है। ये तो अभी पढ़ता था न? शुक्लध्यान! उसमें देखते-देखते यह आ गया। समझ में आया? क्या कहा? देखो!

अणुवगये जिन्हें नहीं प्राप्त हुए, उन्हें प्राप्त होते हैं, 'ऐसे अन्य जीवों का भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं और उन्हें राग-द्वेष, मोहरूप विजय प्राप्त कर ली है; इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते।' भगवान सर्वज्ञ परमात्मा देवाधिदेव, जिन्हें राग-द्वेष (और) अज्ञान नाश हुआ, पूर्ण सर्वज्ञ पद प्राप्त हुआ (तो वे) अन्यथावादी नहीं हैं, वाणी तो यथार्थ निकलती है और दुनिया के प्रति अनुग्रह करने में तत्पर (हैं)। अनुग्रह जिसे होता है, उसमें निमित्त पड़ते हैं, (उसे) तत्पर कहने में आया। गुलाँट खाकर (दूसरी रीत से) बात कही। समझ में आया?

(ऐसा पढ़कर लोग कहते हैं कि) देखो! भगवान को भी समकित के आठ आचार हैं। निःशंक, निःकांक्षित, करुणा, वात्सल्य (इत्यादि)। जगत पर वात्सल्य है। समकित के आठ बोल आते हैं न? परन्तु वात्सल्य (का अर्थ) क्या? प्रेम है? विकल्प है?

यहाँ कहते हैं कि भगवान तो मोह, राग-द्वेष रहित हैं और आत्मा अनादि काल (का) है, जिसमें मोह और राग-द्वेष होते हैं। मोह अर्थात् मिथ्यात्व भाव। मिथ्यात्व भाव (अर्थात्) पाप परिणाम होते हैं (उसमें) ठीक (लगता) है, हित लगता है, पुण्य परिणाम विकार (है), राग का परिणाम पुण्य है, उसमें धर्म मानता है, परपदार्थ को मैं ले सकूँ, छोड़ सकूँ — ऐसी जो मान्यता है, वह मिथ्यात्व भाव है। उस मिथ्यात्व भाव के साथ राग-द्वेषभाव (होते) हैं, वही भावबन्ध है, वही भावबन्ध है और उसके कारण से नये कर्म आकर प्रकृतिरूप होकर बँधते हैं। समझ में आया?

इसलिए निश्चित होता है कि द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है। लो! इसलिए निश्चय हुआ कि जड़ बन्ध - नया कर्म का बन्ध होता है, उसमें जीव का भावबन्ध परिणाम हेतु अर्थात् निमित्त कहने में आता है। उपादान तो उसकी पर्याय में आने की, बँधने की योग्यता से कर्म स्वयंमेव (आते हैं); इसलिए स्वयमेव शब्द लिया है। स्वयमेव अपने कारण से प्रवेश करते हैं, स्थिति रहती है, अनुभाग होता है और बँधते हैं। उसके कारण से (होता है)। उसमें भावबन्ध को निमित्त कहने में आता है। बस! इतनी बात है। समझ में आया?

गाथा – १७९

अथ द्रव्य बंधहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबंधस्य निश्चयबंधत्वं साधयति -

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदिकम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। १७९।।

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभी रागरहितात्मा।
एष बंधसमासो जीवानां जानीहि निश्चयतः।। १७९।।

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते, न वैराग्यपरिणतः; अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते, वैराग्यपरिणत एव; बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसञ्जितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः; मुच्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसञ्जितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते; ततोऽवधार्यते द्रव्यबंधस्य साधकमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बंधः।।१७९।।

एवं त्रिविधबंधमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थलं गतम्। अथ द्रव्यबंधकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबंध एव बंध इति प्रज्ञापयति - रत्तो बंधदि कम्मं रक्तो बध्नाति कर्म। रक्त एव कर्म बध्नाति, न च वैराग्यपरिणतः। मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा बध्नाति कर्म। रक्त एव कर्म बध्नाति, न च वैराग्यपरिणतः। मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा गुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा। मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा, न च बध्यते। एसो बंधसमासो एष प्रत्यक्षीभूतो बंधसंक्षेपः। जीवाणं जीवानां संबंधी। जाण णिच्छयदो जानीहि त्वं हे शिष्य, निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति। एवं रागपरिणाम एव बंधकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरंतरं भावना कर्तव्येति।।१७९।।

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है, सो द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है –

जीव रागी बाँधे कर्म को, छूटे वैरागी कर्म से।
यह आत्मा के बन्ध का, संक्षेप जानो नियम से॥

अन्वयार्थ - [**रक्तः**] रागी आत्मा [**कर्म बध्नाति**] कर्म बाँधता है, [**रागरहितात्मा**] रागरहित आत्मा [**कर्मभिः मुच्यते**] कर्मों से मुक्त होता है - [**एषः**] यह [**जीवानां**] जीवों के [**बंधसमासः**] बन्ध का संक्षेप [**निश्चयतः**] निश्चय से [**जानीहि**] जानो।

टीका - रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है, वैराग्यपरिणत नहीं बँधता; रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है; रागपरिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्ध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से, और चिरसंचित (दीर्घ काल से संचित ऐसे) पुराने द्रव्यकर्म से बँधता ही है, मुक्त नहीं होता; वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्ध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से और चिरसंचित ऐसे पुराने ऐसे पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही होता है, बँधता नहीं है; इससे निश्चित होता है कि द्रव्यबन्ध का साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होने से रागपरिणाम ही निश्चय से बन्ध है॥ १७९॥

प्रवचन नं. १८३-E का शेष **कार्तिक कृष्ण १४, गुरुवार, १४ नवम्बर १९६३**

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि - राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है सो द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है - वास्तव में बन्ध तो विकारी भाव - मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम (हैं)। राग शब्द का अर्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष, चिकना भाव। मिथ्या अभिप्राय - झूठा अभिप्राय और राग-द्वेष। इन तीनों को यहाँ राग शब्द से कहने में आया है।

अब, ऐसा सिद्ध करते हैं कि - राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है.... राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है, माने क्या? कि राग, द्वेष, पुण्य और मिथ्यात्व भाव जो हुआ, वही मात्र भावबन्ध है, वही मात्र भावबन्ध है। **सो द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चयबन्ध है :-** वास्तव में तो निश्चयबन्ध वह है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध

चिदानन्द स्वरूप, अकेला शुद्ध उपयोगमय (है), उसे भूलकर जितना पुण्य और पाप का भाव हो और जितना मिथ्या अभिप्राय का भाव हो, वही वास्तव में भावबन्ध कहने में आया है। वही निश्चय से आत्मा को बन्धन है। कहो, समझ में आता है? जड़ का बन्धन तो निमित्तरूप से (हैं)। भावबन्ध है, वही निश्चयबन्ध है। यह १७९ (गाथा में) कहते हैं, देखो!

रत्तो बंधदि कम्मं मुञ्चदिकम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।। १७९।।

उसकी टीका। **रागपरिणत....** राग शब्द का अर्थ मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष भाव, विषयकषाय भाव (होते हैं इन) सब को यहाँ राग कहने में आया है। समझ में आया? क्या (कहा)? मिथ्याश्रद्धा को भी यहाँ राग कहने में आया है। मिथ्या अभिनिवेश - सात तत्त्व की विपरीत श्रद्धा। 'तत्त्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्' सात तत्त्व की जैसी है, वैसी अन्तर में श्रद्धा (होनी), उसे सम्यग्दर्शन (कहने में आता है)। उससे विपरीत श्रद्धा (है) वह मिथ्यादर्शन (है)। मिथ्यादर्शन को भी यहाँ राग कहने में आया है। समझ में आया?

जीव को अजीव मानना; अजीव को जीव मानना; राग को धर्म मानना; पुण्य की मिठास करना; पाप में हितबुद्धि (करनी) ये सब मिथ्यात्व भाव हैं। यह मिथ्यात्व, तत्त्वार्थ श्रद्धान से विपरीत भाव है। उस भाव को यहाँ राग कहने में आया है। समझ में आया?

रागपरिणत जीव ही... देखो, भाषा कैसी है! राग (अर्थात्) मिथ्याश्रद्धा आदि विकार परिणत जीव ही। परिणत (कहा वह) पर्याय है। राग, द्वेष, मिथ्याश्रद्धा परिणत जीव ही **नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है,...** कहो, इसमें समझ में आता है? किसका बन्ध कहा? भाव का। चैतन्य ज्ञायकस्वरूप को भूलकर, ज्ञाता-दृष्टा है, उसे छोड़कर - भूलकर मिथ्या श्रद्धा का जो परिणाम हुआ, राग-द्वेष का कर्ता होना, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता होना, राग-द्वेष में मिठास की अनुकूलता मानना — ऐसा जो मिथ्यात्व भाव, उसके साथ रहनेवाला इष्ट-अनिष्ट (वस्तु में होता) राग-द्वेष भाव, सब को यहाँ **रागपरिणत जीव** कहने में आया है। ओ...हो...!

रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है,... नवीन द्रव्यकर्म से बँधता

है, (यह) व्यवहार सम्बन्ध कहा। द्रव्यकर्म तो अपने कारण से बँधता है, यह तो पहले कह गये, परन्तु उसका सम्बन्ध किसे होता है ? कि राग और मिथ्याश्रद्धा करनेवाला जीव (है), उसे बन्धन होता है।

वैराग्यपरिणत नहीं.... अब, महासिद्धान्त लिया, देखो! क्या कहते हैं ? मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ। राग और द्वेष मलिन परिणाम भी वास्तव में मेरे नहीं, मैं तो ज्ञान शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करनेवाला हूँ - ऐसा वैराग्यपरिणत - सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव। वह **वैराग्यपरिणत नहीं बँधता;...** समझ में आया ?

वैराग्य की व्याख्या 'समयसार' में 'पुण्य-पाप अधिकार' में पहले ली है। पर से उदासीन, यह तो एक साधारण बात है परन्तु शुभ-अशुभ दो प्रकार का भाव है, वह दोनों राग है - उससे वैराग्य। उसमें शुभपरिणाम ठीक है, अशुभ अठीक है (- ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है, वह रागपरिणत जीव है। समझ में आया ?

पुण्य-पाप अधिकार में लिया है। वैराग्य - वैराग्य का अर्थ ? - देह, वाणी, मन तो पर हैं, वे तो मेरे में हैं ही नहीं परन्तु पर्याय में शुभ-अशुभ भाव होता है, उससे भी वैराग्य, उससे उदास। मैं यह नहीं। मैं तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द हूँ। ऐसी जिसकी दृष्टि हुई, (वह) पुण्य-पाप के दो भाग में एकरूप मानता है - दोनों बन्ध का कारण है। मैं अबन्ध स्वभावी आत्मा हूँ — ऐसी जिसकी दृष्टि हुई, उसे वैराग्यपरिणत कहने में आता है। समझ में आया ? उसे धर्मपरिणत कहने में आता है। वैराग्यपरिणत कहो कि धर्मपरिणत कहो, (सब एकार्थ है)। समझ में आया ?

भगवान आत्मा! ज्ञाता-दृष्टा शुद्ध उपयोगमय चीज की दृष्टि हुई तो पुण्य और पाप दोनों भाव एकरूप बन्ध है, मैं उससे निराला हूँ, ऐसी जिसकी सम्यग्दृष्टि हुई — ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ और स्वरूप में स्थिरता का रागरहित परिणत हुआ, उसे यहाँ वैराग्यपरिणत कहने में आता है। समझ में आया ? वह आता है न ? 'समयसार' में आता है। पुण्य-पाप (अधिकार) देखो!

इसमें (१५० गाथा में) यही शब्द है। **'रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।'** यहाँ चलती १७९ गाथा में ऐसा (कहा)। **'रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि**

कम्मेहिं रागरहिदप्पा।' 'रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो। एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥ १५०॥' देखो! **रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्म से छूटता है। ऐसा जो यह आगमवचन है सो, सामान्यतया रागीपन की निमित्तता के कारण शुभाशुभ दोनों कर्मों को अतिविशेषतया बन्ध के कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मों का निषेध करता है।** लो, वैराग्य का अर्थ यह है।

पुण्य-पाप का भाव, दोनों मलिन परिणाम एकरूप बन्ध का कारण है; मैं उनसे भिन्न हूँ। शरीर, वाणी, मन, कर्म तो अजीवद्रव्य हैं, उनसे तो मैं भिन्न हूँ। वह अजीव की श्रद्धा हुई कि अजीव भिन्न है और मेरा जीव भिन्न है और पुण्य-पाप दो आस्रवतत्त्व हैं, बन्ध का भाव है, वह भिन्न है; मेरा ज्ञायकस्वभाव उस बन्धभाव से भिन्न है। ऐसे अपने ज्ञायकभाव का श्रद्धा-ज्ञान किया, उसे पुण्य-पाप से विराग हुआ। विराग हुआ (अर्थात्) उपेक्षित हुआ, अपेक्षित न रहा। अपेक्षित अर्थात् यह पुण्य है तो ठीक है, ऐसी अपेक्षा नहीं। (जो) पुण्य-पाप से उपेक्षित हुआ। उपेक्षित अर्थात् लक्ष्य छोड़ दिया और स्वभाव के लक्ष्य में आ गया — ऐसा वैराग्यपरिणत जीव नवीन कर्म से बँधता नहीं। समझ में आता है?

देखो! क्या लिखा है? **रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है,...** और **वैराग्यपरिणत नहीं...** वैराग्य की व्याख्या यह है कि जो मिथ्याश्रद्धा का भाव (है) और पुण्य-पाप का भाव (होता है उन) सबको राग कहा है। शुभ-अशुभभाव और मिथ्याश्रद्धा, सबको यहाँ राग कहा। ऐसा रागपरिणत जीव नये कर्म से बँधता है। ऐसे राग से विरक्त जीव-वैराग्यपरिणत जीव नये कर्म से बँधता नहीं।

आ...हा...! देखो! वैराग्यपरिणत उसे कहा कि जिसमें शुभ-अशुभभाव होता है, दोनों राग (है), उससे उदास होकर स्वभावसन्मुख की दृष्टि में रागरहित अपनी परिणति हुई, उसे यहाँ वैराग्यपरिणत जीव, धर्मपरिणत जीव, मोक्षमार्गपरिणत जीव कहने में आता है। समझ में आया? ऐसी बात है।

वैराग्यपरिणत नहीं.... नहीं अर्थात्? नवीन द्रव्यकर्म से बँधता नहीं। कहो,

समझ में आया ? दो बात ही कही है। भगवान आत्मा चिदानन्द सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप! उसे भूलकर जितना मिथ्याश्रद्धा और पुण्य-पाप का भाव करता है, उन सबको राग परिणाम कहने में आया है और वह राग ही नया कर्म (बँधने में) निमित्त होता है। वह रागी (जीव) नये कर्म से बँधता है और शुभाशुभ परिणाम से वैराग्य होकर, उसका लक्ष्य छोड़कर, उसका आश्रय छोड़कर, दया, दान, व्रत का, शुभराग का आश्रय छोड़कर - अवलम्बन छोड़कर - प्रीति छोड़कर, स्वभाव की रुचि में परिणमन करता है, उसे राग से रहित वैराग्यपरिणत कहने में आया है। कहो, समझ में आया ? अभी तो पहली बात ही क्या है, वह समझ में न आवे, उसकी दृष्टि में न बैठे, तब तक सम्यग्दर्शन कहाँ से होगा ? भाई ! ठीक है ? देखो ! हिन्दी है हिन्दी ? आज हिन्दी लिया। आज दो हिन्दीभाई आये हैं तो उनको भी ठीक पड़ेगा। हमारे यह एक भाई भी हिन्दी है। समझ में आया ?

एक बात कि भगवान आत्मा शुद्ध वीतरागपरिणत आत्मा है। वस्तु का स्वरूप तो वीतरागविज्ञान है। ऐसी जिसकी अन्तर (दृष्टि हुई)। शरीर, वाणी, मन का लक्ष्य छोड़कर, उसके अस्तित्व में मैं नहीं, शरीर, वाणी, कर्म की अस्ति में मैं नहीं और पुण्य-पाप के भाव में मैं नहीं। मेरे स्वभाव में पुण्य-पाप और शरीर, कर्म नहीं - ऐसे अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में राग से रुचि छोड़कर, पुण्य-पाप के परिणाम की रुचि, श्रद्धा, विश्वास कि उससे मेरा कल्याण होगा — ऐसा विश्वास छोड़कर, अपने स्वभावसन्मुख होकर राग से रहित श्रद्धा, ज्ञान और परिणति करता है, उसे वैराग्यपरिणत जीव कहने में आया है। उस वैराग्यपरिणत जीव को बन्धन होता नहीं। समझ में आया ?

वैरागी अर्थात् स्त्री, पुत्र को छोड़कर चल पड़े, वह वैरागी नहीं। पूरा कुटुम्ब छोड़ दिया, उदास रहते हैं, उदासीन रहते हैं, वह उदासीन नहीं। अन्दर में शुभ-अशुभराग आता है, उससे उदासीन होकर। आगे आसन लगाना। शुभाशुभभाव में आसन — दृष्टि न लगाकर, शुभाशुभ (से) उदासीन... उदासीन... वहाँ से आसन छोड़कर अपने स्वभाव में आसन - दृष्टि लगाना। उदासीन आश्रम में उदासीन होता है न ? अरे... भाई !

भगवान आत्मा ! जानन-देखन स्वभाव, शुद्ध वीतराग स्वभाव, आनन्दमूर्ति वीतराग विज्ञानघन आत्मा ! उसमें आसन लगाना, दृष्टि उसमें लगाना और पुण्य-पाप के भाव से

दृष्टि छोड़ना, उसका नाम वैराग्यपरिणत जीव कहने में आया है। वैराग्य परिणत जीव नये कर्म से नहीं बँधता। वह धर्मपरिणत हुआ तो धर्मपरिणत से बन्धन होता नहीं और मिथ्याश्रद्धा और पुण्य-पापभाव (होते हैं), वह तो रागपरिणति है। रागपरिणति तो अधर्म भाव है, उससे नया बन्धन होता है। ऐसी बात है। समझ में आया ?

रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता,.... पहले बँधता है - ऐसा कहा। अब नवीन कर्म से मुक्त नहीं होता, नास्ति से लेते हैं। अनेकान्त करते हैं, देखो! ओ...हो...हो...! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव'! भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' दिगम्बर मुनि! संवत ४९ में हुए। उनका यह श्लोक है। दिगम्बर मुनि जंगलवासी वनवासी भावलिंगी सन्त थे! वे भगवान के पास गये थे। 'सीमन्धर' भगवान के पास गये थे और आठ दिन रहे थे। यहाँ आकर यह शास्त्र रचा है, बनाया है। तो (इस) शास्त्र को दो हजार वर्ष हुए! 'प्रवचनसार', 'समयसार' आदि। उनकी टीका करनेवाले 'अमृतचन्द्राचार्य' हैं। वे ९०० वर्ष पहले दिगम्बर मुनि वनवासी सन्त थे। उन्होंने यह टीका की है। (ऐसा) निमित्त से कथन है।

रागपरिणत जीव.... अर्थात् भगवान आत्मा शुद्ध आत्मा है — ऐसी दृष्टि नहीं और पुण्य-पापवाला मैं हूँ, मैं शुभ-अशुभ भाववाला हूँ, ऐसा रागपरिणत जीव — ऐसा मिथ्यात्व परिणत जीव। समझ में आया? शरीरवाला मैं हूँ, कर्मवाला मैं हूँ, वह तो रागपरिणत - मिथ्यात्वपरिणत है ही परन्तु पुण्य-पाप भाववाला मैं हूँ, वह भी मिथ्यात्व परिणत जीव है क्योंकि पुण्य-पाप आस्रवतत्त्व है, ज्ञायक जीव भिन्न है। दो को एक मानता है, वह मिथ्यात्वसहित रागपरिणत जीव मिथ्यात्वपरिणत है। समझ में आया ? देखो! बन्ध अधिकार लेकर यहाँ बन्ध और अबन्ध दोनों की बात कही। कितने समय से ये सब गाथाएँ चलती हैं!

(एक भाई कहते थे कि) 'एक घण्टा बराबर चलता नहीं, विचार कहाँ का कहाँ दूर चला जाता है।' यहाँ क्या है ? विचार और जगह जाने का कुछ कारण है क्या ? उलाहना तो बहुत देते हैं। सबेरे आये (और कहने लगे कि) 'महाराज! आज लकड़ी मारिये!' तो यहाँ लकड़ी कम मारते हैं ? इसे याद करे, उसे याद करे, कुछ लेना-देना है ? कारण है ?

किसका पुत्र है ? यहाँ तो कहते हैं, परचीज मेरी मानना, यह मिथ्यात्व भाव है। पुत्र-पुत्री, कुटुम्ब, शरीर, वाणी, मन सब पर है।

यह ज्ञेयतत्त्व अधिकार है। परज्ञेय को अपना मानना, उसका नाम मिथ्यात्व भाव है। मिथ्याश्रद्धा – मिथ्यादृष्टि का भाव है। और परजीव और परअजीव मेरा मानना, वह तो मिथ्यात्व भाव है ही, लेकिन शुभ-अशुभ दोनों आस्रवतत्त्व है, वह आस्रवतत्त्व मेरा है — ऐसा मानना भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व भाव है। वह यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? वह बात तो कहाँ रह गई ! बाहर की बात कहाँ रह गई ! यह लक्ष्मी मेरी, यह मेरी लक्ष्मी है, मेरा पुत्र है। कहाँ तेरा है ? तेरा हो तो तेरे से पृथक् क्यों होता है ? तेरी चीज तेरे से पृथक् पड़े वह चीज तेरी नहीं। पृथक् पड़े वह तेरी नहीं और नहीं पृथक् पड़े वह तेरी। तो शरीर, कर्म, स्त्री आदि तो पर हैं, (वह चीज तो) छूट जाती है और पुण्य-पाप भी तेरी (चीज) नहीं, क्योंकि वह भी छूट जाती है। शुभ-अशुभ भाव भी छूट जाता है। छूटा को क्या कहते हैं ? अलग हो जाता है। तो अलग हो जाये, उसे अपना मानना, उसका नाम मिथ्यात्व भाव और मिथ्यादृष्टि का परिणाम (कहने में आता) है। आ...हा...हा... ! बराबर होगा ? क्या होगा ? (बाहर में) कैसे याद आता है ? आहा...हा... ! (विचार) आना अलग बात है परन्तु वह और विकल्प मेरा, दोनों मेरा (है), यह मान्यता मिथ्यात्व है। वह आत्मा को मारता है। आहा...हा... !

यहाँ ज्ञेय तत्त्व अधिकार है न ? अपना ज्ञेय जाननेयोग्य शुद्ध आत्मा ज्ञायकमूर्ति, यह अपना ज्ञेय (है) और इसके सिवाय स्त्री, कुटुम्ब अरे... ! देव-गुरु-शास्त्र सब परज्ञेय हैं। उसे अपना मानना, वह मिथ्यात्व भाव है और पुण्य-पाप दोनों आस्रव भाव हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष — सात तत्त्व। **तत्त्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्** तो सात (तत्त्व) भिन्न-भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न (को) एक मानना; जो भिन्न हैं उसे एक मानना, वही विपरीत मान्यता है। शरीर, वाणी, कर्म ये सब चीज तो पर हैं, उसकी पर्याय चलती है-पर्याय, वह भी तेरे से पर है, तेरे कारण से उसकी पर्याय नहीं होती। पर्याय (अर्थात्) हालत। यह शरीर चलता है न ? वह पर्याय जड़ की है और जड़ की पर्याय जड़ से होती है, तेरे से नहीं। (अज्ञानी तो) कहे कि हमारे से शरीर की पर्याय होती है। तो अजीव को अपना माना, वही मिथ्यादृष्टि है।

तत्त्वार्थ श्रद्धान से विपरीत भाव हुआ। मेरे से कर्म बँधा है, मैं कर्म बाँधनेवाला हूँ। (– ऐसा मानता है तो) अजीव का स्वामी होता है। जो कि जड़ उसके कारण स्वयमेव परिणमते हैं। समझ में आया? (स्वयं) कहीं उपस्थित हो और बाहर की कुछ व्यवस्था का काम हो जाये तो (कहे कि), मेरे से हुआ। और अव्यवस्थित हो तो (कहे कि) मेरा ध्यान नहीं लगा तो ऐसा हो गया। ध्यान बराबर लगा नहीं और मैं होता तो ऐसे खराब नहीं होने देता। कहते हैं कि मूढ है। वह तो परपदार्थ है। उसकी अवस्था होना, वह तो उसके कारण से है। तेरे ध्यान के कारण से उसमें अवस्था नहीं हुई है। कौन ध्यान रख सकता है? विकल्प उठाये, पर मैं कौन कर सकता है? बराबर होगा? भाई! बहुत ध्यान रखे तो ठीक चले तो क्यों उलटा होता है? क्यों खलबली (होती है)? क्यों करता है? ऐसा (उन्होंने) पूछा था। उलटा पड़ता है, उसे समझ नहीं है, विपरीत (समझ) करता है इसलिए। समझ में आया?

कहते हैं कि **रागपरिणत जीव....** पहली (पंक्ति में) **नवीन द्रव्यकर्म से बँधता है,....** ऐसा कहा था। यहाँ **नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता,....** ऐसा कहते हैं। **रागपरिणत जीव....** (अर्थात्) जो परचीज है, उसे मेरी मानता है और पुण्य-पाप जो मलिन परिणाम है, वह मेरी चीज में है, ऐसा (जो) मानता है — ऐसे जीव को रागपरिणत कहने में आया है। वह **नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता,....** अर्थात् उसे बँधन नहीं हो, ऐसा है नहीं। **नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता,....** (ऐसा कहा) देखो!

वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है;.... पहले में बँधता नहीं, इतने शब्द कहे थे। **वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है;....** ओ...हो...! नये कर्म से मुक्त। मुक्त अर्थात् बन्धन नहीं होता। किसे? वैराग्यपरिणत (को)। इसमें तो ऐसा कहा है, भाई! वैराग्यपरिणत! ओ...हो...! मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। क्या होता है? पर में उसके कारण से हो। दया पाली तो उसके कारण से पली, पर जीव मरा तो उसके कारण से। (यहाँ अन्दर में) भाव हुआ, वह भी मलिन है। मैं तो उसका (जाननेवाला) भिन्न ज्ञायकतत्त्व हूँ। ऐसा ज्ञायकतत्त्व का ज्ञाता होकर राग-द्वेष का भी ज्ञाता होकर, राग-द्वेष में एकत्व न होकर, राग-द्वेष से पृथक् होकर वैराग्यपरिणत जीव हुआ, वह नये कर्म से मुक्त होता है अर्थात् उसे बन्धन होता नहीं। समझ में आया?

शर्तें बहुत! शर्त कहते हैं न? क्या कहते हैं? इतनी शर्त तुम्हें पालनी होगी। नियम... नियम! हमारे घर में आना हो तो तुम कहीं धुआँ नहीं करना। किरायेवाले शर्त नहीं रखते? कोयला जलाना होगा, ऐसी लकड़ी नहीं, ऐसा गोबर नहीं, एक कौने में करना पड़ेगा। धुआ (उठे तो) कोयला इत्यादि बाहर करना होगा, बाद में अन्दर लाना। भाई! ये सब आप का सुना होता है न? हमने कहाँ देखा है। जलाते हैं न? बाहर जलाते हैं। बाहर जलाये फिर धुआँ निकले, बाद में अन्दर जाये। उसमें ये सब शर्त होती है। यदि इसमें कुछ फेरफार होगा तो आपको करके देना होगा, फलाना करना पड़ेगा.... वैसे (यहाँ) शर्त (है)। विकार से एकत्व माननेवाला विकारी नया बन्धन करता है। वह नये बन्धन से मुक्त होता नहीं। और राग और पुण्य अपना नहीं माननेवाला (स्वयं को) ज्ञायक माननेवाला नया बन्धन करता नहीं और नये बन्धन से मुक्त है। वह नये बन्धन से मुक्त है। नया बन्धन होता नहीं।

वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है;.... मुक्त अर्थात्? नया बन्धन न हो, उसका नाम मुक्त। इस समय यह बात है। पुराने कर्म के साथ (वाली बात) बाद में लेंगे। वह बाद में लेंगे। आहा...हा...! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं? एक चोट और दो टूकड़े! भेदज्ञान... भेदज्ञान! शरीर, वाणी, कर्म पर (हैं), पुण्य-पाप का भाव पर (है), मैं ज्ञाता-दृष्टा स्व (हूँ), ऐसा भेदज्ञान (जिसे है ऐसा) रागरहित वैराग्यपरिणत जीव नये कर्म से मुक्त होता है अर्थात् नया कर्म बँधता नहीं अर्थात् मुक्त होता है। समझ में आया?

अब, विशेष कहते हैं। **रागपरिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्ध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से, और चिरसंचित्त (दीर्घकाल से संचित ऐसे) पुराने द्रव्यकर्म से बँधता ही है,...** लो! ठीक! दोनों को साथ में लिया। राग शब्द का अर्थ मिथ्याभाव और मिथ्याभाव सहित का राग-द्वेष भाव। (ऐसा) रागपरिणत जीव स्पर्श करनेवाले। संस्पर्श का अर्थ सम्बन्ध में आनेवाले। उसे स्पर्श कहने में आता है।

नवीन द्रव्यकर्म से और चिरसंचित (दीर्घ काल से संचित ऐसे) पुराने द्रव्यकर्म से बँधता ही है,.... मिथ्यात्व सहित श्रद्धावाला जीव... भगवान आत्मा सर्व उपयोगमय (है ऐसा) पहले कहा था न? पूर्ण ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय। साकार

और अनाकार कहा था न ? सविकल्प और निर्विकल्प कहा था। ज्ञान को सविकल्प कहा था, दर्शन को निर्विकल्प कहा था और वह व्याख्या आगे लेते हैं। पहले आ गया न ? स्व-पर अर्थ (आ गया है)। १२६ के पहले आ गया है।

ज्ञान का अर्थ, 'वीरसेनस्वामी' की व्याख्या से यह 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' की व्याख्या भिन्न है। यह अध्यात्म की व्याख्या है, वह व्यवहार की व्याख्या है। यहाँ तो अर्थाकार परिणत (कहा है)। है न ? भाई ! कौन सी (गाथा) है ? ऐ...ई... ! १२४ है ? हाँ, लो, १२४ है। देखो !

णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा॥ १२४॥

प्रथम तो, अर्थविकल्प ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ – जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो क्या कहते हैं ? कि अर्थविकल्प ज्ञान। **वहाँ, अर्थ क्या है ? स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व यह अर्थ है।** स्व आत्मा और पर, सब होकर विश्व है, वह अर्थ है। मैं आत्मा ज्ञायक और पुण्य-पाप आदि सब जीव, वह स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है। समस्त पदार्थ – द्रव्य, गुण, पर्याय। पदार्थ में स्व और पर – दो विभाग है। जो जाननेवाला अपना आत्मा है, वह स्व और दूसरा सब पर है।

उसके आकारों का अवभासन वह विकल्प है। स्व और पर का आकार – विशेषरूप भास होना, उसका नाम विकल्प कहने में आता है। राग नहीं। ओ...हो... ! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई ! समझ में आया ? अपने ज्ञान में स्व और पर का विशेष भेद का परिणमन होना, उसका नाम आकारों का अवभासन विकल्प है।

और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है। एक समय में स्व और पर – दो का भान होना, उसका नाम ज्ञान कहते हैं, उसका नाम आकार कहते हैं और दर्शन निराकार है। उसमें स्व-पर का विशेष भेद होता नहीं। ऐसा भगवान ज्ञान-दर्शनरूप अपना स्वरूप, उसमें पुण्य-पाप को न मिलाकर, स्व और पर का ज्ञाता-दृष्ट

होकर जो परिणमन करता है, (वह) नये बन्ध से मुक्त (होता) है और जो राग परिणत जीव है, वह स्पर्श करनेवाला नवीन और चिरसंचित्त (पुराने) द्रव्यकर्म से बँधता है, मुक्त नहीं होता। नये बन्ध रुकता नहीं और पुराने कर्म से नहीं छूटता।

वैराग्यपरिणत जीव.... देखो! ज्ञान और दर्शन (स्वरूप) मैं आत्मा हूँ, जानने देखनेवाला स्व-पर भासन। समझ में आया? **वैराग्य परिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्ध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से और चिरसंचित ऐसे पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही होता है,....** वैराग्य परिणत जीव, मैं ज्ञान-दर्शन स्वरूप (हूँ)। शुद्ध दर्शन, ज्ञान की मूर्ति अनादि-अनन्त हूँ और राग और पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव मेरे में है ही नहीं।

ज्ञायक में आस्रव नहीं, आस्रव में अजीव नहीं, अजीव में आस्रव नहीं। क्या कहते हैं? कर्म आदि हैं, शरीर आदि तो अजीव हैं, उसमें आस्रव नहीं। आस्रव तो पुण्य-पाप भाव हैं, उसमें अजीव नहीं। आस्रव, अजीव में नहीं। आस्रव, अजीव में नहीं, ऐसा आस्रव जीव में नहीं। समझ में आया? पुण्य-पाप का दो भाव, जैसे अजीव में नहीं, वह अजीव आस्रव से भिन्न है और वह आस्रव, अजीव से भिन्न है। और आस्रव, ज्ञायक जीव से भिन्न है और ज्ञायक जीव में आस्रव और अजीव दोनों हैं नहीं। भाई!

यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। ज्ञेय अधिकार कहो या सम्यग्दर्शन का अधिकार कहो। जो तत्त्व जैसा भिन्न है, ऐसा अन्दर प्रतीत करना, उसका नाम रागरहित वैराग्यपरिणत जीव कहने में आया है। समझ में आया? **मुक्त नहीं होता;....** कौन? वह सम्बन्धवाला।

अब, **वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (सम्बन्ध में आने)वाले नवीन द्रव्यकर्म से और चिरसंचित ऐसे पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही होता है,....** नये से बन्ध नहीं होता है, इसलिए मुक्त है। पुराने से बन्ध नहीं होता, वह मुक्त है। **बँधता नहीं है;....** अस्ति-नास्ति की। **मुक्त ही होता है, बँधता नहीं....** आ...हा...! समझ में आया? यह तो बहुत अच्छा अधिकार आया। १७९ गाथा है। द्रव्यबन्ध, भावबन्ध, ऐसा, तैसा करते-करते, उड़ाओ बन्ध, तेरी चीज में बन्ध है ही नहीं। भावबन्ध में आत्मा नहीं, आत्मा में भावबन्ध नहीं, भावबन्ध में द्रव्यबन्ध नहीं, द्रव्यबन्ध में भावबन्ध नहीं। समझ में आया? क्या कहते हैं?

भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु! पूर्ण शुद्ध आत्मा! उसमें पुण्य-पाप के भाव का भावबन्ध है ही नहीं। पर्याय में भावबन्ध है, वह भिन्न चीज है और द्रव्यबन्ध है, वह भिन्न है। जिसे भावबन्ध और द्रव्यबन्ध से वैराग्य हुआ, उससे हटा और अपने ज्ञाता-दृष्टा (स्वभाव में) दृष्टि और स्थिरता हुई, उसे यहाँ वैराग्यपरिणत जीव कहते हैं। इस वैराग्यपरिणत को नये कर्म बँधते नहीं और पुराने कर्म उसे बँधते नहीं। नये कर्म से छूटता है, वैसे पुराने कर्म से ही छूटता ही है। देखो! यह निर्जरा और मोक्ष, दोनों साथ में ले लिया!

वैराग्यपरिणत जीव को निर्जरा होती है। वैराग्यपरिणत जीव को द्रव्यमोक्ष होता है। भावमोक्ष तो अपने से होता है, (द्रव्यकर्म) उसके कारण से छूट जाता है। आ...हा...! समझ में आया? कितनी (गम्भीर) टीका! 'अमृतचन्द्राचार्यदेव!' आ...हा...हा...! जंगल में वनवासी मुनि दिगम्बर भावलिंगी सन्त (रहते) थे। नग्न! मोरपिच्छी (मोरपंख), कमण्डल (होते हैं)। अन्दर में कहते हैं, हमारे में कुछ है नहीं। वह भाव आस्रव नहीं, वह कर्म नहीं और मोरपिच्छी, कमण्डल हमारे में नहीं। उसमें मैं नहीं और वे मेरे में नहीं। ऐसी चौथे गुणस्थान से वैराग्यपरिणति होती है। समझ में आया?

यह (विपरीत मान्यता) कहाँ से घुस गई? भाई! (ये भाई) कहते थे, कहाँ से (घूस गया)? विपरीत क्यों परिणमता है? समझता क्यों नहीं? भाई! ऐसा यह भाई पूछते थे। समझने की कोशिश करे तो समझ में आये, अपने आप समझ में आ जाये? ऐसा कहते हैं। कहते हैं, जीव क्यों नहीं समझता? लेकिन तू ही समझता नहीं। तुझे सच्ची समझ करने की दरकार नहीं है। तेरे कारण से है, कोई कर्म के कारण नहीं। कर्म तुझे रुलाते हैं, कर्म तुझे अज्ञान कराते हैं, ऐसा है नहीं। परद्रव्य तेरे में कुछ करे, (ऐसा) तीन काल में होता नहीं। तीन काल-तीन लोक में परद्रव्य, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता है नहीं। अज्ञानी मानते हैं कि हमारे कर्म से ऐसा होता है। मूढ़ है, मिथ्याश्रद्धावाला है। समझ में आया?

इसस निश्चित होता है कि - द्रव्यबन्ध का साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होने से... साधकतम उत्कृष्ट हेतु अर्थात् योग तो प्रदेश का साधारण कारण है न? यह **रागपरिणाम ही निश्चय से बन्ध है।** योग तो साधारण प्रदेश और प्रकृति का कारण है न? उस बन्ध को साधारण कर दिया। **द्रव्यबन्ध का साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होने**

से रागपरिणाम.... अर्थात् मिथ्यात्व परिणाम और मिथ्यात्व परिणाम सहित का राग परिणाम ही **निश्चय से बन्ध है।** वास्तव में तो उसका बन्धन है। भाई! कहते हैं कि तुझे उसका बन्धन है। कर्म का नहीं, पर का नहीं, स्त्री–पुत्र का नहीं, फलाने का नहीं। अन्धेरे में प्रकाश का बन्धन होता है? अन्धेरे का बन्धन (होता है)? इस प्रकाश में अन्धेरे का बन्धन होता है? चैतन्यप्रकाश है! अज्ञान का अन्धेरा – यह मेरा और यह तेरा, ऐसा उसमें है नहीं।

निश्चय से तेरे आत्मा में परपदार्थ मेरा और पुण्य–पाप मेरा, ऐसी मान्यता, ऐसा राग, वही एक निश्चय – वास्तव में तुझे बन्ध है। बँधा हुआ है तो तेरे विकार भाव से तू बँधा हुआ है। कर्म तो निमित्तरूप परद्रव्य है, उससे बँधा है कहना तो व्यवहार है। वास्तव में तो तेरी विपरीत मान्यता और राग–द्वेष से तू बँधता है। वह बन्धन छोड़ना हो तो स्वभाव की दृष्टि करना। समझ में आया? राग से रहित मेरी चीज है, ऐसी दृष्टि और स्थिरता करने से बन्धन छूट जाता है।

(विशेष कहेंगे....)

गाथा - १८०

अथ परिणामस्य द्रव्यबंधसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति -

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।।१८०।।

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः।।१८०।।

द्रव्यबंधोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तञ्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तञ्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति।।१८०।।

अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबंधासाधकं रागाद्युपाधिजनितभेदं दर्शयति - परिणामादो बंधो परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति। स च परिणामः किंविशिष्टः। परिणामो रागदोसमोहजुदो वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण संयुक्तः। असुहो मोहपदोसो अशुभौ मोहप्रद्वेषौ। परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम्। सुहो व असुहो हवदि रोगो शुभोऽशुभो वा भवति रागः। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूपः शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति। अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बंधहेतुरिति ज्ञात्वाबंधे शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्तव्येति तात्पर्यम्। ।१८०।।

अब, परिणाम का द्रव्यबन्ध के साधकतम राग से विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं (अर्थात् परिणाम द्रव्यबन्ध के उत्कृष्ट हेतुभूत राग से विशेषतावाला होता है, ऐसा भेद सहित प्रगट करते हैं) –

बन्ध है परिणाम से जो राग-मोह अरु द्वेष है।
मोह-द्वेष हैं अशुभ, राग अशुभ व शुभ होय है॥

अन्वयार्थ - **[परिणामात् बंधः]** परिणाम से बन्ध है, **[परिणामः रागद्वेष-मोहयुतः]** (जो) परिणाम राग-द्वेष-मोहयुक्त है। **[मोहप्रद्वेषौ अशुभौ]** (उनमें से) मोह और द्वेष अशुभ है, **[रागः]** राग **[शुभः वा अशुभः]** शुभ अथवा अशुभ **[भवति]** होता है।

टीका - प्रथम तो द्रव्यबन्ध विशिष्ट परिणाम से होता है। परिणाम की विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयपने के कारण है। वह शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत का अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकार का है); उसमें से मोह-द्वेषमयपने[१] से अशुभपना होता है, और रागमयपने से शुभपना तथा अशुभपना होता है क्योंकि राग-विशुद्धि[२] तथा संक्लेशयुक्त होने से दो प्रकार का होता है॥ १८०॥

प्रवचन नं. १८३-F **कार्तिक कृष्ण १४, शुक्रवार, १५ नवम्बर १९६३**

'प्रवचनसार' १७९ गाथा (पूरी) हुई। 'ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन' ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने योग्य पदार्थ। उसका परिणमन और उसका फल आदि क्या है? वह यहाँ ज्ञेय (अधिकार में) जैसा है, वैसा वर्णन किया और, इस प्रकार उसकी श्रद्धा करे तो उसे सम्यग्दर्शन हो। १७९ कही गयी। १८०

अब, परिणाम का द्रव्यबन्ध के साधकतम राग से विशिष्टपना सविशेष प्रगट करते हैं.... जिस परिणाम से द्रव्यबन्ध हो (अर्थात्) नये जड़कर्म का बन्धन हो, उसका मूल कारण साधकतम उत्कृष्ट राग है। उस राग के भेद, भेद है, इसलिए (साधकतम) कहते हैं। राग अर्थात् विकार। उस विकार का विशिष्टपना अर्थात् विकार का खासपना और उसके सविशेष अर्थात् भेद प्रगट करते हैं। किस विकार से क्या हो? और अविकार से क्या हो? इसका - राग के भेदों आदि का यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं।

---

१. मोहमय परिणाम और द्वेषमय परिणाम अशुभ हैं।
२. धर्मानुराग विशुद्धिवाला होने से धर्मानुरागमय परिणाम शुभ है; विषयानुराग संक्लेशमय होने से विषयानुरागमय परिणाम अशुभ हैं।

यह भेदसहित प्रगट करते हैं **(परिणाम द्रव्यबन्ध के उत्कृष्ट हेतुभूत राग से विशेषतावाला होता है...)** यह राग भी अनेक प्रकार का है, विकार भी अनेक प्रकार का है।

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।। १८०।।

आत्मा शुद्ध चिदानन्द ज्ञायकमूर्ति परमानन्दस्वरूप होने पर भी, उसे नये कर्म के बन्ध का कारण, ऐसे मोह आदि के परिणाम हैं, वे भावबन्ध हैं और वह भावबन्ध, नये द्रव्यबन्ध को निमित्तरूप से कहा जाता है। समझ में आया? भावबन्ध को नये बन्ध का निमित्त कहने में आता है। वस्तु आत्मा है, वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वरूप है। उसमें बन्ध परिणाम जो उत्पन्न होता है, वह स्वभाव में नहीं। स्वभाव शुद्ध चिदानन्दमूर्ति अनन्त गुण का उपयोग पिण्ड प्रभु, उसकी दृष्टि करने से तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान शुद्ध परिणाम प्राप्त होता है परन्तु वह शुद्ध स्वभाव अन्तर चिदानन्द प्रभु, उसका अवलम्बन लिए बिना जो परिणाम कर्म के निमित्त के लक्ष्य से नये बन्ध में कारण होता है, ऐसे विकारी परिणाम की खास विशेषता बतलाते हैं।

देखो! दोनों बात आयेगी। **प्रथम तो द्रव्यबन्ध विशिष्ट परिणाम से होता है।** अकेले योग से (होता है), वह साधारण है। यह तो खास - विशिष्ट परिणाम से होता है। ऐसा क्यों कहते हैं? कि समकित मोहनीय आदि का परिणाम है परन्तु वह बन्ध का कारण नहीं।

प्रश्न - खास क्यों कहा?

समाधान - कहा न कि आत्मा में समकित मोह का परिणाम जो होता है, वह बन्ध का कारण नहीं। खास परिणाम जो बन्ध का कारण है, उसकी बात करते हैं।

द्रव्यबन्ध विशिष्ट परिणाम.... अर्थात् खास परिणाम से **होता है।** ऐसा स्पष्टीकरण करते हैं। **परिणाम की विशिष्टता राग-द्वेष-मोहमयपने के कारण है।** आत्मा में परिणाम जो होता है, वह राग-द्वेष-मोहमय के कारण से होता है। यहाँ मलिन परिणाम की बात करनी है न?

वह शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत का अनुसरण करता है। जो राग-द्वेष, मोह है, जो नया जड़ कर्मबन्ध का कारण परिणाम है, वह परिणाम शुभत्व और अशुभत्व के कारण **द्वैत का अनुसरण....** (करता है)। अर्थात् दो प्रकार होते हैं। एक शुभ परिणाम एक अशुभ परिणाम। दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभ और अशुभ दोनों धर्म का कारण नहीं। समझ में आया? देखो!

(अर्थात् दो प्रकार का है); उसमें से मोह-द्वेषमयपने से अशुभपना होता है,.... मोहमय परिणाम - मिथ्याश्रद्धा (अर्थात्) देहादि मेरे, पुण्यादि परिणाम मेरे, ऐसी मिथ्यात्व मान्यता को यहाँ मोह कहते हैं। वह मोह अशुभ है। मोह ही अशुभ है। शरीर, वाणी, मन या पर(पदार्थ) या पुण्य-पाप का भाव, अजीव - शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि अजीव और पुण्य-पाप का भाव आस्रव... ज्ञायक भगवान अपने को न मानकर वह आस्रव और अजीव मैं हूँ और वह चीज मेरे में है — ऐसी मान्यता को मिथ्यामान्यता - मिथ्याश्रद्धा का परिणाम कहते हैं। यह मिथ्याश्रद्धा अशुभ ही होती है। कहो, समझ में आया?

मिथ्यामान्यता अशुभ ही है। मिथ्या मान्यता में शुभ और अशुभ दो भाग है ही नहीं। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण शुद्ध अनन्त गुण का पिण्ड, समाज चैतन्यप्रभु! अनन्त गुण के समाजरूप आत्मा! उसमें अनन्त गुणरूप समाज पड़ी है। एकरूप चैतन्य, जिसमें अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, केवलज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि स्वचतुष्टय पड़ा है। उसकी दृष्टि, उसका अवलम्बन - आश्रय न करके, कर्म का लक्ष्य करके, पर का लक्ष्य करके, वह मेरी चीज है, मैं उसमें हूँ, वह मेरे में है, अजीव शरीर, कर्म मेरे में हैं (और) मैं उसमें हूँ और पुण्य-पाप भाव मेरे में हैं, मैं उसमें हूँ — ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता, मिथ्यात्व परिणाम अशुभपने को प्राप्त है। वह अशुभ ही है।

कोई कहते हैं न कि पाप परिणाम छोड़े, पुण्य परिणाम किये तो शुभ तो है। यहाँ तो मिथ्यात्व परिणाम ही अशुभ साथ में है। दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम शुभ है तो उसे शुभ तो कहो। वह तो शुभ है ही परन्तु उसके साथ वह मेरी चीज है और मुझे लाभ होगा - ऐसा अशुभ मिथ्यात्व का परिणाम साथ में है। आहा...हा...! कठिन बात (है)। समझ में आया? पाप का अशुभ भाग बहुत ले जाता है। बड़ा हिस्सा उसका है। भाई! क्या कहा?

आत्मा में, पर्याय में – अवस्था में दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि का शुभभाव हो तो नया पुण्यबन्ध का कारण होने से (उसे) शुभ कहते हैं परन्तु उस काल में 'यह शुभ परिणाम मुझे धर्म का कारण है और मुझे धर्म होता है' — ऐसी मिथ्या मान्यता अशुभ भाग में जाती है। अशुभ भाग है, महा अशुभ है! यह मिथ्या परिणाम – मिथ्या श्रद्धा बड़ा अशुभ है। समझ में आता है?

आत्मा में दो प्रकार के परिणाम (होते हैं)। परिणाम समझते हैं? अवस्था – हालत – भाव। दो प्रकार का भाव, बन्ध का कारण है। इस दो प्रकार में एक मिथ्यात्व भाव और एक द्वेष भाव – दो अशुभ हैं। दो अशुभ हैं। **मोह-द्वेषमयपने से अशुभपना होता है,....** आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप की मान्यता छोड़कर 'मैं पर का कुछ करता हूँ, पर से मेरे में लाभ होता है, मैं दुनिया का उद्धार कर सकता हूँ, दुनिया के दुःख दूर कर सकता हूँ और पर मेरा दुःख दूर कर सकते हैं' — ऐसी मिथ्या मान्यता बड़ा अशुभभाव है। ठीक है? व्यापारियों को समझ में आता है या नहीं? इन वकीलों को समझ में आता है? जीव को समझ में आता है।

आ...हा...! भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग देवाधिदेव, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञान में ज्ञात हुए। अपना-पर का तीन काल का स्वरूप वाणी में आया। तीन काल-तीन लोक का सब स्वरूप आया, उसमें बन्ध के स्वरूप की व्याख्या आने पर भगवान की वाणी में ऐसा आया, (उसे) गणधरों ने गूँथा (और) आचार्यों ने शास्त्रों की रचना की। उसमें ऐसा कहा कि हे आत्मा! तेरे स्वभाव की पवित्रता शुद्धता अन्तर अखण्ड ज्ञायकता है, उसकी दृष्टि छोड़कर तू परपदार्थ के भले-बुरे काम मैं कर दूँ, पर से मुझमें अच्छा बुरा हो, यह पुण्य परिणाम मुझे धर्म का कारण है – ऐसे जो भाव (होते हैं), उन्हें हम मिथ्यात्वभाव, अशुभभाव, पापभाव कहते हैं। कहो, समझ में आया?

क्या (कहते हैं?) **शुभ और अशुभपने के कारण द्वैत का अनुसरण करता है।** बन्ध का कारण दो (भाव हैं)। उसमें एक **मोह-द्वेषमयपने से अशुभपना होता है,....** इस मनुष्य को मोह की अशुभता की कीमत समझना नहीं आती, कीमत करना नहीं

आती। जरा सो कुछ शुभपरिणाम हुआ, दया, दान (का भाव हुआ कि) बस! ओ...हो...! बड़ा अच्छा हो गया, परन्तु उसमें धर्म माना है और मैं करनेवाला (हूँ), पुण्य मेरा कर्तव्य है — ऐसी दृष्टि को मोहमय अशुभभाव कहते हैं, मिथ्यात्व का अशुभभाव कहते हैं। इस अशुभभाव से दर्शनमोह आदि नया कर्म का बन्ध होता है। कहो, समझ में आया? भाई! लो! इसमें मौका आया! देखो!

अनादि से उसमें यह भूल है। शुभ-अशुभ दो में से **मोहद्वेषमयपने से अशुभपना होता है,...** देखो! (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में) स्पष्टीकरण किया है।'मोहमय परिणाम और द्वेषमय परिणाम अशुभ है।' वह पापभाव है। मिथ्याश्रद्धा पापभाव है और द्वेषभाव भी पापभाव है। वह नये बन्ध का कारण है और दोनों में कोई धर्म का कारण है नहीं।

और रागमयपने से शुभपना और अशुभपना होता है.... राग का दो प्रकार है – एक शुभ और एक अशुभ। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में स्पष्टीकरण है) 'धर्मानुराग विशुद्धिपना होने से धर्मानुरागमय परिणाम शुभ है;....' भगवान की भक्ति, स्मरण, दया, दान आदि के भाव, धर्मानुराग शुभ पुण्य है। पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं।

मुमुक्षु – सब बाबत में इंकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – सब बाबत में इंकार कहाँ करते हैं? देखो! यह कहते हैं, जैसा है, वैसा बताते हैं। इस (मान्यता का) सब चक्र बदल डालना पड़ेगा। समझ में आया?

प्रश्न – सब बदल डालना पड़ेगा?

समाधान – इस कारण से कहा है, सबेरे हमारे बात हुई है। समझ में आया? कहो, समझ में आया कुछ?

कहते हैं — भगवान की भक्ति, परमात्मा का स्मरण, दया-दान के परिणाम, ये सब विशुद्धिवाले होने से शुभ हैं, पुण्य-बन्ध के कारण हैं; धर्म नहीं। शुभपरिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं; धर्म नहीं; संवर-निर्जरा नहीं; मोक्षमार्ग नहीं। कहो समझ में आया? देखो!

रागमयपने से शुभपना तथा अशुभपना होता है क्योंकि राग-विशुद्धि... देखो! विशुद्धि अर्थात् धर्मानुराग। शुभ परिणाम, शुभ हों! राग का दो प्रकार है। एक शुभ

और एक संक्लेशरूप अशुभ है। राग दो प्रकार का (है), द्वेष दो प्रकार का नहीं। द्वेष एक प्रकार का – अशुभ। मोह मिथ्याश्रद्धा एक ही प्रकार की होती है – अशुभ; और राग दो प्रकार का होता है – एक शुभ और (एक) अशुभ। शुभ में दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, भगवान का स्मरण आदि का विकल्प उठता है, वह सब शुभभाव है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। शुभ बन्ध का कारण है; धर्म नहीं और अशुभ – विषय, कषाय, भोग, वासना, कमाना, कमाना, रलऊँ कमाना समझते हैं? (पैसे) कमाना इत्यादि। ये हीरा, माणिक, पन्ने का धन्धा करने में बैठना, वह भाव है वह अशुभ है।

प्रश्न – रोटी कैसे खायें?

समाधान – रोटी कौन खाते थे? रोटी खाने का भाव होता है। शरीर-पोषण के लिए रोटी (खाने) का भाव होता है, वह अशुभ है। संसार का कारण है। कहो, समझ में आया?

बन्ध का परिणाम दो प्रकार का (है)। एक शुभ, एक अशुभ। अशुभ दो प्रकार का (है)। एक मिथ्याश्रद्धा और द्वेष। राग दो प्रकार का (है) एक शुभ और एक अशुभ। दया, दान, भक्ति, भगवान का स्मरण, यात्रा (आदि) शुभराग (है)। कषाय मन्द हो तो वह शुभराग है और विषय-कषाय, भोग, कमाना, आबरू, मान-सम्मान इत्यादि वह पाप राग है, अशुभराग है। समझ में आया? चारों बन्ध का कारण है। कौन चार? एक मिथ्याश्रद्धा और द्वेष, पापबन्ध का कारण (है)। राग का दो भाग – एक शुभ, एक अशुभ। दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभराग, पुण्यबन्ध का कारण है; अशुभराग, पापबन्ध का कारण है। चारों भावबन्ध के कारण हैं। उसमें एक भी भाव, धर्म का कारण है नहीं। समझ में आया? १८० (गाथा) पूरी हुई।

गाथा - १८१

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।। १८१।।

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भणितमन्येषु।
परिणामोऽनन्यगतो दुःखक्षयकारणं समये।। १८१।।

द्विविधस्तावत्परिणामः, परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च। तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणामः। तत्रोक्तौ द्वौ शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबंधकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः। स काले संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसार-दुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव।।१८१।।

अथ द्रव्यरूपेणपुण्यपापबंधकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञा शुभाशुभरहित-शुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति - सुहपरिणामो पुण्णं द्रव्यपुण्यबंध-कारणत्वाच्छुभपरिणामः पुण्यं भण्यते। **असुहो पावंच ति भणिदं** द्रव्यपापबंधकारणत्वादशुभपरिणामः पापं भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणामः। **अण्णेसु** निजशुद्धात्मनः सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु। **परिणामो णण्णगदो** परिणामो नान्यगतोऽनन्यगतः स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थः। स इत्थंभूतः शुद्धपयोगलक्षणः परिणामः **दुक्खक्खयकारणं** दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधान मोक्षस्य कारणं **भणिदो** भणितः। क्व भणितः। **समये** परमागमे लब्धिकाले वा। किंच, मिथ्याद-ष्टिसासादनमिक्षगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमास्ते, अविरतदेशविरतप्रमत्त-संयतसंज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणितः, अप्रमत्तादिक्षीण-कषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणितः। नयविवक्षायां मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीण-कषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भव्,येव। तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोगः कथं लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे

कृते सति प्रत्युत्तरं ददाति - वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणं, शुभाशुभशुद्धद्रव्यावलंबनमुपयोगलक्षणं चेति; तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलंबनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षणं च यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। अत्र योऽसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारणं भणितः स तु शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिमामिकभावादभेदप्रधान-द्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्याय-आर्थिकनयेन भिन्नः। कस्मादिति चेत्। अयमेकदेश-निरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूपः, स च पारिणामिकः सकलावरणरहितत्त्वेनाखण्ड-ज्ञानव्यक्तिरूपः; अयं तु सादिसान्तत्वेन विनश्वरः, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वरः। यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पतौ मृत्पिण्डविनाशवत् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थः। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति, ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात्। ध्यानस्य विनश्वरत्वादिदिति।।१८१।।

अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण में कार्य का उपचार करके कार्यरूप से बतलाते हैं –

पर माँहि शुभ-परिणाम पुण्य, अरु अशुभ पर में पाप है।
पर आत्मरत परिणाम कारण, दुःख-क्षय का जिन कहें॥

अन्वयार्थ – **[अन्येषु]** पर के प्रति **[शुभ परिणामः]** शुभ परिणाम **[पुण्यम्]** पुण्य है, और **[अशुभः]** अशुभ परिणाम **[पापम्]** पाप है, **[इति भणितम्]** ऐसा कहा है; **[अनन्यगतः परिणामः]** जो दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं है – ऐसा परिणाम **[समये]** समय पर **[दुःखक्षयकारणम्]** दुःखक्षय का कारण है।

टीका – प्रथम तो परिणाम दो प्रकार का है – परद्रव्यप्रवृत्त (परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान) और स्वद्रव्यप्रवृत्त। इनमें से परद्रव्य प्रवृत्त परिणाम, पर के द्वारा उपरक्त (पर के निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम, पर के द्वारा उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है। उसमें विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं – शुभपरिणाम और अशुभपरिणाम। उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभपरिणाम पाप है। अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है, इसलिए उसके भेद नहीं हैं। वह (अविशिष्ट

परिणाम) यथाकाल संसारदु:ख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार दु:ख का हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।

भावार्थ – पर के प्रति प्रवर्तमान ऐसा शुभपरिणाम, वह पुण्य का कारण है और अशुभपरिणाम, वह पाप का कारण है; इसलिए यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाय तो शुभपरिणाम, वह पुण्य है और अशुभपरिणाम, वह पाप। स्वात्मद्रव्य में प्रवर्तमान ऐसा शुद्धपरिणाम, मोक्ष का कारण है; इसलिए यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाय तो शुद्धपरिणाम, वह मोक्ष है॥ १८१॥

प्रवचन नं. १८३-F का शेष **कार्तिक कृष्ण १४, शुक्रवार, १५ नवम्बर १९६३**

अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण में कार्य का उपचार करके कार्यरूप से बतलाते हैं – परिणाम अर्थात् पुण्य-पाप का बन्ध का परिणाम। विशिष्ट परिणाम अर्थात् बन्ध का परिणाम। उसका भेद और अविशिष्ट अर्थात् मोक्ष का कारणरूप परिणाम। उसको **कारण में कार्य का उपचार करके....** जो बन्ध का कारण है – पुण्यबन्ध का कारण है तो शुभ को पुण्य कहेंगे; पापबन्ध का कारण है – अशुभ को पाप कहेंगे और मोक्ष का कारण (रूप) परिणाम शुद्ध है। आत्मा का पुण्य-पाप से रहित श्रद्धा, ज्ञान (करना), उस परिणाम को मोक्ष कहेंगे। समझ में आया? **कारण में कार्य का उपचार करके कार्यरूप से बतलाते हैं** – १८१ (गाथा)।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।। १८१।।

अब टीका। **प्रथम तो परिणाम....** (अर्थात्) आत्मा की पर्याय, परिणाम, भाव **दो प्रकार का है....** भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु! उसकी वर्तमान दशा का भाव, वर्तमान दशा का भाव, वर्तमान दशा का परिणाम, वर्तमान अवस्था का परिणाम दो प्रकार का है।

परद्रव्यप्रवृत्त (-परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान) और स्वद्रव्यप्रवृत्त.... सामान्य व्याख्या कही, देखो! एक परिणाम, परद्रव्य का लक्ष्यवाला परद्रव्यप्रवृत्त (है) और एक

परिणाम, स्वद्रव्यप्रवृत्त (है)। क्या कहा समझे? अभी स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ! **परिणाम दो प्रकार का है...** पर्याय शुभ, अशुभ और शुद्ध। ऐसा शुभ-अशुभ वह विशिष्ट है और शुद्ध अविशिष्ट है। उस प्रकार से दो हुए। पुण्य-पाप का परिणाम विशिष्ट है अर्थात् विकारवाला है। वह एक (परिणाम हुआ) और एक पुण्य-पाप से रहित आत्मा, शुद्ध चिदानन्द की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, वह अविशिष्ट परिणाम खास मोक्ष का कारण है। (इस प्रकार) परिणाम दो प्रकार का हुआ। क्या?

एक परद्रव्यप्रवृत्त। परद्रव्य के लक्ष्य से शुभाशुभ और मिथ्यात्व परिणाम होता है वह। एक स्वद्रव्यप्रवृत्त। अपने आत्मा के आश्रय। शुद्ध चिदानन्द प्रभु! उस स्वद्रव्य के आश्रय से शुद्ध परिणाम जो होता है, शुद्ध — उसे स्वद्रव्यप्रवृत्त कहते हैं और परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाला शुभ और अशुभ, उसे विशिष्ट परिणाम - खास विकार का परिणाम, बन्ध का कारण है, उसे विशेष कहते हैं। समझ में आया?

विशिष्ट अर्थात्? जो आत्मा के स्वभाव में है नहीं, नया विकार उत्पन्न होता है — मिथ्यात्व, शुभ और अशुभ, वह खास विकार विकृतभाव हुआ, वह बन्ध का कारण (है)। अविशिष्ट अर्थात् खास विकार नहीं परन्तु अपने स्वभाव में है, उसके अवलम्बन से, मैं पूर्णानन्द शुद्ध हूँ, पुण्य-पाप के परिणाम से रहित, कर्म से रहित, शरीर से रहित मेरी शुद्ध चिदानन्द शक्ति है, उसके अवलम्बन से अविशिष्ट अर्थात् किसी भी निमित्त के लक्ष्य और आश्रय बिना हुआ, अपने स्वभाव के आश्रय से हुआ, उस परिणाम को यहाँ अविशिष्ट शुद्ध परिणाम कहते हैं। गजब व्याख्या, भाई! अभी और स्पष्टीकरण आएगा, हाँ! यह तो अभी साधारण बात है।

मोक्ष और बन्ध का कारणरूप परिणाम, वह दो प्रकार का है। सामान्य व्याख्या (से कहें तो) आत्मा में परिणाम होता है, वह दो प्रकार का (है)। एक परद्रव्यप्रवृत्त, एक स्वद्रव्यप्रवृत्त। उतनी सामान्य व्याख्या कही। **इनमें से परद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम पर के द्वारा उपरक्त (पर के निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है...** देखो! शुभ-अशुभ परिणाम और मिथ्याश्रद्धा, वह परद्रव्य के लक्ष्य से परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम हुआ। मिथ्याश्रद्धा और पुण्य-पाप का भाव, ये तीनों परद्रव्यप्रवृत्त विशिष्ट परिणाम हुए, खास नया विकारी परिणाम उत्पन्न हुआ, उसे बन्ध का कारण कहते हैं।

स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त न होने से... स्वद्रव्यप्रवृत्त (अर्थात्) अपना आनन्द शुद्ध चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य से, उसके आश्रय से अन्तर में प्रवृत्त अर्थात् परिणाम जो प्रगट हुआ, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र — ये तीनों परिणाम, अपने शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय से स्वद्रव्यप्रवृत्त कहने में आता है। ऐसी भाषा भी कभी सुनी न हो। स्वद्रव्यप्रवृत्त और परद्रव्यप्रवृत्त!

भगवान आत्मा एक ओर पूर्णानन्द प्रभु! असंख्यप्रदेशी अनन्त गुण का धाम! देह से, इस मिट्टी से भिन्न, कर्म से भिन्न, वाणी से भिन्न, पुण्य-पाप के भाव से भी भिन्न, ऐसा आत्मा अनादि-अनन्त, आदि-अन्त बिना अनन्त गुण का धाम, असंख्य प्रदेश (में व्याप्त) शुद्ध वस्तु (है)। उसके आश्रय से जो परिणाम होता है, उसे स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम कहने में आता है। यह स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम, मोक्ष का कारण है तो उस परिणाम को मोक्ष कह दिया। समझ में आया?

जैन में जन्में हो तो उन्हें अभी पता नहीं हो कि यह स्वद्रव्य प्रवृत्त और परद्रव्य प्रवृत्त क्या (होगा)? धन का पता हो ऐसा? ठीक! भाई! लो यह तुम्हारे पैसे की बातें करते हैं। यह तो पता होगा कि यह पैसा हमारा और यह पैसा अमुक का, ऐसा कहते हैं। यहाँ उसकी बात कहाँ है?

यहाँ तो भगवान आत्मा! वस्तु जो पूर्णानन्द अनादि-अननत एकरूप चैतन्यधाम शाश्वत् वस्तु आत्मा (है) उसमें अनन्त शक्ति पड़ी है, ऐसा शक्ति का पिण्डरूप यह पदार्थ के आश्रय से, उसकी दृष्टि से, उसके लक्ष्य से, उसके अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणाम उत्पन्न हुआ, उसे स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम, मोक्ष का कारण कहते हैं। बनिये को दस लाख का तीन आने के हिसाब से ब्याज निकालना हो तो हर रोज का निकाले, चक्रवृद्धि (ब्याज) निकाले, रुचि है इसलिए (निकालता है) यहाँ रुचि नहीं, यहाँ का पता नहीं। उसमें - धूल में इसे रुचि है। दस लाख तीन आने (के हिसाब से) दिये हों, अब तो बढ़ गया। अभी सुना था। पहले तो ऐसा था, दस लाख, पन्द्रह लाख के तीन आना से अधिक कोई दे नहीं। राजा-महाराजा लेते थे, पाँच-पाँच लाख लेते थे, राजा लेते, हाँ! अब तो कहते हैं साधारण बारह आने हो गये, आठ आने साधारण हो गये, साहूकार तकादी दे, ऐसा कहते हैं। पहले तो दिवालिया तका देता था! यह सब सुना है।

यहाँ तो ऐसा कहना है कि इसकी इसे रुचि थी, (इसलिए) ब्याज निकालना आता ऐसा कहता हूँ। इसे आता है दो आने के हिसाब से, तीन आने के हिसाब से, राजाओं को दस लाख दिये हों तो चक्रवृद्धि ब्याज निकाले। दस लाख का एक दिन का ब्याज आवे, वह ऊपर चढ़ाकर उसके ऊपर दूसरे दिन का ब्याज और पैसे सहित का ब्याज निकाले, इसका नाम चक्रवृद्धि ब्याज कहलाता है। ब्याज मिलाकर (निकाले)। अभी तो फिर महीने का (निकालते होंगे)। अपने को कहाँ पता है ? दस हजार का नब्बे रुपया होता है या नहीं ? तारणरूप से एक महीने का नब्बे, दस हजार और नब्बे का ब्याज फिर दूसरे महीने का, ऐसा करके दूसरे महीने का, करते होंगे, किसे पता ? कहो समझ में आया ? उसमें इसे चतुराई, इसका पता (नहीं पड़ता)।

कितनी सरस बात की, देखो, (अन्वयार्थ में है) **अन्येषु शुभ परिणामः पुण्यम्** अनन्यगत परिणाम – ऐसा पाठ है। अनन्यगत अर्थात् पर के नहीं हुए, स्वगत-स्वद्रव्य से हुए, स्वद्रव्य से हुआ। अपना आत्मा जो शुद्ध चैतन्य है; परलक्ष्य छोड़कर, अपना शुद्ध स्वभाव त्रिकाल है, उस ओर का अन्तर में अवलम्बन करके स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम जो हुआ, उस परिणाम को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं और वह परिणाम स्वद्रव्यप्रवृत्त कहने में आया है और जो परिणाम, परद्रव्य मेरा है, मैं उसका हूँ — ऐसी मिथ्या मान्यता का मिथ्यात्व का परिणाम हुआ, वह परद्रव्य (के) लक्ष्य से हुआ, परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम हुआ और पर की दया का, भक्ति का, पूजा का भाव हुआ, शुभ (भाव हुआ) वह भी परद्रव्यप्रवृत्त हुआ, क्योंकि परलक्ष्य से उत्पन्न हुआ और हिंसा का, झूठ का, चोरी का, विषय का, भोग का भाव हुआ, वह भी परद्रव्य के लक्ष्य से हुआ, वह भी परद्रव्यप्रवृत्त हुआ।

मिथ्यात्व और राग दो प्रकार का और द्वेष। परवस्तु ठीक न लगी तो अरुचि (घृणा करता है), ये नहीं... ये नहीं... ऐसा द्वेष भी परद्रव्य प्रवृत्त है। मिथ्यात्व भाव, द्वेष भाव, अशुभराग और शुभराग – ये सब परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम (हैं), बन्ध का कारण(रूप) परिणाम हैं। कहो, समझ में आया कुछ ? आहा...हा... ! बस, एक ओर राम और एक ओर गाँव।

भगवान पूर्णानन्द प्रभु अन्तर सम्पदा से भरा हुआ, उसकी अन्तर्मुख दृष्टि करने से स्वद्रव्य प्रवृत्ति जो है, उसकी परिणति प्रगट होती है, उसे स्वद्रव्य-प्रवृत्ति कहते हैं। इस

परिणाम को धर्म कहते हैं। दूसरी भाषा से कहें तो उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ उसे मोक्ष कहेंगे। कारण में कार्य का उपचार करके (मोक्ष कहेंगे)। समझ में आया? और परद्रव्य और स्वद्रव्य की भिन्नता का भान हुए बिना, परद्रव्य का मैं कर सकता हूँ, मैं इसकी व्यवस्था कर सकता हूँ, उससे मेरे में लाभ होता है — ऐसा परद्रव्य प्रवृत्त मिथ्यात्वभाव महा अशुभ (है), वह भी परद्रव्य प्रवृत्त है और द्वेष - प्रतिकूलता में द्वेष आना, वह भी परद्रव्य प्रवृत्त भाव है और अशुभराग — विषय-कषाय, भोग आदि का अशुभ (राग); वह सब पाप के परिणाम परद्रव्यप्रवृत्त हैं, वह बन्ध का - पापबन्ध का कारण है; दया, दान, भक्ति आदि शुभपरिणाम, परद्रव्य के लक्ष्य से होता है तो परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम, पुण्यबन्ध का कारण है तो उसे पुण्य कहने में आया है। कहो, बराबर है या नहीं? भाई! लॉजिक से बात है या नहीं?

देखो! **इनमें से परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त (पर के निमित्त से विकारी) होने से...** वह विकारी (परिणाम) है न? मिथ्यात्व परिणाम हो, द्वेष हो या अशुभ-शुभराग हो। मिथ्याश्रद्धा भाव हो, द्वेष भाव हो या अशुभ-शुभराग हो, सब पर के द्वारा उपरक्त होने से वे तो विकारी हैं। पर के लक्ष्य से विकार हुआ है; पर के लक्ष्य से कभी निर्विकारी धर्म परिणाम होता नहीं। **(पर के निमित्त से विकारी) होने से....** पुस्तक है या नहीं? भाई! देखो उसमें। शब्दार्थ देखो, शब्दार्थ क्या है? ऐसे का ऐसे पढ़े-समझे बिना 'वांचे पण नहीं करे विचार, वह समझे नहीं सगलो सार' यह हमारे कहते थे। दलपतराम (की कविता में आता था) पुस्तक में आता था। समझ में आया?

भगवान आत्मा! आत्मा अर्थात् कुछ नहीं! आत्मा अर्थात् यह सब-पुण्य और पाप और यह करे वह आत्मा। अरे...! सुन न प्रभु! आत्मा उसे कहते हैं कि शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, पुण्य-पाप का भाव नहीं, मिथ्यात्व भाव नहीं; अकेला चिदानन्द अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु को आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा की अन्तर्मुख होकर श्रद्धा करना और अन्तर्मुख शक्ति में निर्मल पर्याय की प्रगटता करना, उस परिणाम को स्वद्रव्यप्रवृत्त, वह परिणाम मोक्षमार्ग का परिणाम (कहने में आता है) और कारण में कार्य का उपचार करें तो वह मोक्ष ही है। स्वद्रव्य परिणाम, स्वद्रव्यप्रवृत्तपरिणाम, मोक्ष है। समझ में आया?

और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम पर के द्वारा उपरक्त न होने से... देखो! स्वद्रव्य परिणाम अपने शुद्ध आत्मा का अन्तर अवलम्बन से (प्रगट होता है)। अवलम्बन क्या? शुद्ध क्या? (इसकी) खबर नहीं। यह महापदार्थ चैतन्य प्रभु पड़ा है न! उसकी (ओर) अन्तर्मुख (होने से) जो परिणाम पर के द्वारा मलिन न होने से **अविशिष्ट परिणाम...** अविशिष्ट अर्थात् खास अलग प्रकार का विकार का वह (परिणाम) नहीं। ये तो जो स्वभाव है, उसी स्वभाव की पर्याय का प्रगट होना, उसे यहाँ अविशिष्ट परिणाम कहने में आया है। समझ में आया? आहा...हा...!

उसमें विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं... विशिष्ट परिणाम कहा न? विशिष्ट अर्थात् खास विकारवाला। पर के सम्बन्ध से विकार होनेवाला। उसके दो भेद हैं। **शुभपरिणाम और अशुभ परिणाम।** लो! एक शुभभाव, एक अशुभभाव। **उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम, पुण्य है...** देखो! कारण में कार्य का आरोप (किया)। शुभभाव हुआ — दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, स्मरण शुभभाव (हैं), उससे पुण्य का बन्ध हुआ, तो वह पुण्य कार्य हुआ तो कारण शुभभाव (है) तो कारण को ही पुण्य कह दिया। पुण्यबन्ध के कारण को यहाँ पुण्य कहा। कारण में कार्य का उपचार किया। कारण से – शुभपरिणाम से पुण्यबन्ध होता है तो वह कार्य हुआ। उस कारण में कार्य का उपचार किया कि शुभपरिणाम स्वयं पुण्य है। समझ में आता है?

पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम पुण्य है... दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप, भगवान का नाम स्मरण, वह सब शुभपरिणाम है, वह पुण्यबन्ध का कारण होने से शुभ को ही पुण्य कहने में आया है; धर्म नहीं (है)। **बन्ध का कारण होने से...** शुभबन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम को पुण्य कहने में आया है। (यह) ज्ञेय का अधिकार है।

एक क्षण में देह छोड़कर चला जाना, हड्डियाँ काम करे नहीं... आहा...हा...! बड़े बीमार, राजा-महाराजा, करोड़पति-अरबोंपति हों, बड़े बीमार कहा न? पुलिस ऐसे सलाम देते हों, उस मरने के समय... अब पाँच मिनिट है, फिर श्वांस यहाँ से हट गया। वह अन्दर बैठा कुछ कर सके नहीं, इस श्वांस को ऐसा लेना चाहिए (ऐसा कहे परन्तु)

वह तो जड़ की क्रिया है। श्वांस (लेने की) क्रिया जड़ की है न? आत्मा कर सकता है? बिल्कुल नहीं। साध्य हो तो उसे ख्याल आ जाये कि श्वांस यहाँ नाभि से छूट गया है। होशियार आदमी हो तो ख्याल आ जाए कि अन्दर से श्वांस छूट गई है। श्वांस अन्दर नहीं जाती। अन्दर नहीं जाती ऐसा आत्मा जाने, हं! ऊपर से ऊपर से चलता है। कुछ कर नहीं सके।

प्रश्न – तब न?

समाधान – अरे... तीनों काल! यह श्वांस की जड़ की क्रिया, आत्मा तीन काल–तीन लोक में कर नहीं सकता। अरे... बीमार मानधाताओं के दृष्टान्त दिये न, बड़े चक्रवर्ती हों, सोलह हजार देव सेवा करते हों। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवें नरक में गया। सोलह हजार देव सेवा (करे) रत्न के, हीरे के, बड़े ढोलिया, ढोलिया समझते हैं? पलंग! करोड़ों–अरबों रुपये के रत्न टांगे हों! यह सब सोलह–सोलह हजार देव खड़े रहे। सातवें नरक में (गया)। पाप के परिणाम बहुत किये, शरीर पड़ा रहा। ले साथ में, क्या ले? धूल! सुन न अब! तू कौन है? ले तेरे परिणाम। जैसे उल्टे और सुल्टे किये, वे परिणाम लेकर चला जायेगा। कोई चीज तेरी थी नहीं और तूने की नहीं। आहा...हा...! भाई! सांझणा जैसा शरीर हो, अलमस्त निरोगी हो और उसमें दो–तीन लड्डू खा जाता हो। लड्डू समझे? लड्डू! उसे ऐसा कहते हैं कि इस शरीर का श्वांस तेरे कारण नहीं, श्वांस लेने की क्रिया तेरे कारण से नहीं होती, वह जड़ के कारण से चलती है। तू आत्मा अरूपी है। पर का क्या कर सकता है? श्वांस पर है, शरीर पर है, वाणी पर है, तू क्या कर सकता है?

परद्रव्यप्रवृत्ति के परिणाम मैं करूँ — ऐसे परिणाम को मिथ्यात्वभाव कहते हैं। मिथ्यात्व, अशुभभाव (है), वह बन्ध का कारण होने से, पाप का बन्ध का कारण होने से इस अशुभपरिणाम को ही पाप कहा। समझ में आया? देखो! **पुण्यरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से शुभपरिणाम, पुण्य है...**

और पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभपरिणाम, पाप है। कौन? मिथ्यात्व, द्वेष और अशुभराग – तीनों। उसमें तीनों आ गया, हों! शुभपरिणाम में एक आया – शुभराग। शुभराग, पुण्यबन्ध का कारण है तो शुभपरिणाम को पुण्य कहा।

और पापपरिणाम, मिथ्याश्रद्धा, द्वेष भाव, विषय भाव आया न? अशुभराग, द्वेष और मिथ्यात्व – तीन परिणाम हुए। तीनों परिणाम से पाप बँधता है। पाप बँधता है तो तीनों परिणाम को पाप कहने में आया है। समझ में आता है कुछ? यह तो सरल भाषा है, ऐसी कोई शास्त्र की गूढ़ भाषा नहीं है।

भगवान आत्मा! वस्तुरूप से पूर्णानन्द शुद्ध दल पूरा चैतन्य अखण्ड है, उसकी दृष्टि छोड़कर परद्रव्य की क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं वाणी बोल सकता हूँ, शरीर को हिला सकता हूँ, श्वांस ले सकता हूँ, दूसरे का भला कर सकता हूँ, बुरा कर सकता हूँ, मेरा विरोध करे उसका पेशाब खुदा डालूँ... सुन... सुन... सुन!? पेशाब खुदा डालना समझते हैं? ऐसा बोलते हैं कि जहाँ उसका पेशाब पड़े, खोद डालूँ, ऐसा मैं समर्थ हूँ। मर जायेगा अब, सुन न! कौन करे किसी का – ऐसा परिणाम है, वह मिथ्यात्व परिणाम है। समझ में आया?

पुण्य परिणाम आया, मैंने किया, मेरा कर्तव्य है — ऐसे परिणाम को मिथ्यात्व परिणाम कहते हैं और विषय-कषाय का भाव अशुभराग है और पर प्रतिकूलता में पर के प्रति द्वेष आना, वह अशुभ है। अशुभ का तीन प्रकार (हुआ)। मिथ्यात्व परिणाम, द्वेष परिणाम और विषय-कषाय का परिणाम। तीनों मिलाकर अशुभ कहते हैं। ये पापबन्ध का कारण होने से तीनों को पाप कहने में आया है। समझ में आया?

बन्ध के परिणाम को अबन्ध का परिणाम माने तो मिथ्यात्व का परिणाम, अशुभ है या शुभ? कषाय की मन्दता का शुभराग हुआ न? उसे पुण्य कहा। पुण्य, पुद्‌गल का कारण होने से शुभराग, मन्द कषाय (से) पुद्‌गलद्रव्य बँधता है और पुण्यबन्ध में से बाद में पाक होता है तो यह धूल मिलती है। यह धूल अर्थात् पैसा-वैसा या स्त्री-पुत्र मिले और यह सब कुछ माने कि हम यह श्मशान की खिचड़ी में पड़े हैं। समझ में आया?

'तेरे पेट में श्मशान' ऐसा 'बोजा भगत' में आता है। माँस खाता है न? माँस! उसे कहते हैं कि ऐ.. तेरे पेट में श्मशान है, देख न! बाहर श्मशान कहाँ है? श्मशान समझते हैं? श्मशान! माँस खावे उसके पेट में श्मशान! ऐसे ही यहाँ आचार्य कहते हैं कि बुरे पाप-परिणाम करे, वह स्वयं नरकगति के परिणाम हैं, इस परिणाम में नरक है। समझ में आया? उस भावी नारकी को वर्तमान में भविष्य का नारकी कहने में आता है। आहा...हा...!

राजा महाराजा हो, ऐसे खम्मा... खम्मा होती हो, लो! मर जाने के बाद जहाँ जलाये हो न? जलाये हो, वहाँ एक-एक महीने तक उस पर गाय का दूध डालते हैं। देखा है या नहीं महाराजा! राजा-महाराजा, रानी आदि मर गये हों तो महीने-सवा महीने तक वहाँ अच्छी गाय ले जाते, जहाँ जलाये हो न? उस पर गाय आधे मण, आधे मण दूध डाले। सवा महीने तक! वह मरकर गया हो नरक में! तू यहाँ कर न अब! हमने तो यह देखा है, हाँ! वह जामनगर की रानी मर गयी न? हम जंगल जाते (वहाँ देखा कि) यह क्या करते हैं? कपड़ा बाँध रखा हो। महीने-सवा महीने तक गाय का पहला डाले - दूध दूहावे, उसमें दूध डलावे तो उसकी ठण्डी मिट्टी हो। आहा...हा...! ठण्डी मिट्टी समझते हैं? मिट्टी होती है न? राख! राख ठण्डी हो। अन्दर शीतलता नहीं तो बाहर शीतलता होती है। दूध डालते हैं, धूल में भी नहीं है। वह तो कहीं मरकर नरक में चला गया हो। माँस खाता हो, दारू पीता हो, फिर भले ही हीरे की पालकी में उठाकर निकाला हो, वह तो मुर्दा है, वहाँ कहाँ आत्मा है? वह तो चला गया। वह आत्मा तो नरक में चला गया। दुनिया से बहुत अलग! और श्मशान में पूरा गाँव एकत्रित हो। इतना भाग्यशाली सही या नहीं? अरे... भगवान! आहा...हा...!

कहे है कि **पापरूप पुद्गल के बन्ध का कारण होने से अशुभपरिणाम, पाप है।** अशुभ में तीन प्रकार आये; शुभ में एक आया। बराबर है न? शुभ में एक, अशुभ में कौन तीन? मिथ्यात्व, द्वेष और अशुभराग। राग के दो प्रकार में शुभराग है, वह पुण्य में गया और अशुभराग, द्वेष और मिथ्यात्व भाव, तीनों पाप में गये। ये चारों परिणाम बन्ध का कारण है। उन चारों में एक पुण्यबन्ध का कारण है तो शुभभाव को पुण्य कहा। अशुभ पापबन्ध का कारण है तो तीनों को पाप कहा। मिथ्यात्व को भी पाप (कहा), राग - अशुभ विषय-कषाय को भी पाप और द्वेष को भी पाप (कहा)। समझ में आया?

अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है... देखो! अविशिष्ट परिणाम तो एक ही है। स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ, उसमें भंग कहाँ (है)? पुण्य-पाप, मिथ्यात्व परिणाम, सब पर के आश्रय से बन्ध का कारण (हैं)। भगवान आत्मा अपना शुद्धस्वरूप अन्तर अवलोकन करने से... अन्तर अवलोकन करने से जो निर्मल सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, जो आत्मा के अन्तर अवलम्बन से पवित्र परिणाम प्रगट हुए, वे अविशिष्ट हैं। वे

खास कोई भिन्न प्रकार की जाति नहीं। वह तो आत्मा की जाति है, उसी जाति का परिणाम उसमें आया। समझ में आया? आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु, सिद्ध स्वरूप आत्मा है। उसकी दृष्टि करने से शुद्ध परिणाम ही होता है तो वह तो अविशिष्ट (हुआ)। कोई खास भिन्न प्रकार का (नहीं)। वह तो (आत्मा की) जाति है उस प्रकार का आया। आ...हा...! ज्ञेय को समझाने की कथन पद्धति....! ओ...हो...!

शुभ और अशुभ परिणाम (करके) बाहर से (धर्म) मान रखा है। शुभ में आया (तो मान लिया कि) धर्म हो गया।

मुमुक्षु – उलझन में पड़े हुए हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री – उलझन में पड़े हुए हैं। उलझन का क्या अर्थ? उलझन अर्थात् हमारी भाषा में क्या? अटके हुए? (श्रोता – फँसा लिया)। फँसा लिया। उलझ (गया अर्थात्) उसमें लीन हुआ, तत्पर हुआ। भाई! आहा...हा...! कहाँ का कहाँ (उलझा)! एक रजकण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। मिट्टी या रजकण कहाँ से आये और यहाँ आये। राख होकर श्मशान में उड़ जायेगी परन्तु श्मशान में इतनी सब नहीं रहेगी। यह तो चार मण का है। इतनी थोड़े ही रहेगी। उसमें हवा आयेगी... कहाँ गया चार मण का शरीर? कहाँ गया? वह तो जड़ था। 'रजकण तारा रखड से जेम रखडती रेत।' 'जैसे भटकती रेत' लो! रेत जहाँ उड़े न? वहाँ बहुत आवे। हवा ऐसी आवे, पवन कि लोग के लोग ढँक दे! ऐसी हवा! बड़ा रण है न? आँधी ऐसी आवे कि उड़-उड़कर (रेत आवे और) बड़ा ढेर हो जाये, वह तो अन्दर हो फिर कोई दूसरी हवा आवे तो सब उड़ जाये। सब खुला कर डाले। यह सब आँधियाँ हैं आँधियाँ। समझते हैं? पवन (चक्रवात) आता है न? पवन!

ओ...हो...! कथन की पद्धति देखो न! **अन्येषु शुभ परिणामः** और **अनन्यगतः परिणामः** अन्य नहीं ऐसे आत्मा में अनन्यगत परिणाम। **दूसरे के प्रति प्रवर्तमान नहीं।** आ...हा...हा...! पर का परिणाम जो दया का, हिंसा का कोई परिणाम नहीं। मैं मेरी चीज शुद्ध आनन्द हूँ। मेरा स्वभाव पूर्णानन्द जो सिद्ध भगवान हुए, अरहन्त हुए, वे सब अपने शुद्ध स्वभाव में से प्रगट हुए हैं। अन्दर में सम्पदा थी, वह प्रगट की है। बाहर से वह सम्पदा आयी नहीं। भगवान को केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, वीर्य प्रगट हुआ, वह

बाहर से आया है ? अपनी निधि चैतन्य भगवान में सब पड़ी है, उस पर दृष्टि करने से अविशिष्ट परिणाम — पर का अवलम्बन बिना का, स्वभाव जो शुद्ध है, उसकी श्रद्धा, उसका स्वसंवेदन ज्ञान और स्वभाव में लीनतारूप चारित्र - अरागी वीतरागी परिणाम, उन तीनों को यहाँ अविशिष्ट परिणाम, खास निर्मल परिणाम कहने में आता है। वह निर्मल परिणाम एक ही है। उसमें दो भेद नहीं है।

अविशिष्ट परिणाम.... अर्थात् मोक्षमार्ग का परिणाम अर्थात् स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम। वह पहले से कहा था न ? स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम कहो या अविशिष्ट परिणाम कहो; परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम कहो या विशिष्ट परिणाम कहो। बराबर है ? भाई ! परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न मिथ्यात्व, राग, द्वेष, पुण्य, पाप सब विशिष्ट परिणाम (हैं)। वे परद्रव्यप्रवृत्त (हैं)। और भगवान आत्मा के आश्रय से अन्दर में से परिणाम प्रवृत्त हुआ, उसमें कोई पुण्य-पाप का भाव स्वद्रव्य के आश्रय से होता ही नहीं। वह तो अविशिष्ट अर्थात् जैसा है, वैसा आया। विकृत (परिणाम) तो जैसा (स्वभाव) है, वैसा नहीं; वह तो परद्रव्यप्रवृत्त भिन्न... भिन्न... भिन्न... प्रकार (के हैं)।

यहाँ भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य ! उसके अन्तर अवलम्बन से खास नहीं ऐसा, उसके स्वभाव की जाति है ऐसा परिणाम, निर्मल परिणाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र; जिसमें पुण्य-पाप का अभाव है और शुद्धता का सद्भाव है। **अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है...** वह चारों अशुद्ध होने से चार कहा। यहाँ शुद्ध है तो उन्हें अशुद्ध कहना। मिथ्या श्रद्धा, दया का परिणाम - पुण्य का परिणाम, पाप का परिणाम, द्वेष का परिणाम, इन चारों को अशुद्ध कहना। बराबर है ? चारों अशुद्ध हैं।

इसलिए उसके भेद नहीं है। वह तो एक ही प्रकार का (है)। स्वद्रव्य शुद्ध चिदानन्द प्रभु ! उसके अवलम्बन से एक ही प्रकार की निर्मलता (प्रगट होती है)। भले ही कम-ज्यादा हो। पहले कम हो, (बाद में) विशेष हो परन्तु वह तो शुद्ध ही है। उसमें कोई फर्क नहीं। **इसलिए उसके भेद नहीं है।**

वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल संसारदुःख के हेतूभूत.... देखो ! पहले पुण्यबन्ध का, पुण्य का, पुद्गल का बन्ध का कारण कहा था। दूसरे में पाप बन्ध पुद्गल

का बन्ध का कारण कहा था। अब, अविशिष्ट परिणाम है। आत्मा अखण्ड गुण आनन्दकन्द के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान परिणाम हुआ... लो, यहाँ तो ऐसा कहा, भाई! (अज्ञानी) कहे कि भगवान के दर्शन से समकित परिणाम होता है। अरे... भगवान! क्या तुझे कहना है ? बापू! भगवान के दर्शन से शुद्ध परिणाम होता है, समकित होता है... अरे...! समकित तो शुद्ध परिणाम है। शुद्ध परिणाम तो स्वद्रव्यप्रवृत्त है। शुद्ध परिणाम परद्रव्यप्रवृत्त नहीं। समझ में आया ?

पाठ में (अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका में) तो इतना पड़ा है, **स काले** है न ? कहाँ है १८१ **स काले** अपने (गुजराती में) **'**ते काले**'** किया है। यहाँ (हिन्दी में) **'**यथा काल**'** ऐसा किया है। अपने दूसरा किया है **'**ते काले**'** इतना। **स** अर्थात् उस। काल में यहाँ हिन्दी में **वह यथाकाल** ऐसे दो शब्द प्रयोग किये हैं, वह अर्थात् अविशिष्ट परिणाम।

यथाकाल संसार दुःख के हेतुभूत... यथा अर्थात् जिस काल में कर्म छूटने का प्रसंग है, उस काल में वह परिणाम **संसार दुःख के हेतुभूत...** (हेतु अर्थात्) निमित्त। संसार दुःख के निमित्तभूत कर्म पुद्गल जो है, उसके **क्षय का कारण होने से...** अविशिष्ट परिणाम अपने शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से हुआ, वह **संसार दुःख का हेतुभूत कर्म पुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।** लो! उसे मोक्ष ही है।

शुभपरिणाम से पुण्यबन्ध होता है तो शुभपरिणाम को पुण्य कहा। मिथ्याश्रद्धा, द्वेष और अशुभराग से पापबन्ध होता है तो उसे पाप कहा। परिणाम को (पाप कहा) और अविशिष्ट परिणाम स्वद्रव्यप्रवृत्त, स्वभाव के आश्रय से परिणाम हुआ, उसे दुःख का निमित्तभूत कर्म के क्षय में हेतुभूत होने से वह मोक्ष करनेवाला है तो उस परिणाम को ही मोक्ष कहने में आया। कहो, समझ में आया ?

आ...हा...! **संसारदुःख के हेतुभूत...** दुःख तो अपनी पर्याय में है, उसका हेतुभूत। **कर्मपुद्गल के क्षय का कारण...** देखो! कर्मपुद्गल क्षय का निमित्त, **होने से संसारदुःख का हेतुभूत...** देखो! **संसारदुःख का हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप... कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है।** भगवान आत्मा अपने से-स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ (तो वह परिणाम) मोक्ष ही है। सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, (वह)

मोक्ष ही है और सम्यक् स्वरूप की लीनता, आनन्द की लीनता चारित्र है तो उसको यहाँ मोक्ष ही कहा। क्योंकि वह परिणाम संसारदुःख का निमित्त कर्मपुद्गल, उसके क्षय में कारण होता है तो मोक्ष, कार्य होता है, तो कारण में कार्य का उपचार करके अविशिष्ट परिणाम को मोक्ष कहने में आया है। लो, तीनों बात हो गई।

(विशेष कहेंगे....)

प्रवचन नं. १८३-G **कार्तिक शुक्ल १, रविवार, १७ नवम्बर १९६३**

'प्रवचनसार' 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार।' भगवान तीर्थंकरदेव वीतराग, जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान भगवान वीतराग परमात्मा को हुआ, फिर जो दिव्यध्वनि-वाणी निकली, उसे प्रवचन कहा जाता है।

यह शास्त्र 'प्रवचनसार' है। 'प्रवचनसार' अर्थात् सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा के मुख से निकला हुआ जो शब्द - वाणी है, उस वाणी को प्रवचन कहते हैं और उस प्रवचन का सार उसमें आचार्यों ने कहा है। 'प्रवचनसार' की १८१ (गाथा) का भावार्थ है। देखो!

भावार्थ - पर के प्रति प्रवर्तमान ऐसा शुभपरिणाम, वह पुण्य का कारण है... यह आया है न? क्या कहते हैं? कि यह आत्मा है, आत्मा! आत्मा है, वह एक समय में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द का पिण्ड - ऐसा स्वभाव आत्मा का है। अपने आत्मा की ओर का लक्ष्य छोड़कर जितना पर के प्रति प्रवर्तमान (होता है अर्थात्) पर की दया का भाव - भक्ति का, पूजा का, व्रत का जो भाव है, वह पर के प्रति प्रवर्तमान है। वह शुभपरिणाम पुण्य का कारण है। समझ में आता है?

भगवान आत्मा! यह आत्मा वस्तु है, वह तो एक सेकण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण शुद्ध चिदानन्द सिद्ध स्वरूप (है)। जैसे सिद्ध भगवान, अरहन्त (भगवान) हुए, वे अपने अन्तर सवभाव में से प्रगट हुए हैं। अन्तर स्वभाव तो सिद्ध स्वरूपी आत्मा पूर्णानन्द पूर्ण शुद्ध है। उसका लक्ष्य छोड़कर जितना परद्रव्य प्रवृत्तिरूप परिणाम होता है, पर के प्रति प्रवर्तमान शुभ परिणाम... समझ में आया? दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, विकल्प, पूजा ये सब पर की ओर का लक्ष्यवाला परिणाम है। उसे भगवान शुभ परिणाम कहते हैं। वह पुण्य

का कारण है। समझ में आया ? वह पुण्य का कारण है। पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं। देखो ! अधिकार यह आया है।

यह ज्ञेय अधिकार है, तो अपना ज्ञेय की ओर का अन्तर शुद्ध स्वभावसन्मुख होना, वह बाद में आएगा, परन्तु अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर, जितनी परद्रव्य की ओर के लक्ष्य से शुभ परिणाम की प्रवृत्ति होती है, उसे भगवान पुण्य कहते हैं। समझ में आया ? उससे पुण्यबन्ध होता है तो शुभ परिणाम को ही पुण्य कहने में आया है।

पर के प्रति प्रवर्तमान.... देखो ! देव-गुरु-शास्त्र, भक्ति, यात्रा, पूजा, ये सब परद्रव्य प्रवृत्ति के परिणाम हैं। उन परिणाम को भगवान त्रिलोकनाथ वीतराग जैन परमेश्वर, शुभपरिणाम, वह पुण्य का कारण है - ऐसा कहते हैं।

और अशुभपरिणाम वह पाप का कारण है;... वह भी वैसे लेना। पर के प्रति प्रवर्तमान अशुभपरिणाम, ऐसे लेना। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, परिग्रह, ये परद्रव्य प्रति की वासना, ये सब अशुभपरिणाम, पाप का कारण है। कहो, समझ में आया ? **इसलिए यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाए...** क्या कहते हैं ? कि अपने द्रव्य को छोड़कर परद्रव्य, परवस्तु अनन्त हैं; उसमें देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष्य करके, दया का लक्ष्य करके, सच बोलने का लक्ष्य करके, भक्ति, पूजा का लक्ष्य करके जो शुभपरिणाम होता है, उसे पुण्य कहा। तो कहते हैं कि यह पुण्य, कार्य है। शुभपरिणाम का कार्य पुण्यबन्ध है। अब उसे ऐसा कहते हैं कि वह शुभपरिणाम स्वयं पुण्य है तो कार्य का कारण में उपचार आया।

शुभपरिणाम, पुण्यबन्ध का कारण है, पुण्य का कारण है परन्तु उस कारण में जो पुण्यबन्ध हुआ, उसको कार्य का कारण में उपचार करें तो यह शुभपरिणाम ही पुण्य है। समझ में आया ? शुभभाव, पुण्यबन्ध का कारण है, (उससे) पुण्य बन्धन होता है। पुण्य बन्धन है, वह कार्य है और शुभभाव, कारण है परन्तु कारण में वह पुण्यबन्ध जो होता है उसका यदि आरोप (-आरोपण) करें तो शुभपरिणाम स्वयं पुण्य है। समझ में आया ?

अशुभपरिणाम, पाप है। अशुभभाव - हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग। करुणा, जगत के दया, दान का परिणाम, वह पुण्य है और यह पाप (परिणाम है) — पैसे कमाना,

प्राप्त करना ये सब भाव क्या होंगे ? पाप हैं। भाई ! पाप भाव हैं ? ये कमानेवाले होशियार कहलाते हैं न ? परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाले पाप भाव हैं। उससे पाप बँधता है। तो पाप बँधता है, वह कार्य है और अशुभपरिणाम, कारण है। तो कारण में, पाप बँधता है उसका आरोप करके कहो तो अशुभपरिणाम स्वयं पाप है।

मुमुक्षु – कमाने में पाप है ?

पूज्य गुरुदेवश्री – कमाने का भाव क्या है ? हीरा–माणिक में वहाँ धर्म करने बैठे थे ?

प्रश्न – बच्चे को पालने का भाव ?

समाधान – बच्चे को पालने का भाव, ममता – पाप है।

प्रश्न – शुभभाव है ?

समाधान – शुभ कहाँ से आया ?

मुमुक्षु – उसको पढ़ा देना...

पूज्य गुरुदेवश्री – पढ़ा देना क्या है ? विषय पोषना है। गृहस्थ का पाप का कर्तव्य है।

परद्रव्य की ओर के लक्ष्य अशुभभाव से (होते हैं)। स्त्री, कुटुम्ब–परिवार, दुश्मन इत्यादि का लक्ष्य करके जो अशुभपरिणाम हुआ, कमाना वह पाप है और उससे पाप का बन्धन होता है। अशुभपरिणाम से पापबन्ध होता है परन्तु बन्ध होता है, वह कार्य है और अशुभपरिणाम कारण है। तो कारण में कार्य का उपचार करें तो अशुभपरिणाम स्वयं पाप है। समझ में आया ?

अब, तीसरा। **स्वात्म द्रव्य में प्रवर्तमान – ऐसा शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है;....** अपना आत्मा शुद्ध चिदानन्द ज्ञाता आनन्दकन्द स्वरूप (है), उसमें अन्तर लक्ष्य करके, अन्तर चैतन्य आनन्दस्वरूप प्रभु आत्मा है, उसका आश्रय करके जो परिणाम होता है, वह परिणाम, मोक्ष का कारण है। समझ में आया ?

स्वात्मद्रव्य में प्रवर्तमान... (अर्थात्) स्व आत्मा भगवान सच्चिदानन्द सिद्ध

स्वरूप प्रभु अपना आत्मा, उस ओर को अन्तरलक्ष्य करके, अपना आत्मा परमानन्द मूर्ति है, उसका अवलम्बन करके – आश्रय करके जो परिणाम होता है, वह परिणाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का परिणाम है और वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का परिणाम... परिणाम समझते हैं ? पर्याय। वह परिणाम – अवस्था अपने शुद्ध द्रव्य के आश्रय से होती है।

शुभ-अशुभपरिणाम, परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं और धर्म के परिणाम अपना शुद्ध आत्मा, शुद्ध चिदानन्दमूर्ति सिद्ध समान स्वरूप अपना अन्दर है, उसका अवलम्बन करने से शुद्ध परिणाम अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र परिणाम अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था, वह शुद्ध आत्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होती है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! हिन्दी आये तो भी वस्तु तो जो है, वह आएगी न ? कभी सुनी न हो, क्या कहते हैं यह ? परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप अन्तर में पूर्णानन्द रखता है, उसके अन्तर अवलम्बन से, अन्तर के आश्रय से, अन्तर के आधार से, अन्तर का लक्ष्य करने से जो अन्दर परिणाम अर्थात् पर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला, स्वद्रव्य के आश्रय से प्रवर्तमान होनेवाला, जो परिणाम अर्थात् पर्याय उत्पन्न होती है, उसको मोक्ष का कारण कहने में आता है। वह मोक्ष का कारण है।

शुभ और अशुभपरिणाम, दोनों बन्ध का कारण है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभपरिणाम, पुण्यबन्ध का कारण है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, कमाना, पाप के बन्ध का कारण है और दोनों परिणाम से रहित अपना शुद्ध चैतन्य प्रभु (है), उसका अन्तर आश्रय करके जो शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध सम्यग्ज्ञान और शुद्ध सम्यक्चारित्र की निर्मलता अन्तर द्रव्य के आश्रय से प्रगट हो, उसको भगवान, मोक्ष का कारणरूप शुद्ध परिणाम कहते हैं। भाई ! आहा...हा... ! समझाय छे कांई ? समझाय छे कांई अर्थात् समझ में आता है ?

स्वात्मद्रव्य में प्रवर्तमान... प्रवर्तमान (अर्थात्) मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, पूर्णानन्द हूँ उसका ध्येय करके, उसका अवलम्बन करके, बाह्य का अवलम्बन लक्ष्य में से छोड़कर, अन्तर शुद्ध चैतन्यप्रभु, उस ओर अन्तर्मुख होकर जो परिणाम अर्थात् पर्याय होती है, उस

पर्याय को, परिणाम को, अवस्था को शुद्ध परिणाम कहने में आता है और उस शुद्ध परिणाम को धर्म कहने में आता है और वह धर्म मोक्ष का कारण है। समझ में आया?

वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा क्या कहते हैं, उसकी खबर भी नहीं और धर्म हो जाये, धर्म हो जाये। कहाँ से धर्म हो जाय? परमात्मा वीतरागदेव जैन परमेश्वर जिसको एक सेकण्ड के असंख्य भाग में तीन काल तीन लोक जानने में आया — ऐसे वीतराग त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने ऐसा फरमाया कि अरे... आत्मा! तेरी प्रवृत्ति अपने द्रव्य को छोड़कर, जितनी परद्रव्य की ओर की प्रवृत्ति में शुभपरिणाम है, वह पुण्यबन्ध का कारण है और परद्रव्य प्रवृत्ति का अशुभपरिणाम है, वह पापबन्ध का कारण है। उसमें कोई धर्म का कारण नहीं। समझ में आया?

धर्म किसे कहते हैं? कि भगवान आत्मा स्व-चैतन्य प्रभु! ज्ञानसूर्य आत्मा अन्दर है। चैतन्यसूर्य! चमकता सूर्य! ज्ञानानन्द से भरा आत्मा, उस ओर अन्तरदृष्टि करके जो परिणाम, स्वद्रव्य प्रवर्तमान हुआ, उस परिणाम को भगवान, धर्म कहते हैं, उस परिणाम को भगवान शुद्ध परिणाम कहते हैं, उस परिणाम को भगवान मोक्ष का कारण कहते हैं।

इसलिए यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाए तो शुद्ध परिणाम, वह मोक्ष है। क्या कहा? कि भगवान आत्मा अपने द्रव्य का जितना लक्ष्य छोड़कर, परद्रव्य की ओर का शुभपरिणाम करे तो उसे पुण्यबन्ध होता है। परद्रव्य प्रवृत्ति में अशुभपरिणाम हो तो पापबन्ध होता है। उस पापबन्ध और पुण्यबन्ध के कारण को, कार्य जो बनता है उसका आरोप करके कहो तो शुभपरिणाम, पुण्य है और अशुभपरिणाम, पाप है। अब, स्वद्रव्य प्रवर्तमान जो धर्मपरिणाम है, अपना भगवान सच्चिदानन्द सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार आत्मा, वीतराग ने जैसा प्रगट किया है, वैसा यह आत्मा है। ऐसे अपने आत्मा की ओर का लक्ष्य करके, आश्रय करके जो प्रवर्तमान विशेष वर्तमान दशा हुई, शुद्ध परिणाम (हुए), सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्ष का कारण है, उसको मोक्ष का कारण (कहा) तो मोक्ष कार्य (हुआ) और यह कारण (हुआ)। कार्य का कारण में उपचार करें तो स्वद्रव्य का प्रवर्तमान शुद्धपरिणाम, मोक्ष ही है। भाई!

प्रश्न – वह परिणाम ही मोक्ष है?

समाधान - वह परिणाम ही मोक्ष है। भाई! समझ में आया या नहीं यह? मुम्बई, धमाल पड़ी (हो), उसमें कहाँ सुनने का? और सुनने का मिले तो वे कहें यह करो, यह करो, पूजा करो, दया करो, यात्रा करो, तुम्हे धर्म हो जायेगा। भगवान कहते हैं, हराम (उसमें) धर्म होवे तो! शुभपरिणाम होगा। दया की गाथा बाद में लेंगे। १८२ (गाथा) समझ में आया?

छह काय की दया का भाव, शुभभाव है। परद्रव्य का लक्ष्य करके हुआ, वह शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है। तो शुभभाव को भगवान, पुण्यबन्ध का कारण कहकर शुभ को पुण्य कहने में आया है और स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, कमाना, दुकान, धन्धा, लोहे के पतरे का धन्धा... कहो, समझ में आया कुछ? उसके लक्ष्य से जो परिणाम प्रवर्तमान हों, लिया-दिया, लिया-दिया, दिया-लिया (जो होता है, वह पापपरिणाम है)। भाई! आपके हीरा-माणिक के (धन्धे में) ऐसा होता होगा न? इतना लिया, इतना दिया। वह सब परिणाम, पाप है। पाप का अशुभपरिणाम है और अशुभपरिणाम, पापबन्ध का कारण है और जो पापबन्ध (का) कार्य हुआ, उस पाप को यहाँ अशुभ में लगा तो अशुभपरिणाम पाप ही है।

शुभपरिणाम, पुण्य है; अशुभपरिणाम, पाप है। क्या है? ये भाई आपके लिये करते हैं न? अब तो सब वही करते हैं।

प्रश्न - तो फिर वे पाप कमाये?

समाधान - पाप ही कमाते हैं। अभी तक क्या कमाया?

भाई! यह सब ये रहे बड़े पैसेवाले! पत्थर में तुमने क्या किया है तुम्हें?

मुमुक्षु - हमने कहाँ किया है?

पूज्य गुरुदेवश्री - कमाने का, कमाने का पापभाव किया था।

मुमुक्षु - वह तो करना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री - करना पड़े नहीं, आता है वह पाप है — ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए; और दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के भाव, परलक्ष्य करके, मैं उसकी दया पालूँ, मैं ऐसा झूठ न बोलूँ, मैं ऐसा करूँ, मैं ऐसे लक्ष्मी दूँ — ऐसा जो दान का परिणाम है, वह

शुभ है और पुण्यबन्ध का कारण है। पुण्यबन्ध का कारण जो पुण्य कह दो तो यह शुभपरिणाम ही पुण्य है और आत्मा पुण्य-पाप के परिणाम से रहित, अपने आत्मद्रव्य का आश्रय करके, शुद्ध ज्ञायकमूर्ति आत्मा परमानन्दमूर्ति मैं हूँ — ऐसा पर का लक्ष्य छोड़कर, (वहाँ से) हटकर, अपनी अन्तर वस्तु पर दृष्टि लगाकर जो परिणाम प्रगट होता है, वह परिणाम, मोक्ष का कारण अथवा धर्म परिणाम है। इस धर्म परिणाम को मोक्ष का कारण कहा और कारण का कार्य मोक्ष है तो कार्य को कारण में उपचार कर दें तो शुद्धपरिणाम, धर्मपरिणाम आत्मद्रव्य के आश्रय से हुआ, वह सम्यग्दर्शन, मोक्ष है - ऐसा कहा, भाई!

सम्यग्दर्शन - मोक्ष के कारण को मोक्ष कहा! सम्यग्ज्ञान अपने आत्मा के अवलम्बन से हुआ, वह मोक्ष का कारण (होने से) सम्यग्ज्ञान को मोक्ष कहा और स्वरूप अन्दर आनन्दमूर्ति प्रभु में लीन होना, आनन्द की लीनता (होनी), वीतरागता - अरागता का परिणाम चारित्र (है), वह चारित्र, मोक्ष का कारण (है)। यहाँ कहते हैं कि इस चारित्र को ही हम मोक्ष कहते हैं। तीनों को मोक्ष कहते हैं। समझ में आया?

यह 'प्रवचनसार' है। भगवान की वाणी में निकला सार, उसका यहाँ संदोहन करके मक्खन करके निकाला है। मक्खन निकालते हैं न? क्या कहते हैं? मट्ठा! मट्ठे में से मक्खन निकालते हैं। भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा विराजमान थे। अनन्त तीर्थंकर हुए, (उसमें) 'महावीर' भगवान अन्तिम (तीर्थंकर हुए)। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' उनके शासन में थे।'सीमन्धर' भगवान वर्तमान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। तीर्थंकर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी णमो अरहन्ताणं पद में विराजमान हैं और चौबीस तीर्थंकर तो णमो सिद्धाणं में हो गये, सिद्ध हो गये, सिद्ध! वे अभी शरीर नहीं है, सिद्ध (हैं)।

ये अनन्त तीर्थंकरों की वाणी में ऐसा आया कि तेरा आत्मा वस्तु शुद्ध (है), उसके अवलम्बन से जो परिणाम होता है, उसको हम धर्म कहते हैं, उसको मोक्ष का कारण कहते हैं और उसी को हम मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष का कारण यथाकाल (अर्थात्) क्या? कि जब आत्मा अपने स्वद्रव्य की लब्धि का काल, शुद्ध परिणमन का काल है, (वह) उसका यथाकाल है। हिन्दी में यथाकाल

लिखा है। कल (टीका में) आया था – यथाकाल। **वह यथाकाल संसारदुःख के हेतुभूत** ऐसा लिया है। **स** शब्द पड़ा है न ? **स काले** वह अर्थात् परिणाम, उसके काल में।

आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप परमानन्द मूर्ति है, उसका अन्तर अवलम्बन करके यथाकाल जो शुद्धपरिणाम उत्पन्न होता है,... शुद्धपरिणाम ! शुभ और अशुभ दो परिणाम — पुण्य-पाप अशुद्ध है। अशुद्ध (परिणाम) बन्ध का कारण है और शुभाशुभपरिणाम से रहित अपना द्रव्यस्वरूप चिदानन्द प्रभु के अवलम्बन से जितना शुद्धपरिणाम प्रगट हुआ, उसको भगवान, मोक्ष का कारण कहकर, उसको ही मोक्ष कह दिया है। कहो, समझ में आया कुछ ? भाई ! समझ में आया ? पुस्तक है या नहीं ?

इसलिए यदि कारण में कार्य का उपचार किया जाये तो शुद्धपरिणाम, वह मोक्ष है। शुद्धपरिणाम, मोक्ष है। अन्तिम शब्द है। आत्मा अन्तर द्रव्य – वस्तु शुद्ध चैतन्यशक्ति पड़ी है, अन्दर सूर्य (है) – स्वभाव का सूर्य (है)। आत्मा स्वभाव का सूर्य (है)। अपना निजात्मा शान्ति आनन्द ज्ञायक आदि गुण का सूर्य प्रभु आत्मा (है), उसके अन्तर में घुसकर — दृष्टि लगाकर, एकाकार होकर जो परिणाम निर्मल पवित्र हुआ, उसको यहाँ भगवान कहते हैं कि हम उसी को मोक्ष कहते हैं। समझ में आया ? यह तो हिन्दी है, आपको समझ में आये ऐसी (है)। यहाँ तो एक महीने में लड़के गुजराती सीख लेते हैं। देखो, हमारे यहाँ बोर्डिंग में बहुत लड़के हैं। गुजराती सीख लेते हैं। कहो, समझ में आया ? १८१ गाथा (पूरी) हुई। तीन (परिणाम की) व्याख्या की। अब, १८२ गाथा।

गाथा - १८२

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति -

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो।। १८२।।

भणिताः पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसाः।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः।। १८२।।

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रवस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः। अत्र षड्जीवनिकाया आत्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम्।।१८२।।

एवं द्रव्यबंधकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबंध एव निश्चयेन बंध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलं गतम्। अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्य-निवृत्तिनिमित्तं षड्जीवनिकायैः सह भेदविज्ञानं दर्शयति - **भणिदा पुढविप्पमुहा** भणिताः परमागमे कथिताः पृथिवीप्रमुखाः। ते के। **जीवणिकाया** जीवसमूहाः। **अध** अथ। कथंभूताः। **थावरा य तसा** स्थावराश्च त्रसाः। ते च किंविशिष्टाः। **अण्णा ते** अन्ये भिन्नास्ते। कस्मात्। **जीवादो** शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात्। **जीवो वि य तेहिंदो अण्णो** जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति। तथाहि- टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जितं त्रसस्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकायाः शुद्धचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नाः। जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति। अत्रैवं भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीवः स्वद्रव्ये प्रवृत्तिं परद्रव्ये निवृत्तिं च करोतीति भावार्थः।।१८२।।

अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्व-पर का विभाग बतलाते हैं -

थावर अरु त्रस पृथ्वी आदिक, कहे जीव-निकाय हैं।
वे जीव से हैं अन्य अरु, जीव भी उनसे अन्य है॥

अन्वयार्थ - **[अथ]** अब **[स्थावराः च त्रसाः]** स्थावर और त्रस ऐसे जो **[पृथिवीप्रमुखाः]** पृथ्वी आदि, **[जीव निकायाः]** जीवनिकाय **[भणिताः]** कहे गये हैं, **[ते]** वे **[जीवात् अन्ये]** जीव से अन्य हैं, **[च]** और **[जीवः अपि]** जीव भी **[तेभ्यः अन्यः]** उनसे अन्य है।

टीका - जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं, और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है। यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय, आत्मा को परद्रव्य है; आत्मा एक ही स्वद्रव्य है॥ १८२॥

प्रवचन नं. १८३-G का शेष **कार्तिक शुक्ल १, रविवार, १७ नवम्बर १९६३**

अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिए स्व-पर का विभाग बतलाते हैं - दया की व्याख्यान में मुख्यता की। छह काय है न? छह काय - एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस - ये छह काय के जीव। (इनमें) जो शरीर है, वह जीव नहीं। यह छह काय की बात यहाँ सिद्ध करनी है, देखो!

अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिए स्व-पर का विभाग बतलाते हैं - १८२ गाथा।

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो।। १८२।।

उसमें हरिगीत होगा। इसमें हरिगीत नहीं। उसकी टीका।

जो यह पृथ्वी इत्यादि षट जीवनिकाय त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं,.... क्या कहते हैं? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और

त्रणकाय – छह काय। पृथ्वी के जीव हैं न ? पृथ्वी... पृथ्वी ! खान में से निकलता है न ? यहाँ जीथरी में से पत्थर (निकलते हैं) यह पोरबन्दरीय पत्थर खान में से निकलते हैं न ? उसमें एक-एक पत्थर की कणी में असंख्य एकेन्द्रिय जीव है। (बाहर) दिखता है, वह शरीर है। पृथ्वी शरीर है और शरीर में पृथ्वीकाय आत्मा भिन्न है। जीव भिन्न है, शरीर भिन्न है।

ऐसे अपकाय – पानी। पानी का एक बिन्दु दिखता है, वह शरीर है। उसमें असंख्य जीव भिन्न है। वैसे अग्नि दिखती है, अग्नि ! अग्नि कहते हैं न ? दिखता है, (वह) शरीर (है), अन्दर असंख्य जीव भिन्न हैं। वायु (में) असंख्य जीव हैं। शरीर भिन्न है, जीव भिन्न है। ये वनस्पति, हरितकाय देखते हैं न ? गलका, तूरियाँ, लौकी के छोटे टुकड़े में असंख्य जीव हैं। दिखता है शरीर, अन्दर जीव भिन्न है।

त्रस – दोन्द्रिय, त्रणेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। दोइन्द्रिय अर्थात् यह लट आदि, तीन इन्द्रिय कीड़ी-मकोड़ा, चौइन्द्रिय मक्खी आदि पंचेन्द्रिय नारकी, मनुष्य, देव अर्थात् पशु।

यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय... पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पति और त्रस – ये छह हुए। यह जीवनिकाय (अर्थात्) जीवों का समूह। यह त्रस-स्थावर के भेद। स्थावर के पाँच और त्रस का एक। उसे **भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं....** शरीर अचेतन है। जीव स्वभाव से उस छह काय का शरीर भिन्न है। समझ में आया ? यह शरीर त्रस काय है। आत्मा भिन्न है। आत्मा, त्रस शरीर नहीं है। यहाँ तो शरीर को त्रसकाय कहते हैं।

वैसे वनस्पति। शरीर है, वह तो जड़ है, ऊपर का शरीर अचेतन है। गलका, तोरई, लौकी (आदि में) जो ऊपर की सब्जी दिखती है, वह ऊपर की (दिखती है) वह तो शरीर अचेतन है। अन्दर जीव भिन्न है। दोनों चीज भिन्न ही भिन्न हैं। भाई ! समझ में आया ?

वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं,... छह काय के शरीर भी जीव से अन्य है, भाई ! छहकाय की दया पालना, छहकाय की दया पालना, इसके लिए बात करते हैं। किसकी दया पालना ? कहते हैं, वह तो शरीर है, जड़ है। परद्रव्य में तेरा भाव होता है कि मैं उसकी दया पालूँ, वह भाव पुण्य है, शुभ है; धर्म नहीं परन्तु उस छहकाय

में जो शरीर दिखता है, वह तो अचेतन है और उसमें चैतन्य तो भिन्न अरूपी है। रूपी और अरूपी दो चीज ही भिन्न हैं। छहकाय का शरीर अजीव है और उसका जीव है, वह जीव है। जीव और अजीव दो भिन्न चीज हैं।

(पर जीव की दया) कौन पाले ? यह शरीर तो अजीव है, अन्दर जीव है, उसे मार सकता नहीं, अजीव को मार (सकता नहीं तो) किसे मारना ? किसे जिलाना ? वह जीव है तो अन्दर त्रिकाल ध्रुव है। शरीर का परमाणु पलटता है, वह काय जड़ है। तेरा भाव उस समय हुआ कि मैं उसे (बचाऊँ)। छहकाय का शरीर है, उसका लक्ष्य करके तुम कहते (हो) तो वह तो जड़ है। अन्दर में जीव है, वह तो अरूपी है। उसकी दया पालने का तेरा भाव हो तो वह शुभभाव है। समझ में आया ? परन्तु वह जड़ है और चैतन्य भिन्न है — ऐसा भान करना तो अपना आत्मा भी शरीर (से) भिन्न है, अपना आत्मा भिन्न है। दोनों में अत्यन्त अभाव है। आत्मा शरीररूप होता नहीं; शरीर आत्मारूप होता नहीं।

पृथ्वी का एकेन्द्रिय जीव है, वह पृथ्वी-शरीररूप होता नहीं; वह पृथ्वी-शरीर जीवरूप होता नहीं। बराबर है ? छहकाय का जीव है, वह छहकाय के शरीररूप होता नहीं और छहकाय का शरीर है, वह छहकाय के जीवरूप होता नहीं।

मुमुक्षु - तो दया कभी नहीं पालना।

पूज्य गुरुदेवश्री - किसकी पालना ? वह तो तेरा लक्ष्य जाता है - ऐसा कहते हैं। 'जड़ ने चैतन्य बन्ने, प्रगट स्वभाव भिन्न' 'जड़ ने चैतन्य बन्ने, प्रगट स्वभाव भिन्न' उस छहकाय में छहकाय का शरीर तो जड़ है। अन्दर जीव (है), वह चेतन है, अरूपी भिन्न है; दोनों कभी एक होते नहीं। छहकाय की दया पालें, छहकाय की दया पालें, किसकी (दया) पालें ? तुझे कुछ भान है ? छहकाय अर्थात् अजीव या छहकाय अर्थात् जीव ? - उसका तुझे कुछ पता है। तुझे तो पता नहीं है कि छहकाय जीव किसे कहते हैं ?

मुमुक्षु - दुःख न हो....

पूज्य गुरुदेवश्री - दुःख न हो अर्थात् क्या ? कि भाव में ऐसा है कि अन्दर यह एक जीव है, शरीर का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो उसे दुःख न हो - ऐसा परिणाम (होता है लेकिन) दुःख न कर सके - ऐसी ताकत है नहीं। पर को दुःख न (दे) सके,

सुख (दे) सके – ऐसी ताकत तीन काल में आत्मा में है नहीं। वह परद्रव्य है, उसका वचना उसके आयुष्य के आधीन है, मरना उसके आयुष्य आधीन है। आत्मा से वह बचा सकता है या आत्मा उसे मार सकता है (– ऐसा) तीन काल तीन लोक में हो सकता नहीं। समझ में आया कुछ?

मुमुक्षु – मत मारो... मत मारो... आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यह मत मारो तुझे यहाँ है। दूसरे को कौन मारे? ठीक कहते हैं यह। पहले व्याख्यान (चालू हो उससे) पहले बोलते हैं न, मत मारो... मत मारो... ऐसा आता है परन्तु कौन मार सकता है? सुन न! इस बात के लिए यह यहाँ कहा है।

यहाँ ज्ञेयतत्त्व अधिकार है। शरीर है, वह अजीव-ज्ञेय है और जीव है, वह चैतन्य ज्ञेय है। दोनों ज्ञेय भिन्न हैं। समझ में आया? व्यवहार सम्बन्ध से तेरा लक्ष्य होता है कि यह जीव है, (मैं) उसे न मारूँ (–ऐसा) शुभभाव होता है परन्तु विभाग कर दे कि शरीर है, वह आत्मा नहीं और आत्मा है, वह शरीर नहीं। ऐसे यह शरीर (है) वह आत्मा नहीं और आत्मा (है) वह शरीर नहीं। मनुष्य-आत्मा! (तो कहते हैं) नहीं, आत्मा भिन्न है, यह जड़ मनुष्य-शरीर भिन्न है। अत्यन्त भिन्न-भिन्न चीज है। यह तो मिट्टी है। यह तो मिट्टी पुद्गल का मनुष्यपना कहने में आता है (वह) जड़ (है), भगवान अन्दर अरूपी चैतन्य भिन्न है। दोनों का कभी मिलान होता है नहीं। भिन्न ही भिन्न है।

छहकाय में आया कि छहकाय तो शरीर है। छहकाय (कहा वह तो) उसका शरीर है। काय अर्थात् भले जीव का समूह (है) परन्तु वह तो शरीर है। तुम पृथ्वी को देखते हो तो शरीर दिखता है, आत्मा तो अन्दर भिन्न अरूपी है। पानी को देखते हो तो पानी तो शरीर है, ऊपर ठण्डा आदि लगता है, वह तो शरीर है। अन्दर में जीव तो अरूपी भिन्न है। अग्नि-शरीर दिखता है, उसमें जीव भिन्न है। वैसे वनस्पति-शरीर दिखता है, उसमें शरीर भिन्न (और) चैतन्य भिन्न है। वैसे जो त्रस दिखने में आता है, उस त्रस का शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है। जीव और अजीव दोनों चीज भिन्न है। समझ में आया?

यह शरीर है, सो मैं हूँ, लो! एक बार वांकिया में व्याख्यान था वांकिया... वांकिया! व्याख्यान हुआ... दोपहर में लोग तो सब आते, काठी-वाठी सब लोग (आते) मैंने कहा,

देखो ! शरीर, वह जीव नहीं; जीव अन्दर अलग है। जीव और शरीर अत्यन्त (भिन्न है) दोपहर को व्याख्यान (हुआ था फिर) रात्रि को आये (और) कहा कि महाराज ! तुम जीव को आत्मा नहीं कहते, यह हमें जँचता नहीं। लो, यह प्रश्न (आया)... 'जीव को आत्मा नहीं कहते !' मैंने कहा – तुमने यह क्या सुना ? कि जीव को तुम आत्मा नहीं कहते तो जीव अलग होगा ? परन्तु क्या कहा दोपहर में, तुमने सुना ? यह शरीर अजीव है, जीव नहीं। यह तो मिट्टी है, इसमें जीव अलग है – ऐसा कहा था। यह शरीर और जीव और आत्मा अलग – इसमें किसने कहा था ? ऐसा मालूम नहीं... बस ! शरीर जीव है और आत्मा भिन्न है अरे... शरीर अजीव है और आत्मा भिन्न है। वहाँ वांकिया में (संवत्) २००० की साल में यह प्रश्न हुआ था। समझ में आया ? जैन के वाड़े में जन्मे, सम्प्रदाय में सामायिक-प्रौषध करते हों (परन्तु) कुछ पता नहीं।

मुमुक्षु – प्रौषध करने का पता पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – प्रौषध क्या धूल, प्रौषध कहाँ से आया ? अभी सम्यग्दर्शन का पता नहीं और प्रौषध कहाँ से आया ? अभी दाना ही नहीं, वहाँ पानी में डालकर पौधा कहाँ से करना ? पौधा समझे न ? पौधा होता है न दाना होता है न दाना ! चना हो और पानी में –जल में डाले (तो वह) पुष्ट होता है। कंकर डाले तो ? वैसे ही प्रौषध अर्थात् पोषण करना परन्तु किसका ? मैं आत्मा आनन्दकन्द हूँ, मैं राग से रहित हूँ, देह से रहित हूँ – ऐसी दृष्टि हुई हो बाद में पुरुषार्थ के प्रयत्न से अन्दर में एकाकार हो तो आत्मा की प्रौषधदशा होती है, यह रोटियाँ नहीं खायी और प्रौषध हो गया (ऐसा मानते हैं वह) भ्रम है। यह तो वीतरागमार्ग है, भाई ! यह कोई कायर का-रंक का मार्ग नहीं। जिसे इन्द्र मानते हैं, नरेन्द्र मानते हैं, चक्रवर्ती मानते हैं, गणधर जिसे स्वीकार करते हैं। समझ में आया ? अनन्त-अनन्त सन्तों ने जिसका मार्ग स्वीकार किया, (वह) महापुरुषार्थ (का) मार्ग है।

ऐसा अपना आत्मा... अपना आत्मा, शरीर से भिन्न है; दूसरे का शरीर वह जीव नहीं दोनों भिन्न हैं।

प्रश्न – इसका जीव भी इससे भिन्न ?

समाधान – इससे भिन्न है। यही कहा, दोनों के शरीर से दोनों भिन्न। तू तेरे शरीर

से (भिन्न), वह उसके शरीर से (भिन्न है) यह नाम रखे बिना-यह मीठालालजी हैं — ऐसा नाम रखे बिना शरीर की पहचान किस प्रकार करना? वह तो कहते हैं कि शरीर से, संज्ञा से पहचानना, वह वास्तविक है नहीं। अन्तर आत्मा ज्ञानलक्षण से पहचानना, वह आत्मा है। जड़ या अचेतन लक्षण से जड़ को पहचानना, वह जड़ है; दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। दो (चीज) तीन काल में एक होती नहीं। समझ में आया?

प्रश्न - तो दुःख किसलिए लगता है?

समाधान - दुःख भ्रम का लगता है। दुःख किसका लगता है? (यह भाई) सबेरे आये थे, (कहते थे कि) आप जीव को चैतन्यरत्न कहते हो परन्तु अकेला दुःख का पिण्ड लगता है। माना है, ऐसा कहते हैं। ऐ...ई...!

मुमुक्षु - अनुकूल संयोग है न।

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ, ऐसा है। अब आज आया, परन्तु अनुकूल-प्रतिकूल कहना किसे? किसको कहते हैं? किसी को विष्टा का ढेर अधिक और किसी को कम, उसमें अनुकूल कहना किसे? भाई! यह अन्दर में था, वह आया, हाँ! ऐसा कि इन्हें तो अनुकूल है, इसलिए यह सब बोलते हैं और हमारे यहाँ प्रतिकूल है। अनुकूल-प्रतिकूल है कहाँ? किसी को अनुकूल-प्रतिकूल है नहीं। परद्रव्य की संयोगता, वह अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं। सब ज्ञान का ज्ञेय है। जाननेयोग्य ज्ञेय है। उसे अनुकूल-प्रतिकूल की कल्पना करना मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है। ऐ...ई... भाई! सारा जगत ज्ञान का ज्ञेय है, ज्ञान में जानने योग्य है, बस! आत्मा जाननेवाला (है और) सारा जगत ज्ञेय-जानने योग्य है। जानने योग्य एक प्रकार में दो भाग करना कि यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल (है वह) दृष्टि मिथ्या भ्रम में गयी है। भाई! समझ में आया? यह कहे हर रोज लकड़ियाँ मारो! यह लकड़ियों से बड़े (डण्डे हैं)।

मुमुक्षु - डण्डा खाता है तो भी मानता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री - अरे...! किसे कहना?

यह जगत, जड़, शरीर आदि परवस्तु या परमात्मा, वे सब, अपना ज्ञान आत्मा है उसका ज्ञेय है, जाननेयोग्य है। वहाँ छाप लगी है कि यह अनुकूल है और यह प्रतिकूल

है ? मिथ्यादृष्टि को मिथ्याभाव से, झूठे भाव से यह अनुकूल और प्रतिकूल — ऐसी छाप अपनी श्रद्धा से लगायी है; वस्तु में अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं।

भाई ! कौन जाने ? यह तुम्हारे पैसे वाले को सब ऐसा कहते हैं - यह सब अनुकूल हैं; छह-छह लड़के हैं। लो, (इस भाई को) छह लड़के हैं और पैसे, बड़ी आमदनी, बड़ी दुकान !

मुमुक्षु - तो भी कहीं निवृत्त तो होते नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री - अब निवृत्त होते हैं थोड़े-थोड़े !

कहो, समझ में आया ? भाई (इन भाई को) फिर दो लड़के हैं। दो हैं न ? तीन ? लो, तीन हैं। (उनमें) एक बड़ा है, तब इतनी निवृत्ति ली है, हाँ ! समझ में आया ?

मुमुक्षु - तार पर तार आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री - वे तो आवें न ! यहाँ बैठे हैं परन्तु ख्याल तो रखना चाहिए न ? न सम्हाले तो भी यहाँ बैठे कहाँ कोई सम्हाल सकता है ? जगत की चीजें जगत् के कारण, अपने कारण से परिणमन कर रही है, वह दूसरे का साथ लेकर परिणमित है - ऐसा है नहीं। सब चीज अपने समय-समय में अपनी पर्याय के काल में परिणमित हो रही है। कोई दूसरे का सहारा हो तो परिणमे — ऐसा वस्तु के स्वभाव में है नहीं। किसका करना ? किससे लेना ? किसका बनाना ? किसका छोड़ना ? भाई ! ठीक होगा यह ? दुकान की पैड़ी पर बैठे तो ठीक से सम्हले, नहीं तो नहीं सम्हले - ऐसा होगा ? भगवान इनकार करते हैं।

भगवान त्रिलोकनाथ वीतराग जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वकाल में अपनी पर्याय से परिणमित हो रहा है। तेरे कारण से कुछ फेरफार होता है (-ऐसा) तीन काल में नहीं। आहा...हा... ! पता नहीं, पता नहीं। सम्प्रदाय में पड़े, सुनने में आवे तो इसे रुचि में बैठे नहीं। कैसे होगा ? भाई ! तुम्हारे लिए सब ऐसा कहते हैं कि लड़का अच्छा और पैसा कमावे; इसलिए तुम्हें अनुकूलता (होवे), इसलिए तुम बोलते हो कि हमारे कोई दु:ख नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! भ्रमणा ने घर डाला है ! भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... जगत किसे कहना ? अनुकूलता किसे कहना ? समझ में आया ? किसे कहना सहारा ? और किसे कहना दुश्मनवाला ? इसका यह मित्र

और इसका यह दुश्मन है ? जगत में मित्र-दुश्मन कोई है ही नहीं। समझ में आया ? जगत् में कोई प्रिय (कर) और अप्रियकर है ही नहीं।

भगवान कहते हैं कि तुम तो आत्मा प्रभु ज्ञान है न! वह जगत की चीज है, वह अपने कारण से होती है। तुम जाननेयोग्य हो (तो) जानो परन्तु हमारे से यह हुआ और उससे मेरे में हुआ... भगवान कहते हैं कि ऐसा वस्तु में तो है नहीं और तुम मानते हो वह तेरी पाप की भ्रमणा डालकर मानते हो। समझ में आया ?

यहाँ तो यह कहते हैं, अचेतन वह शरीर। छहकाय या जीव का शरीर तो अचेतन है। क्या है ? उस चेतन-अचेतन के सम्बन्ध को जीव (मानना), वह तो व्यवहार हुआ। समझ में आया ? लो, कैसा दृष्टान्त दिया, देखो न! पृथ्वी आदि जीवनिकाय, त्रस-स्थावर के भेद, लो! अरे... भगवान क्या करे ? व्यवहार है इतना, परन्तु है यह बात अनादिकाल की है, क्या हो ? जीवित, शरीर से धर्म हो, जीवित शरीर से - धर्म हो....

मुमुक्षु - यहाँ यह आया।

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ, यही यहाँ आया। वे तो यही कहते हैं, वहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार में यही रखा है। छह काय की दया, छह काय का हम करते हैं, ईश्वर जगत् का कर्ता है — ऐसा कोई मान ले और जैन में रहकर साधु या त्यागी होकर या श्रावक नाम धारकर — ऐसा माने (कि) हम छहकाय के शरीर की रक्षा कर सकते हैं, तो दोनों मिथ्यादृष्टि एक वर्ग के हैं। समझ में आया ? कोई ईश्वर जगत का कर्ता है ही नहीं। वस्तु स्वयंसिद्ध त्रिकाल है। फिर भी कोई कहे कि ईश्वर जगत का कर्ता है, ऐसी विपरीत दृष्टि - मान्यता; ऐसे ही जैन में रहा हुआ श्रावक या साधु नाम धारणकर कि हम छह काय की काया की रक्षा कर सकते हैं, शरीर की सम्भाल कर सकते हैं, पर के शरीर की सम्भाल कर सकते हैं, छहकाय के जीव के शरीर की रक्षा कर सकते हैं और हमने उत्पन्न किया और हम उसे नाश कर सकते हैं — तो कहते हैं कि जैसा अज्ञानी ईश्वरकर्ता मानते हैं, (ऐसे ही यह) छह काय के शरीर का कर्ता मानता है। दोनों मिथ्यादृष्टि के एक वर्ग में पड़े हैं। समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि - झूठी दृष्टि - पापदृष्टि - लोकदृष्टि - पाखण्डदृष्टि - असत्दृष्टि। समझ में आया ? भाई !

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पुकार करके सर्वविशुद्ध अधिकार में कहा, वही यहाँ कहा — शरीर की रक्षा तुम कर सकते हो, शरीर जड़ है। उसकी रक्षा क्या करे? और आत्मा की रक्षा? आत्मा अपने से जीवित रहता है। उसकी रक्षा तुझे करनी है? समझ में आया? ज्ञान तू है, वह जीव है और शरीर अजीव है। तेरे ज्ञान में वे दोनों ज्ञेय हैं। यह अजीवरूप ज्ञेय, यह जीवरूप ज्ञेय परन्तु संयोग से मैं जीव मान लूँ और और उसकी दया पालूँ, ऐसी वस्तुस्थिति है नहीं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

भाई! यह तो व्यवहार है न? और संयोग में उसका लक्ष्य जाता है तो ऐसा शुभभाव होता है कि इसे न मारूँ और इसे मारूँ तो इसका अर्थ-उन दो के सम्बन्धवाला लक्ष्य जाता है, इसलिए व्यवहार वहाँ सिद्ध होता है। जीव का और जड़ का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध – व्यवहार सिद्ध होता है। समझ में आया? इससे इसे मार डालने का भाव होता है, वह पाप है, बचाने का भाव वह पुण्य है। कुछ समझ में आया इसमें?

कहो, इसमें लड़के का रक्षण कर नहीं सकता – ऐसा आया, भाई! तो क्या करना इसमें? स्त्री, पुत्र का रक्षण कर सकता हूँ — ऐसा माननेवाला, भगवान कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है। वह परद्रव्य है, उसकी पर्याय होना उसके आधीन है; तेरे आधीन है नहीं। पर के लिए आत्मा पूरा पंगु है; अपने लिए पूरा शूरवीर और वीर है। अपने आत्मा का बिगाड़ना और सुधारना, (उसमें) पूरा शूरवीर है और पर का बिगाड़ना और सुधारना अपने अधिकार की बात है नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि **पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रस-स्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं,....** भेदपूर्वक है न? बहुत हैं, ऐसा। **वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य हैं....** शरीर तो जीव से अन्य है। छहकाय का शरीर, जीव से अन्य है। **और जीव भी चेतनत्व के कारण उससे अन्य है....** लो! वे अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य है और जीव, चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है। जीव तो चेतनत्व है। जानना-देखना स्वभाव है, उसे जीव कहते हैं। यह शरीर तो धूल है, यह कहाँ जानने-देखनेवाला है? यह तो मिट्टी है, अचेतन है। उस अचेतन को आत्मा कहना? आत्मा अन्दर चैतन्यत्व है, देखो! राग-द्वेष को भी आत्मा नहीं कहा। अन्दर राग-द्वेष होते हैं, वे आत्मा नहीं; वे आस्रवतत्त्व हैं और

यह अजीवतत्त्व जड़तत्त्व है। आहा...हा...! जैन परमेश्वर क्या कहते हैं (-उसकी) खबर नहीं। जैन में नाम (मात्र) जन्म लिया। भगवान जाने! और इसे मानी हुई (बात से) दूसरी बात आवे तो इसे ऐसा लगता है कि यह जैन का कहना है? अपने भगवान का कहना है? यह भगवान कहते हैं। कौन कहते हैं? सुन तो सही!

छह काय का शरीर जड़ है और अन्दर उसका चैतन्य पड़ा है, वह चैतन्य जीव है। शरीर, जीव नहीं और जीव, शरीर नहीं। **जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य हैं। यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय आत्मा को परद्रव्य है,....** देखो! षट् जीवनिकाय आत्मा को परद्रव्य है। काय (अर्थात्) शरीर। छह जीवनिकाय, आत्मा को परद्रव्य है। **आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।** कहो, कुछ समझ में आया?

वह छहकाय का जीव है, वह भी इस आत्मा से परद्रव्य है और शरीर भी तेरे से परद्रव्य है — ऐसे दोनों (परद्रव्य हैं)। शरीर भी परद्रव्य है (और) दूसरे का आत्मा भी तेरे से परद्रव्य है और उसका शरीर भी तेरे से परद्रव्य (है)। उसका शरीर से जीव भिन्न है, तो परद्रव्य में तेरा जितना लक्ष्य जाये (और) दया आदि का (भाव) हो तो उतना शुभभाव हो; मारने का हो तो पाप (भाव है)। परद्रव्यप्रवृत्ति का परिणाम, बन्ध का कारण है, यह सिद्ध करते हैं न?

छहकाय के जीव का लक्ष्य करके दया का परिणाम हो, वह शुभ पुण्य है; उसको मारने का भाव हो, (वह) पाप है। पुण्य-पाप दोनों बन्ध का कारण है क्योंकि परद्रव्य प्रवृत्ति है। जीव को **षट् जीवनिकाय आत्मा को परद्रव्य है, आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।** छहकाय के जीव का आत्मा भी तेरे से परद्रव्य है और वह शरीर भी तेरे से परद्रव्य (है)। तेरे लिए एक आत्मा स्वद्रव्य है। शरीर नहीं, पुण्य-पाप नहीं, राग-द्वेष नहीं, कर्म नहीं; अकेला आत्मा ज्ञायक चैतन्य तेरा स्वद्रव्य है। उसमें भले पर्याय, विकार आ जाये। समझे?

आत्मा एक ही स्वद्रव्य है। यह ज्ञेय का विभाग बताया। परज्ञेय-आत्मा और परज्ञेय-जड़, उससे स्वज्ञेय आत्मा भिन्न (है)। परज्ञेय से तुझे कोई सम्बन्ध है नहीं। परन्तु कहाँ से यह लप गिर गयी तब? ऐसा कहते हैं भाई! वे ऐसा पूछते थे (कि) यह लप कहाँ

से गिर गई ? अनादि की दृष्टि बाह्य है। मानी हुई बात है न ? लप तो इसी इसी ने की है, कोई किसी ने की नहीं है। समझ में आया ?

पैसेवाले को कहे कि हमारे जैसे पैसे हों तो तुम्हें पता पड़े। कितनी प्रवृत्ति हमें करनी पड़ती है, हम निवृत्त नहीं होते, ऐसा। तब यह कहे कि हमारे जैसी प्रतिकूलता हो तो तुम्हे पता पड़े कि ऐसी चिन्ता हुए बिना रहे नहीं।

बहुत वर्ष पहले १९९४ में एक पैसेवाले थे बहुत पैसा, ५०-६० लाख उस समय थे, अब तो नौ-दस करोड़ (हो गये)। यहाँ १९९४ में आये थे, तब ६० लाख थे (मैंने) कहा, कुछ करते हो ? तो कहा महाराज! हमारे स्थान में होवे तो दूसरे को पता पड़े ? ओहो... ! यह तो पावर चढ़ गया है ! इतना पैसा है, उसकी प्रवृत्ति में हमें निवृत्ति नहीं मिलती ऐसे स्थान में दूसरा होवे तो इतनी भी निवृत्ति नहीं ले सकता ऐसा (उनका कहना था)। फिर कहा - क्या कहते हो यह ? पैसे के कारण हमारी प्रवृत्ति और हमें निवृत्ति नहीं मिलती - क्या कहते हो यह ? और ऐसी प्रवृत्ति में पड़ा हो, उसे निवृत्ति नहीं मिल सकती - क्या कहते हो ? इतना अभिमान ! फिर तो उसे सुनना पड़ा, सुने। यहाँ पैसेवाला हो या न पैसेवाला हो, हमारे क्या है ? ऐसा वह कहे कि अनुकूलता में हमें निवृत्ति नहीं मिलती, यह कहे प्रतिकूलता में हमें निवृत्ति नहीं मिलती; दोनों एक प्रकार के भ्रमवाले हैं भाई ! दोनों दुःखी हैं। हैरान... हैरान... (होते हैं)।

मुमुक्षु - एक को दुःखी और एक सुखी....

पूज्य गुरुदेवश्री - धूल में भी सुखी नहीं, उस समय तो बहुत कहा था परन्तु सुना बराबर। अकेला था। क्या है यह ? इतने पैसे साठ लाख की धूल-पूँजी, उसमें इतना अधिक ! तुम्हें प्रवृत्ति में समय मिलता नहीं। ऐसी प्रवृत्ति में कोई दूसरा व्यक्ति हो तो निवृत्ति इतनी भी ले नहीं सकता - क्या है यह ? मरने के समय शारीरिक बल टूटेगा और पड़ा रहेगा अन्दर ! खाट में, कोई नहीं चलता। समझ में आया कुछ ? यहाँ हमारे कहाँ पैसे का चन्दा कराना है कि इस सेठ को खराब लगेगा ? क्या कहते हो यह तुम ? यह पैसे की खाट... खाट की ममता, ऐसा बुलाती है कि हमारे स्थान में होवे तो (इतनी भी) निवृत्ति नहीं (ले सकता) अब साठ लाख की पूँजी हो, उसमें क्या हो गया ? धूल में... सब

अरबोंपति राजा थे, एक-एक दिन की अरब रुपयों की आमदनी... चक्रवर्ती महाराजा-भरत चक्रवर्ती, रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष बड़े राज्य के मालिक, बड़े बाघ-सिंह जैसे, निवृत्ति लेकर आत्मा का विचार, ध्यान करते थे। भरत चक्रवर्ती जैसे, रामचन्द्रजी जैसे, आत्मध्यान करते थे। यह क्या है परन्तु ? यह चीज उसके घर रही, राज राज के घर, स्त्री, स्त्री के घर, हम हमारे घर में हैं। समझ में आया ? जरा राग आवे, लक्ष्य जाये, इतना जाने कि यह पाप का भाव है, हमें बन्धन है परन्तु हमारी दृष्टि बन्धन और राग पर नहीं है। हम चैतन्य निवृत्तस्वरूप हैं। कर्म और शरीर से तो निवृत्त हैं परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प से भी हमारा तत्त्व अत्यन्त निवृत्त है - ऐसे परसंग में भी निवृत्तदृष्टि में सम्यग्दर्शन का सेवन करते थे। समझ में आया ?

प्रतिकूल संयोग हो, सातवें नरक का नारकी ! अब यह लो, अन्दर प्रतिकूलता का पार (नहीं) रवरव नरक ! तैंतीस सागर की स्थिति है, वहाँ सम्यग्दर्शन पाता है। ओ...हो... ! हम निवृत्त हैं। प्रतिकूल, प्रतिकूल हमको है ही नहीं। आहा...हा... ! चक्रवर्ती कहता है कि हमारे अनुकूलता है ही नहीं, प्रतिकूलता है ही नहीं। यह कहे कि हमारे प्रतिकूलता है नहीं। सातवाँ नरक ! खाने का एक दाना तैंतीस सागर में मिले नहीं, पानी की बूँद पीने को मिले नहीं। हमारा आत्मा निवृत्तस्वरूप है। पर या संयोग से निवृत्त है, शरीर से निवृत्त है; पुण्य-पाप के विकल्प से भी मेरा स्वरूप भिन्न निवृत्त ही है। मेरे निवृत्ततत्त्व में प्रवृत्ति का अभाव है — ऐसी दृष्टि सप्तम नरक में प्रगट होती है और उसका पोषण करते हैं। भाई ! किसे कहना प्रवृत्ति निवृत्ति ? परद्रव्य की संयोग की स्थिति का परिणाम थोड़े-बहुत है, वह उसकी पर्याय है। वह आत्मा में कहाँ घुस गयी है ?

यहाँ कहते हैं कि छहकाय के जीव और छहकाय का शरीर, वे सब तेरे से परद्रव्य हैं। छहकाय में फिर स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब सब आ गया या नहीं ? आ गया या नहीं ? उनका शरीर और उनका आत्मा, मेरे आत्मा से उनका - कुटुम्ब का शरीर और उनका आत्मा मुझसे भिन्न है। मेरा द्रव्य उससे भिन्न है, मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ - यहाँ ऐसा कहते हैं। देखो ! मेरा **आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।** दूसरे कोई मेरे लिए स्वद्रव्य नहीं।

अब, १८३ (गाथा)। विशेष कहेंगे।

गाथा - १८३

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति -

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो।।१८३।।

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य।
कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात्।।१८३।।

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति स एवाहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः। अतो जीवस्य परद्रव्य-प्रवृत्तिनिमित्तं स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव, सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभावः।।१८३।।

अथैतदेव भेदविज्ञानं प्रकारान्तरेण द्रढयति - जो णवि जाणदि एवं यः कर्ता नैव जानात्येवं पूर्वोक्तप्रकारेण। कम्। परं षड्जीवनिकादिपरद्रव्यं, अप्पाणं निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूपं निजात्मानम्। किं कृत्वा। सहावमासेज्ज शुद्धोपयोगलक्षणनिजशुद्धस्वभावमाश्रित्य। कीरदि अज्झवसाणं स पुरुषः करोत्यध्यवसानं परिणामम्। केन रूपेण। अहं ममेदं ति अहं ममेदमिति। मकाराहंकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्यं रागादिकमहमिति देहादिकं ममेतिरूपेण। कस्मात्। मोहादो मोहाधीनत्वादिति। ततः स्थितिमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वद्रव्ये रतिं परद्रव्ये निवृत्तिं करोतीति।।१८३।।

अब, यह निश्चित करते हैं कि जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त, स्व-पर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त, स्व-पर के विभाग का अज्ञान है :-

जो स्व-पर को नहीं जानता, यो प्राप्त कर निज भाव को।
वो मोही 'मैं ये, ये मेरा', यों करता अध्यवसान को॥

अन्वयार्थ - **[यः]** जो **[एवं]** इस प्रकार **[स्वभावम् आसाद्य]** स्वभाव को प्राप्त करके (जीव-पुद्गल के स्वभाव को निश्चित करके) **[परम् आत्मानं]** पर को और स्व को **[न एवं जानाति]** नहीं जानता, **[मोहात्]** वह मोह से '**[अहम्]** यह मैं हूँ, **[इदं मम]** यह मेरा है' **[इति]** इस प्रकार **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[कुरुते]** करता है।

टीका - जो आत्मा इस प्रकार जीव और पुद्गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं। इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त, स्व-पर के ज्ञान का अभावमात्र ही है और (कहे बिना भी) सामर्थ्य से (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त उसका अभाव[१] है।

भावार्थ - जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, वही परद्रव्य में अहंकार-ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं। इसलिए परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण, भेदविज्ञान का अभाव ही है, और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण, भेदविज्ञान ही है ॥१८३॥

प्रवचन नं. १८३ (H*) **कार्तिक शुक्ल २, सोमवार, १८ नवम्बर १९६३**

१८२ गाथा चली है। १८२ गाथा चली है न? इसमें भावार्थ नहीं है, भावार्थ तो है नहीं। क्या कहते हैं? देखो!

'प्रवचनसार' ज्ञेय अधिकार। छहकाय का जीव और छहकाय का जो शरीर (है), उस जीव से शरीर सदा भिन्न है। छहकाय अर्थात् पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि, वायु और हरितकाय और त्रस, उसका जीव भिन्न है (और) उसका शरीर भिन्न है। और इस आत्मा से तो उसका आत्मा और शरीर भिन्न है। स्वद्रव्य अपना आत्मा, परद्रव्य पर आत्मा और पर शरीर, सब अपने द्रव्य से परद्रव्य हैं। देखो!

यहाँ (यह कहा है कि) षट् जीवनिकाय आत्मा को परद्रव्य है,... १८२

१. उसका अभाव = स्व-पर के ज्ञान के अभाव का अभाव; स्व-पर के ज्ञान का सद्भाव।

(गाथा की) आखिर की पंक्ति है। छह जीवनिकाय, आत्मा को परद्रव्य है। है ? शरीर और आत्मा सब परद्रव्य हैं। **आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।** अपना आत्मा एक स्वद्रव्य है। तो पर एकेन्द्रिय आदि आत्मा और उसकी शरीर, वह मेरा है और उसका मैं कर सकता हूँ - ऐसी दृष्टि छोड़ देना। इसलिए बात है।

अपने आत्मा से पर आत्मा भिन्न है, अपने आत्मा से परशरीर भिन्न है। तो उसका मैं कुछ कर सकता हूँ, पर की दया पाल सकता हूँ, पर को मैं मार सकता हूँ, वह बात यथार्थ में होती नहीं। समझ में आया ? छहकाय परजीव हैं। ये शरीर उसका पर जीव है, तो उसका आत्मा क्या करे ? ज्ञेय अधिकार है। अपना ज्ञेय तो अपने में है, वह परज्ञेय है। परज्ञेय की आत्मा कुछ दया पाले, हिंसा करे, रखे, पोषण करे, रक्षा करे (ऐसा) कुछ हो सकता नहीं। बराबर है ?

प्रश्न - कर्म को तो निकालना पड़े न ?

समाधान - कर्म भी कहाँ ? कर्म परद्रव्य है। छहकाय की दया पालना, वह भाव तो राग है। पाल सकते नहीं। अपने आत्मा में राग और पुण्य के विकल्प से हटकर स्वभाव का अनुभव करके अन्दर में स्थिर होना, उसका नाम संयम है। छहकाय की दया पालनी, वह संयम है - ऐसा प्रश्न करते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि छहकाय तो पर है। उसका आत्मा पर है, शरीर पर है। तो क्या तुम परद्रव्य का-छह द्रव्य का कुछ कर सकते हो ? स्वद्रव्य, परद्रव्य का कुछ कर सकते हैं तो तुम उसकी दया पालना। (दया का) भाव आवे, उसको दुःख नहीं देने का भाव, राग है, वह पुण्य है। राग और पर आत्मा और परशरीर से मैं भिन्न हूँ, ज्ञानमय हूँ, ज्ञानानन्द हूँ — ऐसी दृष्टि करके उसमें लीनता का होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन सहित संयम है। संयम उसे कहते हैं।

अपना **आत्मा एक ही स्वद्रव्य है।** इसके अलावा सब परद्रव्य है। अपना उसके साथ कोई सम्बन्ध है नहीं। कहो, समझ में आया ?

अब, यह निश्चित करते हैं कि - जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण निमित्त.... स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण **स्व-पर के विभाग का ज्ञान है,....** देखो ! मैं

आत्मा और दूसरा आत्मा भिन्न है। मैं पर में क्या कर सकता हूँ? और वह पर मेरे में क्या कर सकते हैं? ऐसे जीव को स्वद्रव्य में प्रवृत्ति (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण **स्व-पर के विभाग का ज्ञान है,...** मैं आत्मा ज्ञायक चैतन्य हूँ, वह पर आत्मा उसका ज्ञायक चेतन है, उसका शरीर जड़ है। उसका और अपना भेद - विभाग, स्व-पर का विभाग करना, ऐसा जो ज्ञान - भेदज्ञान, स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है। कहो, समझ में आया? **स्व-पर के विभाग का ज्ञान है,....** वह स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है। क्या कहा?

अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रवृत्ति करना, उसका कारण स्व और पर का भेदज्ञान है। मैं आत्मा अपने में हूँ, दूसरा आत्मा उसमें है। उसका शरीर शरीर में है। मेरा उस पर के साथ कोई सम्बन्ध है नहीं — ऐसा स्व-पर का विभाग, स्व-पर का भेद, स्व-पर का भेदज्ञान, वही अपने स्वभाव में प्रवृत्ति करने का - धर्म करने का वही कारण है। कहो, समझ में आया?

परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त, स्व-पर के विभाग का अज्ञान है:- लो। परपदार्थ, पर आत्मा, पर देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, जड़, चैतन्य सब पर (हैं), उसमें प्रवृत्ति का कारण, मैं प्रवृत्ति करूँ, उसमें मैं जुडूँ, उसमें मैं ऐसा करूँ, उसका कारण स्व-पर के विभाग का अज्ञान (है)। अपना और पर का अज्ञान है, वह पर में प्रवृत्ति का कारण होता है। कहो, समझ में आया? वह १८३ (गाथा में) कहते हैं, देखो!

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो।।१८३।।

उसकी टीका। **जो आत्मा इस प्रकार जीव और पुद्‌गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा....** लो, मेरा तो चैतन्यस्वभाव जानना-देखना है। दूसरे आत्मा का (स्वभाव) भी चैतन्य - जानना-देखना (है)। शरीर, कर्म आदि सब अजीव हैं। शरीर अजीव है। ऐसा चेतनत्व और अचेतनत्व स्वरूप **स्वभाव के द्वारा स्व-पर के विभाग को नहीं देखता,...** लो! अपनी और पर की भिन्नता नहीं देखता; दोनों की एकता देखता है, दोनों की जुदाई देखता नहीं। कहो, समझ में

आया ? **वही आत्मा यह मैं हूँ..** मैं स्व और पर, ऐसा विभाग – विवेक नहीं है और मैं राग हूँ, मेरा शरीर है, यह मैं हूँ, यह राग मैं हूँ, राग मेरा है, शरीर मैं हूँ, शरीर मेरा है — ऐसा स्व-पर के भेदज्ञान का अभाव, परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण होता है। कहो, समझ में आया ?

स्व-पर के विभाग को नहीं देखता... मेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप जानना-देखना है। पर का आत्मा और पर का शरीर आदि अचेतन है – ऐसा नहीं देखता है। **वही आत्मा 'यह मैं हूँ'** वह आत्मा और वह शरीर मैं हूँ और **'यह मेरा है' 'यह मैं हूँ, यह मेरा है।'**

मुमुक्षु – समझ में नहीं आया कुछ।

पूज्य गुरुदेवश्री – समझ में नहीं आया ?

'यह मैं हूँ' यह शरीर है सो मैं हूँ, शरीर मैं हूँ और यह शरीर मेरा है — ऐसा माननेवाला (जीव है, उसे) भेदज्ञान का अभाव (होने से) मिथ्यात्व का सेवन करके परप्रवृत्ति करता है। भाई! यह डाली है किसने ? स्वयं मिथ्या भ्रमणा डाली है। जिसमें डाली है, वह निकालो।

मुमुक्षु – मदद करे....

पूज्य गुरुदेवश्री – मदद कौन करे ? बात करते हैं न ? चैतन्य भिन्न है, शरीर भिन्न है – ऐसे विभाग माने बिना, अपने को और पर को एक माननेवाला **वह मैं हूँ।** यह (अर्थात्) शरीर और **यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरा है।** शरीर (मैं) हूँ (और) शरीर मेरा है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं करनेवाला ऐसी मान्यता करके दुःखी होता है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – प्रत्यक्ष दिखता है...

पूज्य गुरुदेवश्री – यह देखता है या नहीं ऐसा ? शरीर को जरा ऐसा हुआ तो ऐसा-ऐसा हो गया। भाई! यह तो अनुकूलता हो, उसे पता पड़े। प्रतिकूलतावाले को क्या ?

प्रश्न – अनुकूलतावाले को या प्रतिकूलता को ?

समाधान – हाँ, ऐसा। अनुकूलतावाले को प्रतिकूलता का क्या पता पड़े ? (परन्तु)

किसकी प्रतिकूलता लाये ? परवस्तु में प्रतिकूलता है, वह मेरे में है और वही मैं हूँ – ऐसी मान्यता मिथ्यात्व और भ्रम का कारण है, बाकी कोई कारण नहीं, भाई ! कोई कहो, तुम्हारे भाई में तुम कुछ मदद तो करो !

यहाँ तो कहते हैं कि चेतन और अचेतन स्वभाव के द्वारा **स्व-पर के विभाग को नहीं देखता,...** स्व-पर का विभाग – भेद नहीं देखनेवाला, पर मेरा है, **यह मैं हूँ, यह मेरा है** — ऐसा मिथ्यादृष्टि स्व-पर का भेद नहीं जाननेवाला मानता है। माननेवाला कौन ? आत्मा। इस शरीर को ठीक हो तो मुझे ठीक पड़े; शरीर अठीक हो तो मुझे अठीक पड़े — तो शरीर मेरा है, ऐसा माना। वह मेरा है और मैं उसका हूँ। समझ में आया ?

स्व-पर के विभाग को नहीं देखता.... यहाँ भेदज्ञान लिया। दोपहर को भेदज्ञान (का विषय) चला न ? संवर ! भेद... भेद... भेद... पर आत्मा मेरे से भिन्न है, परशरीर मेरे से भिन्न है, कर्म मेरे से भिन्न है, वाणी मेरे से भिन्न है, लक्ष्मी, स्त्री-कुटुम्ब तो (एक ओर रह गये)। मेरी चीज जानन-देखन, आनन्द मेरे पास (है)। वह चीज मेरी नहीं और वह चीज मेरे में नहीं (है)। ऐसा भान नहीं, वह अज्ञानी – **वही आत्मा यह मैं हूँ, यह मेरा है, इस प्रकार मोह से....** देखो ! मिथ्या भ्रमणा ! दुनिया में भी नहीं कहते – जितना मोह उतना दुःख – ऐसा नहीं कहते ? अपने काठियावाड़ में कहते हैं। तुम्हारे में भी होगा या नहीं ? जितना मोह, उतना दुःख। जितने प्रतिकूल संयोग उतना दुःख – ऐसा नहीं कहते हैं। भाई ! मोह उतना दुःख, बस ! आदमी कहते हैं कि जितना मोह, उतना दुःख है। यह मेरा और (यह) मैं हूँ, इतना दुःख है।

नदी का पानी चला जाता हो, उसमें डूबे तो पानी का भार नहीं लगता। (क्योंकि) मेरा नहीं माना। एक बूढ़ी दस शेर पानी लेकर बाहर निकली और (मटकी) फूटे (तो) अरे... ! (ऐसा हो जाये)। नदी के पानी में बहुत प्रवाह चला जाता हो, कोई बिगाड़े, कुछ भी करे, बाहर निकल जाये (तो भी) मेरा नहीं माना (तो उसका) नुकसान नहीं, (उसका) दुःख नहीं लगता। नदी में से पानी का एक कलश (-लोटा) भरकर बाहर निकले और हाथ में से गिर जाये (तो) अरे... ! (हो जाये)। भाई ! वैसे ही यह जगत का प्रवाह चला जा रहा है। अनन्त आत्मा और अनन्त द्रव्य, उसके कारण चले जाते हैं।

आपके कारण वहाँ आया नहीं। यह शरीर आपके कारण यहाँ नहीं। कहो! वह उसके कारण से प्रवाह (में) आया, उसमें बीच में जाकर (मान लेता है कि), यह मेरा! मैं उसका! नदी के प्रवाह का यह दृष्टान्त दिया या नहीं? पानी चला जाये, पानी चला जाये (तो भी) कुछ नहीं। देखा करे। फिर उसमें से थोड़ा-सा लेकर बाहर निकला (और) थोड़ा पड़ा तो ऐ...ई...! बर्तन फूटा न हो, पानी ढुल जाये (तो ऐसा होता है कि) फिर वापस लेने जाना पड़ेगा। वैसे यह मेरे, शरीर मेरा, और मैं (उसका) - ऐसी मान्यता तुझे दुःखदायक है। मिथ्यादृष्टि की मान्यता ही दुःखदायक है। कोई चीज, कोई संयोग दुःखदायक है नहीं और कोई चीज, कोई संयोग सुखदायक भी है नहीं। कहो, भाई! क्या होगा?

अरे...! थोड़ी अनुकूलता होवे (तो) सुख से भगवान को भजें, तुलसीदास कहते हैं न? 'दुःख ने माथे शिला पड़ी, हरि' 'सुख ने माथे शिला पड़े, हरि हृदय से जाये, बलिहारी दुःख की, पल पल राम समराय...' 'सुख ने माथे शिला पड़े' मेरी सुविधा में जहाँ व्यवधान ज्ञात होता है (वहाँ) कारण तो राग का है, पर के कारण नहीं 'हरि हृदय से जाये' आत्मा याद आवे नहीं, परमात्मा याद आवे नहीं। 'बलिहारी दुःख की...' जहाँ दुःख आवे तब फिर भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... (करता है)। यह भी उस असुविधा को टालने के लिये।

यहाँ तो यह नहीं - सुविधा और असुविधा सब परद्रव्य है। मेरी चीज को सुविधा-असुविधा स्पर्शती नहीं - छूती नहीं। मैं पर को छूता नहीं, वह मुझे छूते नहीं - ऐसे भेदज्ञान के बिना मोही प्राणी-मिथ्यादृष्टि (दुःखी होता है) भाई! सत्य होगा या नहीं यह? यह पैसेवाले भी दुःखी और निर्धन भी दुःखी... मोही दुःखी है।

पर को मेरा मानना और मैं पर का हूँ — ऐसी मान्यता - मिथ्यात्व महादुःख का बीज है। दुःख का बीज यह है, कोई दूसरी चीज दुःख का बीज है नहीं। देखो! **इस प्रकार मोह से....** ऐसा कहते हैं। मिथ्यादृष्टि अपने मिथ्याभाव से **परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है,...** क्या? है पुस्तक? परद्रव्य में अपनेपन का (अर्थात्) यह मेरा है, मेरा है, मेरा है, मेरा है - ऐसा अध्यवसान अर्थात् एकत्वबुद्धि करता है। कहो, समझ

में आया ? **परद्रव्य में अपनेपन का अध्यवसान करता है, दूसरा नहीं।** कोई दूसरा अर्थात् दूसरा प्राणी - भेदज्ञानी ऐसा करते नहीं। अज्ञानी प्राणी ऐसा मानते हैं।

इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त... निमित्त अर्थात् कारण। **परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त, स्व-पर के ज्ञान का अभावमात्र ही है...** लो! परद्रव्य में मेरा और तेरा.... ओ...हो...हो... ! अनन्त काल से मिथ्याभाव में अनुकूल हुआ, दूसरे को अनुकूल हुआ, ऐसी मान्यता भी मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? और मुझे प्रतिकूल है, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है।

किसे कहना अनुकूल ? किसे कहना प्रतिकूल ? (सब) परद्रव्य है। बहुत हो या थोड़ा हो। गंज अर्थात् ? बहुत हो। या थोड़ा हो। मेरा शरीर है (वह) अच्छा चलेगा। रोग रहता है (वह) ठीक नहीं। वह तो परद्रव्य है। उसकी पर्याय में (रोग) होता है, तुझे क्या ? मुझे हुआ; मैं उसका, वह मेरा - ऐसा मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व भाव से परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण स्व-पर का भेदज्ञान का अभाव (होने से करता है)।

अरे... ! दु:खी के सरदार हैं सब, दु:खी, दु:खी ! दु:ख, संयोग के कारण नहीं। अपनापन दूसरे में मानना और दूसरा मेरा है — ऐसा मानना, इस मिथ्यात्व के कारण स्व-पर का भेदज्ञान नहीं, इस कारण से दु:खी है। पैसेवाले को सुखी कहते हैं तो पैसे के कारण सुखी है ? आकुलता है। मुझे क्या तकलीफ है ? लड़के करते हैं, ऐसा पैदा हुआ, ऐसे बीस लाख हुए, पच्चीस लाख हुए.... क्या आत्मा के साथ एक पाई भी है ?

कहते हैं कि जीव को परद्रव्य की प्रवृत्ति का निमित्त **स्व-पर के ज्ञान का अभावमात्र ही है....** देखो, यहाँ तो स्व-पर के ज्ञान का अभाव (है), वही मोह परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण (कहा)। दूसरा कोई कारण नहीं। कुछ समझ में आया ? कहो, भाई ! ठीक होगा यह ? अन्दर कल्पना हो, लो ! इसे अभी हो, तुम्हारे उस दिन थी। पता है या नहीं ? दोनों एक प्रकार के हैं। अब, छोड़ो न दुनिया की ! इस भाई को चार लड़के हैं, और इसे तीन, यह और यह दोनों समान... अब कोई धूल में भी नहीं। मरकर चला जाना है क्षण में ! किसके साथ मेरा और तेरा ? यह सब भी दु:खी के सरदार हैं। तुमने देखा नहीं सब ? अभी तो सब अनुभव है या नहीं ? उसमें कुछ (नहीं), धूल में धूल है। समझ में आया ?

इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीव को परद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के ज्ञान का अभावमात्र ही है.... भेदज्ञान का अभाव मात्र ही परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है। **अभावमात्र ही है....** बराबर है ? दूसरे को ऐसा लगता है कि अरे! इसके लड़के करोड़पति हो गये और हम लखपति रह गये... अरे... ! क्या ? होली सुलगाना है या नहीं ? मिथ्यात्व की मान्यता और मिथ्या मोह के कारण (जीव दुःखी होता है) मैं मेरे में और वह उसमें, सब द्रव्य अपने द्रव्य में है, कोई कोई के कारण से है नहीं। ऐसा ज्ञान का अभावमात्र ही है।

और (कहे बिना भी) सामर्थ्य से (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त उसका अभाव है। क्या कहते हैं ? कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण उसका अभाव अर्थात् भेदज्ञान के अभाव का अभाव। स्व-पर के ज्ञान के अभाव का अभाव (अर्थात्) स्व-पर के ज्ञान का सद्भाव अर्थात् स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण उसका अभाव (है)। उसका अर्थ दो को एक मानना, उसका अभाव। स्व-पर को एक मानना, उसका अभाव। वह स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण (है)। समझ में आया ?

स्वद्रव्य मैं आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति अपनी प्रवृत्ति में कारण, वह मेरा और मैं (वह) हूँ, उसका अभाव। मैं मेरा और वह उसका, ऐसा भेदज्ञान, यह भेदज्ञान स्वद्रव्य में प्रवृत्ति निमित्त अर्थात् कारण कहने में आता है। कहो, बराबर है ? समझ में आता है न ? लो, यह परद्रव्य प्रवृत्ति और स्वद्रव्य प्रवृत्ति। कल (कोई) कहता था कि दर्शन स्व-उपयोग और ज्ञान पर उपयोग, इसकी अपेक्षा यह स्वद्रव्य-परद्रव्य प्रवृत्ति (की बात) ठीक थी। भाई! यह तो सब आता है। जानने की बात तो अनेक प्रकार से आती है। समझ में आया ? शास्त्र के पेट बड़े गम्भीर, गहरे हैं ! उसे अन्दर यथार्थरूप से विचार, मनन करना (तो) समझ में आ जाय। समझ में न आये ऐसी चीज है नहीं।

कहते हैं कि **और (कहे बिना भी) सामर्थ्य से (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का निमित्त उसका अभाव है।** उसका अभाव का अर्थ क्या हुआ ? स्वद्रव्य (में) प्रवृत्ति का कारण उसका अभाव है। पहली बात कही न कि, परद्रव्य के भेदज्ञान का अभाव, वह परद्रव्य (में) प्रवृत्ति का कारण (है)। उसमें से ऐसा निकला कि सामर्थ्य अर्थात् उसमें से ऐसा न्याय निकला कि स्व और परद्रव्य का एकपने का कारण

जो मोह है, वह भेदज्ञान के अभाव के कारण से होता है। तो उससे दूसरा बोल निकला कि उसका अभाव (है), वह स्वद्रव्य प्रवृत्ति में कारण (है)। क्या कहा?

स्व और परद्रव्य में एकपना की बुद्धि कारण है और वही मोह परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है। एक बोल निश्चित हुआ तो दूसरा उसमें से निकलता है कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण कौन? जब परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण दो का अज्ञान (है), भेदज्ञान का अभाव (है) तो अपने प्रवृत्ति में कारण कौन? कि जो भेदज्ञान का अभाव था, उसका अभाव अर्थात् भेदज्ञान का सद्भाव (वह स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है)। समझ में आया?

यह गाथा बहुत सरस है! यह सब झगड़ा व्यर्थ का लगा बैठा, मूढ़! ए... यह मेरा शरीर, यह हमारा मन्दिर, हमारा यह... इसमें जरा फेरफार होवे तो... कोई दूसरी जगह पत्थर पड़े हों तो कुछ नहीं। यह जहाँ कुछ रचे, उसमें कुछ खराबी (होवे तो) अरे... हो जाये। जिथरी का पत्थर हो, जिथरी का! पत्थर होता है न? जिथरी का पत्थर! वह पत्थर यहाँ रचना में आवे और उसमें से जरा सा कौना गिरे, कौना... (तो अरे... हो जाता है)। (पत्थर तो) जैसा वहाँ था वैसा यहाँ है। उसमें क्या अन्तर पड़ा? बस! स्वामित्व माना कि, आ...हा...! वहाँ पत्थर पर लोग मल विसर्जन करते थे! जिथरी की खान में! बड़ी खान है। हम गये थे, उस ओर खान है, बहुत आगे है। सब देखा है न! यहाँ तो २९ वर्ष हुए। वह पत्थर निकालकर अपने घर में आये पगथिया में... पगथिया (को) क्या कहते हैं? सीढ़ी! उसमें जरा टूटे और उसमें कोई लोहे का घन मारे (तो कहता है) अरे... क्या करते हो? मेरा माना है न? बस! यह ममता का कारण है। स्व और पर की भिन्नता का अभाव, वही मोह का कारण परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण है। कहो, बराबर है?

स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण, जैसे परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण स्व और पर की एकताबुद्धि अथवा स्व-पर का भेदज्ञान का अभाव (है)। उसमें से ऐसा निकालना कि स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदज्ञान (अर्थात्) स्व-पर की भिन्नता (है)। स्व-पर की भिन्नता का ज्ञान, स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण (है)। बराबर है या नहीं?

भावार्थ - जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है.... (अर्थात्) मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ, पर आत्मा भी ज्ञानस्वरूप उसका है और शरीर, रजकण, जड़कर्म जड़रूप है — ऐसा

भेदविज्ञान नहीं है, **वही परद्रव्य में अहंकार....** अहंकार अर्थात् मैं हूँ (ऐसाी मान्यता करता है)। **ममकार...** अर्थात् मेरा। (दूसरी जगह) जयसेनाचार्यदेव ने अहंकार अर्थात् ऐसा कहा है कि राग मेरा और शरीर मेरा। कहो, समझ में आया ?

एक दुकान हो, दुकान! जैसे दुकान में एक लाख रुपये का माल हो, उसे अपना माना हो तो उसमें नुकसान हो तो मानता है कि अरे...रे! नुकसान हो गया। परन्तु वही माल दे दिया, जाओ! पैसा लाओ, पैसा ले लिया। उसे कोई खराब करे तो ? कोई बिगाड़े तो दु:ख होता नहीं। वह तो उसका माल है, हमें क्या ? पैसा घर में आ गया, वह पैसा कोई ले जाये तो दु:ख होता है। वह चीज ले जाये तो दु:ख नहीं होता।

मेरा... मेरा... मानना, एक रजकण भी तेरा नहीं। परमाणु, एक परमाणु (भी तेरा नहीं)। 'हूँ एक शुद्ध सदा अरूपी' आता है न ? एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं। देव-गुरु-शास्त्र भी मेरे नहीं। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार भी मेरा नहीं, सम्मेदशिखर और शत्रुंजय मेरा नहीं, मन्दिर और भगवान की प्रतिमा मेरी नहीं, भगवान मेरे नहीं, भगवान की प्रतिमा मेरी नहीं। ओ...हो...हो...! वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य मेरा और मैं उसका, उन दोनों का भेदज्ञान का अभाव बताते हैं। उसे भेदज्ञान है नहीं अर्थात् सम्यग्ज्ञान है नहीं।

मुमुक्षु - आश्वासन देने जैसा

पूज्य गुरुदेवश्री - आश्वासन देने जैसे कुछ रहा नहीं - ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! दो लड़के ठीक हों, चार हों, पैसा हो, इज्जत हो तो आश्वासन (रहे), यह तो तुमने आश्वासन उड़ा दिया। अरे! आश्वासन अपने में है या पर में है ? मैं ज्ञाता-दृष्टा शान्ति का भण्डार हूँ। मेरे पास अतीन्द्रिय आनन्द की सम्पदा का समुद्र भरा है। मेरे में सब है, मुझे पर की जरूरत है नहीं। कहो, पर कौन दे देता है ? भाई! पहले यहाँ कुछ (धन्धा) करता था। फिर बड़ा - युवक हो तो कुछ करने का मन होता है न ? गाँव में भी कितने ही कमाकर पैसेवाले होते हैं। वह तो पुण्य हो तो (होवे) पुण्य न हो तो बाहर जाये तो भी कुछ मिले नहीं। वह तो परचीज स्वतन्त्र है। आना-जाना वह अपने अधिकार की बात है नहीं।

वही परद्रव्य में अहंकार-ममकार करता है, भेदविज्ञानी नहीं। भगवान मेरे नहीं, त्रिलोकनाथ परमेश्वर मेरे नहीं और मैं उनका नहीं। अरे...! गज़ब भाई! गुरु-शिष्य

तो होगा या नहीं ? भाई ! वह तो विकल्प आता है तो व्यवहार से ऐसा बोलने में आता है। परमार्थ में भगवान, भगवान का है और आत्मा, आत्मा का है। समझ में आया ?

इसलिये परद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव ही है,.... लो ! मोह करते हैं, राग-द्वेष करते हैं, परद्रव्य से भिन्न नहीं मानने से होता है। **और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान ही है।**

(इसके बाद के प्रवचन का अंश प्रवचनसुधा, भाग-8 में आयेगा)